

गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

तत्र

राजर्षिविद्यायाम्

बुद्धियोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्
द्वितीयोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिकः



राजस्थान पत्रिका प्रकाशन
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।



गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

तत्र

राजर्षिविद्यायाम्

बुद्धियोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्
द्वितीयोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः





प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग.
जयपुर ।



ग्रन्थ–प्राप्ति :
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८





मुद्रक :
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदनजी महाराज (श्रीगुरुचरणाः)

प्रकाशकीय

राजर्षिविद्या के प्रकाशनक्रम में स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री जी द्वारा निबद्ध **'राजर्षिविद्या के बुद्धियोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत् (द्वितीयोपनिषत्)'** का प्रकाशन करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता हो रही है । सप्त-उपदेशात्मक यह ग्रन्थ मूलतः वैराग्यबुद्धियोग का प्रतिपादन करता है ।

इस ग्रन्थ में फलत्यागलक्षण बुद्धियोग को जहाँ श्रेष्ठ बतलाया गया है, वहीं वैदिक कर्म्मों का अनुष्ठान फल-कामासक्ति छोड़कर करने पर जोर दिया गया है । इसके लिए प्रज्ञा को स्थिर करने की आवश्यकता पर जोर देते हुए स्थितप्रज्ञता के ६ स्वरूपों का विवेचन किया गया है । इसी तरह बुद्धियोग विरोधी–'संग, काम, क्रोध, संमोह' आदि दोषों का विस्तार से विवेचन करते हुए किस प्रकार ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त किया जाता है, को समझाया गया है ।

स्व० शास्त्रीजी के ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य्य से जुड़े प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मूलपाण्डुलिपि के पाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूल संस्कृत-अंशों के प्रमाणिक पाठ-निर्धारण में बहुमूल्य योगदान किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं ।

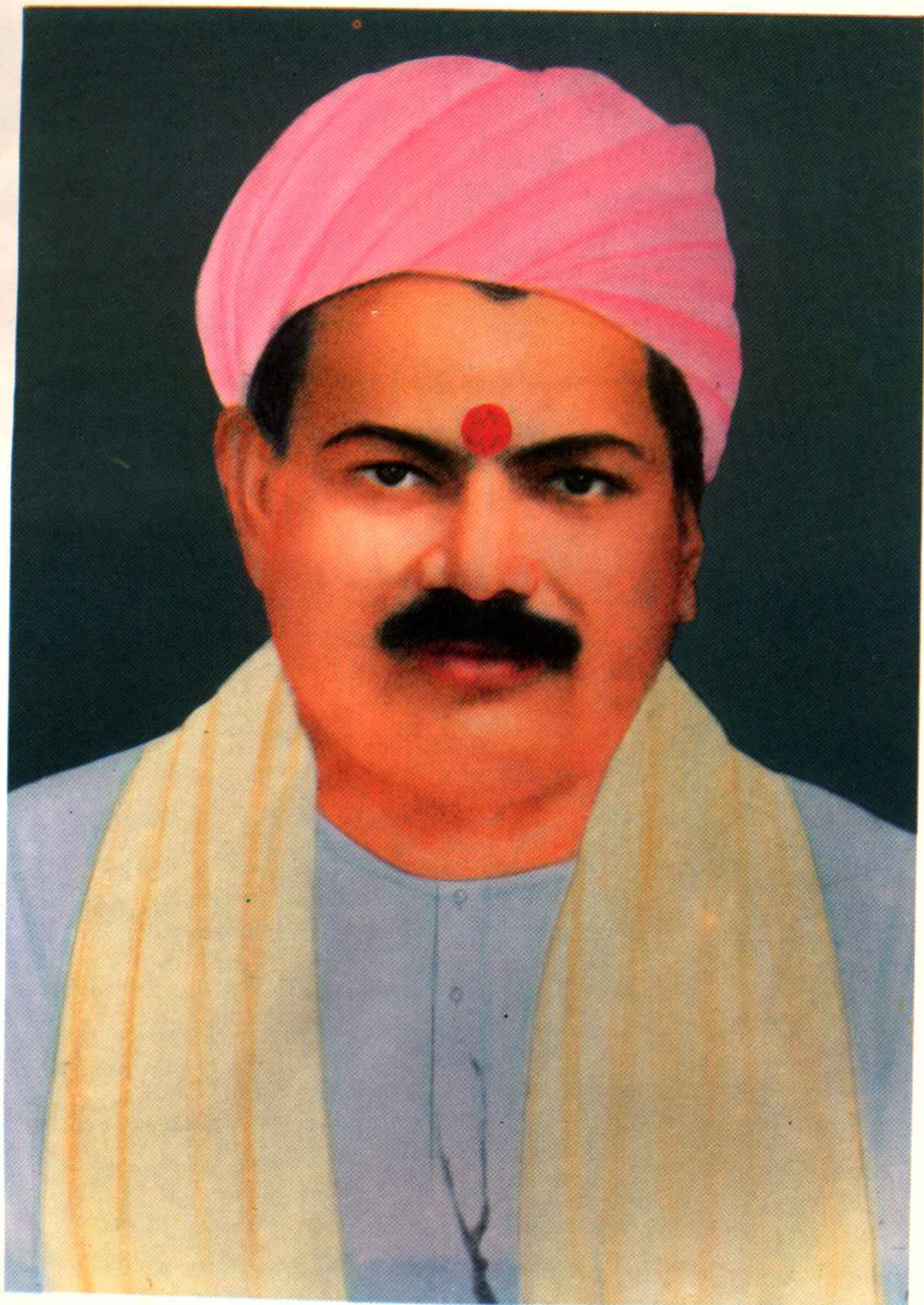
स्व० शास्त्रीजी के सुपौत्र चि० प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा ने ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों पर पाद-टिप्पणियाँ देकर, ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों के स्रोतों का सन्धान कर, सन्दर्भों को अंकित किया है, उनका परिश्रम श्लाघनीय है ।

श्री हीरालाल गहलोत ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन एवं सन्दर्भ शोधन में सहायता प्रदान के लिए धन्यवाद के पात्र हैं ।

गीताप्रेमी पाठक इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे, इसी विश्वास के साथ

—कर्पूरचन्द 'कुलिश'

मकरसंक्रान्ति
वि० सं० २०४८



वेदवाचस्पति पं. मोतीलालजी शास्त्री

1908–1960



राजर्षिविद्या-द्वितीयोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

विषय-सूची

ग्रन्थस्थ सप्तोपदेशान्तर्गतगीताश्लोक-विभाग

प्रथमोपदेशः — कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की अपेक्षा फलत्यागलक्षण बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए । [गीता २।३९ से २।४१ तक]

द्वितीयोपदेशः — फल-कामासक्तिप्रधान उत्तम वैदिक-कर्म्म भी बन्धन के ही कारण हैं । अतः इनका अनुष्ठान फल-कामासक्ति छोड़कर ही करना चाहिए ।
[गीता २।४२ से २।४६ तक]

तृतीयोपदेशः — फलकामासक्ति छोड़कर किया हुआ आधिकारिक कर्म्म बुद्धियोग का उपोद्बलक बनता हुआ ग्राह्य है । [गीता २।४७ से २।५१ तक]

चतुर्थोपदेशः — बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनी प्रज्ञा को स्थिर करना आवश्यक है ।
[गीता २।५२ से २।५३ तक]

पञ्चमोपदेशः — वैराग्यबुद्धियोगसम्बन्धिनी स्थितप्रज्ञता के ६ स्वरूप हैं ।
[गीता २।५४ से २।६१ तक]

षष्ठोपदेशः — संग, काम, क्रोध, संमोह, स्मृतिभ्रंश ये सब बुद्धियोग के विरोधी धर्म्म हैं ।
[गीता २।६२ से २।६३ तक]

सप्तमोपदेशः — रागद्वेषजनितवासना जब बुद्धियोग के प्रभाव से नष्ट हो जाती है तो उस समय वह योगी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है ।
[गीता २।६४ से २।७२ तक]



ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भग्रन्थ-सूची

१–गीताविज्ञानभाष्य-मूलकाण्डम् (द्वितीय शीर्षककाण्ड)	[विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनओझा प्रणीत इलाहाबाद से मुद्रित संस्करण वि० सं० १९९५]	
२–ऋग्वेद संहिता	[वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित संस्करण सं० १९५७ वि०]	
३–यजुर्वेद संहिता	[निर्णयसागर मुद्रण यन्त्रालय में मुद्रित संस्करण, सन् १९२९]	
४–सामवेद संहिता	[वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से मुद्रित संस्करण वि० सं० २०५७]	
५–अथर्ववेद संहिता	"	"
६–शतपथ ब्राह्मण (सम्पूर्ण)	"	"
७–ऐतरेय ब्राह्मण	[श्री सायणाचार्य्य-भाष्य समेत–आनन्दाश्रम मुद्रणालय में मुद्रित, संस्करण सन् १८९६ ई०]	
८–ईशोपनिषत्	['उपनिषत्-संग्रह' प्रकाशक–मोतीलाल-बनारसीदास संस्करण–सन् १९७० ई०]	
९–केनोपनिषत्	"	"
१०–कठोपनिषत्	"	"
११–प्रश्नोपनिषत्	"	"
१२–मुण्डकोपनिषत्	"	"
१३–छान्दोग्योपनिषत्	"	"
१४–बृहदारण्यकोपनिषत्	"	"
१५–श्वेताश्वतरोपनिषत्	"	"
१६–मैत्रायण्युपनिषत्	"	"

१७ कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्	[उपनिषत्-संग्रह प्रकाशक–मोतीलाल-बनारसीदास संस्करण सन् १९७० ई०]
१८–ध्यानबिन्दूपनिषत्	,, ,,
१९–योगशिखोपनिषत्	,, ,,
२०–मुक्तिकोपनिषत्	,, ,,
२१–ऐतरेय आरण्यक	[आनन्दाश्रम में मुद्रित संस्करण सन् १८९८]
२२–महाभारत	[गणपत-कृष्णाजी संस्करण शाके, १७८५ ई०.]
२३–श्रीमद्भागवत पुराण	[मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, सन् १९८३]
२४–श्रीमद्भगवद्गीता	[गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा मुद्रित संस्करण]
२५–मनुस्मृति	[मणिलाल इच्छाराम देशाई, गुजराती मुद्रणालय द्वारा मुद्रित संस्करण सन् १९१३ ई०]
२६–पातञ्जलयोगसूत्र	[निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित संस्करण, सन् १९१७]
२७–हितोपदेश	[व्रजवल्लभ हरिप्रसाद, मुंबई से मुद्रित संस्करण वि० सं० १९७२]
२८–कुमार संभव	[निर्णयसागर मुद्रणालय में मुद्रित संस्करण सन् १९५५]



अथ

प्रथमा राजर्षिविद्या

अस्याः

द्वितीया बुद्धियोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत्
(सप्तोपदेशी) प्रारभ्यते

प्राक्कथन

लोकसंग्राहक भगवान् ने सांख्यनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध सर्वकर्म्म-कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण चिरकाल से प्रचलित ज्ञान-योग में संशोधन करते हुए पूर्व की उपनिषत् से अर्जुन के सामने आत्मा का स्वरूप रखते हुए यह बतलाया कि हे अर्जुन ! यदि तू अपने आप को ज्ञान-योगी समझता है तो तेरा अनुशोक करना सर्वथा व्यर्थ है । क्यों कि तत्त्ववेत्ता-ज्ञानी की दृष्टि में एक ही आत्मा (द्वन्द्वातीत अव्ययलक्षण परमात्मा) विभूति-सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । ऐसा व्यापक आत्मा अजर-अमर है, निष्क्रिय है । न उसमें मारने की वृत्ति है, न मरने की वृत्ति है । अर्थात् न वह हन्ता है; न हत है । ऐसी दशा में जन्म-मृत्युद्वन्द्वलक्षण जिस परिच्छिन्न भूतात्मा को उपनिषत् मानते हुए तैने अनुशोक प्रगट किया है, वह सर्वथा व्यर्थ है । यदि तेरी दृष्टि भूतात्मा पर ही है, सांख्यनिष्ठासिद्ध प्रतिशरीरभिन्न चैतन्य पर ही तेरी दृष्टि है, तब भी तेरा शोक व्यर्थ है । क्यों कि जन्म-मृत्यु द्वन्द्व-प्रवाह नित्य है । न तू उसका कारयिता है, न कर्त्ता है । इसलिए ज्ञान-योगनिष्ठा में प्रवृत्त रहते हुए भी तू आत्मनित्यता की भावना करता हुआ स्वधर्म्म में प्रवृत्त हो । यही सच्ची ज्ञान-निष्ठा है ।

इस प्रकार भगवान् ने आरम्भ में ही सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा का मूलोच्छेद करते हुए अर्जुन को कर्म्म-प्रवृत्ति का उपदेश देते हुए यह व्यक्त किया कि "ज्ञाननिष्ठा में कर्म्म का परित्याग मान बैठना भ्रान्ति है ।" इसी अर्थ का भगवान् दूसरी सिद्धविद्या में यद्यपि विस्तार से स्पष्टीकरण करने वाले हैं तथापि भगवान् कर्म्म-परित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा के अन्यतम शत्रु हैं, इसलिए आरम्भ में भी उन्होंने उसका मूलोच्छेद करना आवश्यक समझा है । इस प्रकार प्रधान-शत्रु का उच्छेद करते हुए भगवान् अब स्वमत का स्पष्टीकरण करने के लिए आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं । पाठकों को स्मरण होगा कि राजर्षिविद्या में आठ उपनिषदें हैं । इन आठों में पूर्व प्रतिपादित प्रथमोपनिषत् का तो परमत (सांख्यमत) से सम्बन्ध है, एवं शेष सात उपनिषदें वैराग्यबुद्धियोगलक्षण राजर्षिविद्या का ही निरूपण करती हैं, जैसा कि तत्तदुपनिषदों से स्पष्ट हो जाएगा । इन सातों में क्रमप्राप्त प्रथम एवं आठ में क्रमप्राप्त द्वितीय उपनिषत् का ही स्वरूप पाठकोंके सम्मुख उपस्थित किया जाता है । इस उपनिषत् का स्पष्टीकरण करने वाले सात उपदेश हैं । उन्हीं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है ।

मोतीलालशर्मा

अथ-राजर्षिविद्यायाम्

२-बुद्धियोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषद्-द्वितीया

तत्र-द्वितीयायामस्यामुपनिषदि-

कर्म्मफलासक्तिपरित्यागोपक्रमः

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।(गीता २।३८)

[मूलानुवाद] सुख-दुःख, प्राप्ति-अप्राप्ति, जय-पराजय, इन (सब द्वन्द्व भावों में) समान भाव रखता हुआ तू-युद्ध में प्रवृत्त हो जा। ऐसा करने से तू पाप का भागी न बनेगा।

[**भाष्य**] "यदि तू इस धर्म्मयुद्ध में मारा गया तो स्वर्ग मिलेगा, यदि जीत गया तो राज्य-सुख का उपभोग करेगा। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में तेरा अभ्युदय है। इसलिए हे कौन्तेय ! युद्ध करने का निश्चय कर शोक छोडकर खड़ा हो जा"–इस प्रकार भगवान् ने भूतात्मवादी अर्जुन के सामने युद्ध के निश्चित दोनों परिणामों (स्वर्गसुख एवं राज्यसुख) को रखते हुए युद्ध-प्रवृत्ति के लिए अर्जुन को उत्साहित किया। कहना न होगा कि इन दोनों ही परिणामों से अर्जुन दूर भागता था। ज्ञानयोगी अर्जुन स्वर्गसुख को भी अनित्य समझता था, साथ ही में "भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदग्धान्" इत्यादि रूप से बन्धुवर्ग को मारने से प्राप्त होने वाले राज्यसुखों को भी वह घृणा की दृष्टि से देखता था। अर्जुन के लिए बडा ही संकट उपस्थित था। भगवान् ने यद्यपि आत्मव्यापकता से उसे संकट से निकालने का भरसक प्रयास किया, परन्तु भगवान् अभी अर्जुन को पूर्ण सन्तुष्ट न कर सके। इसी के लिए भगवान् को अन्ततोगत्वा अपने उसी बुद्धियोगास्त्र का प्रयोग करना पड़ा। अर्जुन किस अवस्था में है, अथवा उसके आभ्यन्तर-जगत् में किन-किन द्वन्द्वों ने उत्पात मचा रखा है, यह भगवान् को भलीभांति विदित था। साथ ही में अर्जुन को भूतात्मवादी समझते हुए भी भगवान् यह अच्छी तरह जानते थे कि जिस प्रकार भूतात्मानुगामी साधारण मनुष्य सुख-लाभ-जय के प्रलोभनों में पड़कर कर्म्म में प्रवृत्त हो जाते हैं अर्जुन ऐसा कभी न करेगा। उसकी दृष्टि में सुख-लाभ-जयादि सर्वथा अनित्य ही ठहरेंगे। उधर स्वर्ग-सुख तो मिलेगा जब मिलेगा, शोकजनित-दुःख तो अभी अर्जुन को क्षुब्ध बनाए हुए है। एक ओर स्वर्गसुख दूसरी ओर बन्धुवियोगजनित-दुःख-इस प्रथम द्वन्द्व का आक्रमण पहला आक्रमण है। भगवान् ने कहा राज्य मिलेगा। यह बात भी सम्भव नहीं है। यदि विजय हो गया तो राज्य युधिष्ठिर को मिलेगा।

अर्जुन तो फिर भी सेवाधर्म्म का ही अधिकारी रहेगा। फलतः इसका व्यक्तिगत रूप से कोई लाभ प्रतीत नहीं होता। यदि थोड़ी-बहुत सम्पत्ति मिल भी गई, अथवा मानलो सारा राज्य भी मिल गया तो इस लाभ से भी अर्जुन "अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किंनु महीकृते" इत्यादि रूप से अपना क्षोभ ही प्रगट कर रहा है। इस प्रकार राज्यप्राप्तिलक्षण लाभ, एवं अनधिकारप्रयुक्त राज्य का अलाभ यह दूसरा द्वन्द्व भी अर्जुन को घेरे हुए है। कितने ही व्याख्याताओं ने अलाभ का अर्थ 'हानि' किया है। परन्तु हमारी दृष्टि में शब्दमर्यादानुसार यह अर्थ नितान्त अशुद्ध है। लाभ के साथ पढे हुए अलाभ शब्द का सीधा अर्थ है अप्राप्ति। हमारे पास की सम्पत्ति नष्ट हो जाय, अथवा हमें कुछ मिलकर छिन जाय, उसी हालत में 'हानि' शब्द चरितार्थ होता है। अर्जुन का न अभी कुछ छिन रहा, एवं न विजय के बाद मिलने वाली आधिकारिक सम्पत्ति के छिनने की कोई सम्भावना है। ऐसी अवस्था में अलाभ का अर्थ राज्य की अप्राप्ति ही समीचीन प्रतीत होता है। अर्जुन प्रश्न करता है कि भगवन्! आपने कहा राज्य मिलेगा। पहले तो मुझे ऐसा राज्य मिलेगा ही नहीं, फिर भी मुझे राज्य मिलेगा भी तो कब? राज्य मिलेगा युधिष्ठिर को। अर्जुन की इसी आशंका का उन्मूलन करने के लिए भगवान् को लाभा-लाभौ कहना पड़ा है। अर्जुन कर्तव्यनिष्ठ (प्राप्ति-अप्राप्ति) सफलता-असफलता पर ध्यान नहीं दिया करते। उन्हें कुछ मिले या न मिले, वे तो सदा अपने कर्तव्य पर दृढ रहते हैं, यही बतलाना है। मानवजन्मसुलभ जयपराजयद्वन्द्व का आक्रमण होना भी स्वाभाविक है। प्रत्येक वीर के हृदय में 'देखो! हारते हैं कि जीतते हैं'–यह उछाल भी स्वाभाविक है। भूतात्मानुगामी भले ही इन द्वन्द्वों की प्रवाह-नित्यता में विश्वास करलें, परन्तु एतावता ही ये द्वन्द्व निवृत्त नहीं हो सकते। हां यदि कोई ऐसा उपाय हो कि इन द्वन्द्वभावों के प्रवृत्त रहते हुए भी हमें इनका अनुभव न हो तो अवश्य ही शान्ति मिल सकती है। वह उपाय है–एकमात्र समत्वमूलकबुद्धियोग। कर्म्मफल में आसक्ति रखने से ही द्वन्द्वोदय को अवसर मिलता है। बस इसी आदेश का उपक्रम करते हुए भगवान् ने "सुखदुःखे समेकृत्वा" इत्यादि कहा है।

॥ इति-कर्म्मफलपरित्यागोपक्रमः ॥

द्वितीयायामुपनिषदि —

प्रथमोपदेशः

*अथबुद्धियोगिनःकर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषत्

–तत्र–

१–कर्म्मसंन्यासलक्षणज्ञानयोगापेक्षया फलासक्तित्यागोपाधिकबुद्धियोगप्राशस्त्यम्

१–एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ।। (गीता २।३९)

२–नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। (गीता २।४०)

३–व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। (गीता २।४१)

[मूलानुवाद] हे अर्जुन ! यह (पूर्वोक्त) मैंने सांख्य (ज्ञानयोग) के सम्बन्ध में तुझे बुद्धि बतलाई है । योग (बुद्धियोग) के सम्बन्ध में इस बुद्धि को सुन ! जिस (योगात्मिका) बुद्धि से युक्त होता हुआ, हे पार्थ ! तू कर्म्मबन्धन छोडने में समर्थ हो सकेगा ।।१।।

(बुद्धियोगात्मिका) इस बुद्धि के सम्बन्ध में (बुद्धियोगमार्ग में) कर्म्मारम्भ का नाश (परित्याग) नहीं है और न इस (कर्म्ममार्ग) से बन्धन ही है । अर्थात् बुद्धियोगनिष्ठ कर्म्म भी नहीं छोडता है । साथ

---

* बुद्धियोगनिष्ठ योगी को प्रत्येक दशा में कर्म्मफल की आसक्ति छोड देनी चाहिए । इससे आसक्तिमूलक अनुशोक अपने आप निवृत्त हो जाएगा, दूसरे शब्दों में अनासक्त कर्मठयोगी के ऊपर अनुशोक कभी आक्रमण ही नहीं करेगा ।

१–कर्म्मपरित्यागलक्षण (सर्वथा असम्भव, अतएव कल्पित) ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) की अपेक्षा फलासक्तिपरित्याग एवं कर्म्मपरिग्रहलक्षण बुद्धियोग ही प्रशंसनीय मार्ग है ।

ही में कर्म्मजनित आसक्तिमूलक पापरूप संस्कार का भी उदय नहीं होता। इस (बुद्धियोगरूप) धर्म्म का थोड़ा सा भी अनुष्ठान (आरम्भ) बडे भारी भय से बचा लेता है ।।२।।

हे कुरुनन्दन ! इस (बुद्धियोगमार्ग) में तू व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) एक बुद्धि कर । क्यों कि अव्यवसायी मनुष्यों की बुद्धियाँ विविध शाखावाली, एवं विविध भावमयी बन जाती हैं ।।३।।

[भाष्य] सप्तोपदेशात्मिका पूर्व की प्रथमोपनिषत् से थोड़ी देर के लिए हम इस निश्चय पर पहुँच जाते हैं कि भगवान् ने अनुशोक-निवृत्ति का उपाय विस्तार से बतलाकर अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया । सचमुच **"ज्ञाननिष्ठा"** की दृष्टि से यह निश्चय ठीक है । सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग के तो भगवान् विरोधी हैं हीं, परन्तु संशोधित ज्ञानयोग में भी भगवान् सर्वात्मना सहमत नहीं हैं । इनका अपना मत तो ज्ञानकर्म्मसमुच्चित बुद्धियोग ही है । **आत्मव्यापकता एवं आत्मनित्यता की भावना करते हुए, आत्मा को हन्ता-हत-द्वन्द्व से पृथक् समझते हुए स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए-** भगवान् के द्वारा संशोधित ज्ञानयोग का यही स्वरूप है । सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर हमें मानना पड़ेगा कि यद्यपि यह संशोधित ज्ञानयोग अच्छा है, परन्तु इस पक्ष में कर्म्म की अपेक्षा ज्ञान का आसन कुछ ऊँचा है । यह उच्च-अवच (ऊँचा-नीचा) भाव समता का विघातक बनता हुआ पराशान्ति का कारण नहीं बन सकता । ज्ञानप्रधान ज्ञानयोग अव्यक्त कोटि में आता हुआ—**क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम-व्यक्तासक्तचेतसाम्** (गीता) इत्यादि वक्ष्यमाण-सिद्धान्त के अनुसार क्लेशकोटि में ही प्रविष्ट हो जाता है । दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि ऐसा ज्ञानयोग कहने भर को स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म की आज्ञा देता हुआ भी व्यावहारिक-जगत् से हमें बाहर ही ले जाता है । ज्ञान पर प्रधान दृष्टि हो जाने से कर्म्म में अवश्य ही शिथिलता आ जाती है । यह कर्म्मोदासीनता सांसारिक-कर्म्मों से हमें निवृत्त कराती है । इधर अर्जुन कोई पारमार्थिक-कर्म्म करने नहीं बैठा है । क्षात्रधर्म्मानुयायी अर्जुन का युद्ध-कर्म्म में प्रवृत्त होने का एकमात्र लक्ष्य है, स्वाधिकारसिद्ध-राज्यवैभव की प्राप्ति । इसी अवसर में उसे प्रचलित कर्म्म-त्यागलक्षण ज्ञान-निष्ठा आ दबाती है । फलतः **न योत्स्ये** कहता हुआ वह युद्ध-कर्म्मसे उपरत हो जाता है । ऐसी अवस्था में यदि भगवान् सहसा उसे यह कह देते कि ज्ञानयोग निकम्मी चीज है । इसमें कर्म्मत्याग मानना अशुद्ध है । ज्ञान-कर्म्म दोनों प्रधान हैं, तो सम्भवतः अर्जुन इस पर निष्ठा न करता । इसलिए भगवान् ने एक बार अर्जुन के ज्ञानयोग का समर्थन किया । इस पक्ष में केवल स्वाधिकृत-कर्म्म का सन्निवेश कर दिया । आंशिक रूप से अर्जुन का ध्यान अवश्य ही कर्म्म की ओर आकर्षित हुआ । परन्तु भगवान् तो अर्जुन को स्वाभिमत-बुद्धियोग-निष्ठा पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे । बस इसी मूल-लक्ष्य की सिद्धि के लिए **"योगे त्विमां शृणु"** इत्यादि पठित **"तु"** शब्द से संशोधित सांख्य-निष्ठा में अपनी अरुचि प्रगट करते हुए भगवान् योग नामक **"बुद्धि-योग"** की ओर ही अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हैं । भगवान् कहते हैं अर्जुन ! अब तक मैंने जो कुछ कहा है, उसका सांख्य-निष्ठा से सम्बन्ध है । यदि तू अपने आप को ज्ञान-योगी समझता है तो समझता रह । परन्तु ज्ञान-योगी आत्मनित्यता के उपासक होते हैं । ज्ञानदृष्ट्या न आत्मा कारयिता है, न कर्ता है । न हन्ता है, न हत है । फलतः एक ज्ञान-योगी के मुख से **मैं इन्हें कैसे मारूँगा, ये मर जाएंगे** ऐसे

शब्द शोभा नहीं देते। ज्ञान-योगी वही सच्चा ज्ञान-योगी है, जो अपने आपको कर्त्ता-कार्य द्वन्द्वों से पृथक् समझता हुआ जो हो रहा है उसे होने दे। भला अपरिहार्य-भाव भी कभी किसी से रोके गए हैं। **"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः"**।

योगे त्विमां शृणु—

योग शब्द भी बडी जटिल समस्या है। अन्यान्य आत्म-शास्त्रों में प्रयुक्त योगशब्दों को तो जाने दीजिए, समय-प्राप्त गीता-शास्त्रोक्त योग शब्द का विचार कीजिए। गीता में स्थान-स्थान पर योग शब्द प्रयुक्त हुआ है। तत्तत् स्थलों में तो योगशब्द का अर्थ स्पष्ट होगा ही, परन्तु प्रसंगोपात्त यहाँ भी संक्षेप से योगार्थ जान लेना अनावश्यक न होगा। गीताशास्त्रोक्त योग-मार्ग को हम **ज्ञान-योग, कर्म्म-योग, भक्ति-योग, बुद्धि-योग**-इन चार भागों में विभक्त मान सकते हैं। इन चार योगों के कारण ही गीता-प्रतिपादिता आत्म-विद्या क्रमशः **सिद्ध-विद्या, आर्ष-विद्या, राज-विद्या, राजर्षि-विद्या**-इन चार भागों में विभक्त हुई है। इन चारों में आरम्भ के तीन योग तो क्रमशः **ज्ञान-योग, कर्म्म-योग, भक्ति-योग,** इन नामों से व्यवहृत हुए है। परन्तु चोथा बुद्धि-योग, **बुद्धि-योग** एवं **योग** इन दो नामों से व्यवहृत हुआ है। पाठकों को यह विशेषरूप से स्मरण रखना चाहिए कि गीता में केवल जहाँ-जहाँ **"योग"** शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र भगवान् का बुद्धि-योग से अभिप्राय है। **"योगः कर्म्मसु कौशलम्" "तस्माद् योगी भवार्जुन" "तपस्विभ्योऽधिको योगी" "योगी युंजीत सततम्" "युक्त इत्युच्यते योगी" "योगी नियतमानसः" "योगिनो यतचित्तस्य" "योगो भवति दुःखहा"**—इत्यादि सभी स्थलों के योग-योगी शब्द एकमात्र बुद्धियोग के ही वाचक हैं। केवल एक स्थल में योगशब्द कर्म्म-योग का वाचक है। **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति** का योगशब्द अवश्य ही कर्म्मयोग का सूचक है। ऐसा मानने का कारण यही है कि **"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञान-योगेन सांख्यानां कर्म्म-योगेन योगिनाम्"**—इत्यादि रूप से भगवान् ने लोकप्रचलित सांख्य-योगापरपर्य्यायिक ज्ञान-योग एवं कर्म्म-योग का दिग्दर्शन कराते हुए, आगे जाकर दोनों का समन्वय करते हुए ही **"एकं सांख्यं च योगं च"** यह कहा है। सांख्य (ज्ञान) का प्रतिद्वन्द्वी योग कर्म्म-योग ही हो सकता है। इस स्थल को छोडकर सर्वत्र योगशब्द बुद्धि-योग का ही ग्राहक है। यह निर्विवाद है।

उक्त सामान्य-परिभाषा के अनुसार प्रकृत-स्थल के **योगे त्विमां शृणु** इस योगशब्द को भी हम बुद्धि-योगपरक मानने के लिए तैयार है। भगवान् कहते हैं कि अर्जुन ! ज्ञान-योग में (सांख्य) में कैसी बुद्धि रखनी चाहिए—यह मैंने विस्तार से बतला दिया। अब बुद्धि-योग (योग) में जैसी बुद्धि रखनी चाहिए वैसा तुझे विस्तार से बतलाता हूँ। अर्जुन ! तुझे मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि इस योग-लक्षण बुद्धि के योग से कर्म्म करता हुआ भी तू कर्म्म-बन्धन में न पड़ेगा। न केवल बन्धन में ही नहीं पड़ेगा, अपितु इस योग, किंवा बुद्धि-योग के प्रभाव से तू संचित सांस्कारिक कर्म्म-बन्धनों को भी काट फैंकेगा। **"बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि"** सचमुच योगनिष्ठा भगवान् की एक अलौकिक देन है। संसार के सभी कर्म्मों में लोक-संग्रहबुद्धि से सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी मनुष्य इस योग-प्रभाव से कर्म्म-बन्धन में नहीं आता। यह एक अलौकिक बात है। प्रकाश रहे और उजाला न हो, दीपक जले,

परन्तु कज्जल पैदा न हो, मेघ रहे किन्तु सौर-प्रकाश आवृत न हो, अन्न खायें किन्तु मल न बने, इसी प्रकार आसक्ति पूर्वक धर्म्म-कर्म्म में रात दिन प्रवृत्त रहें परन्तु कर्म्म-लेप न हो, क्या यह कम आश्चर्य की बात है ? साधारण दृष्टि से विचार करने पर तो ये सभी बातें असम्भव सी मालूम होती हैं। कीचड़ में पैर डालें और वह कीचड़ में न सनें। सर्वथा असम्भव मालूम होता है। कोयले की दूकान पर बैठें, काला न लगे, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ? वह बुद्धिमान् स्वीकार करेगा जिसने बुद्धियोग का तात्त्विक स्वरूप समझ लिया है। उस बुद्धिमान् के साथ उन आवरणों का आवरणों में नित्य प्रतिष्ठित रहते हुए भी सम्बन्ध न होगा, जिसने बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करली है। और सब उदाहरणों को जाने दीजिए, केवल चित्र और आदर्श (काच) को सामने रख कर कर्म्मानासक्ति एवं कर्म्मासक्ति के तारतम्य का विचार कीजिए। जिस काच पर फोटो उतरता है वह भी काच है। जिस काच में हम अपना मुंह देखते हैं वह भी काच है। परन्तु आश्चर्य है कि एक काच पर हमारा स्वरूप संसक्त हो जाता है, एक काच पर हमारा स्वरूप जरा भी संसक्त नहीं होता। इसका क्या कारण ? न हम में संग-धर्म्म है न काच में संग-धर्म्म है। अवश्य ही दोनों से पृथक् कोई तीसरी विजातीय वस्तु है जिसके आगमन से फोटो में हम संसक्त हो जाते हैं। वह विजातीय वस्तु एक खास तरह का मसाला है। इस मसाले से रञ्जित (रंगा हुआ) काच ही **प्लेट** कहलाता है। विश्वास कीजिए, काच अपने स्वरूप से-प्रतिबिम्ब से सर्वथा असंग है। आगत प्रतिबिम्ब का एकमात्र उस मसाले के साथ ही ग्रन्थि-बन्धन होता है। मसाला चूंकि काच पर आश्रित है, इस आश्रयसम्बन्ध से काच भी तद्युक्त प्रतीत होने लगता है। उधर आदर्श दर्पण पर कोई विजातीय मसाला नहीं है। इसीलिए आगत प्रतिबिम्बों का उसके साथ जरासा भी लेप नहीं होता। प्रतिबिम्ब आ रहे हैं, परन्तु उनका लेप नहीं हो रहा है, कैसा आश्चर्य है ? वस्तुतस्तु इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं है। असल में न दर्पण लेप-धर्म से कोई सम्बन्ध रखता, न प्रतिबिम्ब ही लेप-भाव से सम्बन्ध रखते हैं। लेप का कारण तो वह विजातीय मसाला है। त्रैलोक्यव्यापक सूर्य्य प्रकाश क्या कभी मेघ से आवृत हो सकता है ? हमारी दृष्टि के संकोचरूप लेप से हम उस व्यापक प्रकाश को मेघ से उसी प्रकार आवृत समझ रहे हैं, जैसे कि एक पीलिए का रोगी अपने दृष्टिदोष से संसार की सभी वस्तुओं को पीली देखने लगता है। क्या यह हमारी भ्रान्ति नहीं है ? ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। आत्मा एक शुद्ध दर्पण है। कर्म्म-प्रपञ्च आने वाले प्रतिबिम्ब हैं। न कर्म्म में लेप है, न आत्मा में लेप है। न दोनों के सम्बन्ध में लेप है। लेप का कारण है विजातीय **आसक्ति-भाव**। राग-द्वेष मूलासक्ति मन और विषयों के मध्य में बैठ जाती है। आसक्त मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित है। बुद्धि आत्मा से युक्त है। फलतः उस मसालेवाले प्लेट की तरह आत्मा कर्म्मसंग से लिप्त हो जाता है। कर्म्म कभी लेप का कारण नहीं बनता। वह तो ज्ञानवत् आत्मा का स्वरूपधर्म्म है। आसक्ति लेप का दूसरे शब्दों में कर्म्म-बन्धन का कारण है। आसक्तिरहित कर्म्म रहता हुआ भी दर्पणस्थ प्रतिबिम्बवत् कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। यही निष्कामकर्म्म है। यही बुद्धि-योग है। यद्यपि सकामकर्म्म में भी बुद्धि का आत्मा के साथ योग है। परन्तु यह योग विषयासक्त बनता हुआ योगसीमा से बाहर निकलता हुआ अयोग बन रहा है। आसक्त मन के आसक्तिधर्म्म के मध्य में आ जाने से, बौद्धप्रकाश विषयानुगत बन रहा है। इसीलिए इस बुद्धि-योग को बुद्धि-योग नहीं कहा जा सकता। जब आसक्ति हट जाती है तो बुद्धि का विशुद्ध आत्म-प्रकाश से योग हो जाता है। ऐसा बुद्धि-योगभाव

निष्काम कर्म्म पर ही निर्भर है। अतः हम इसे ही बुद्धि-योग कहेंगे। ऐसी बुद्धि से युक्त आत्मा (कर्म्मात्मा) ही कर्म्म-बन्धन से पृथक् रह सकता है। निष्काम कर्म्मयोगलक्षण बुद्धियोग ही एक मात्र बन्धनमुक्ति का कारण है। "ज्ञानान्मुक्तिः" का यह तात्पर्य्य कभी नहीं है कि कर्म्म छोड़ दो, तब मुक्ति होगी। अपितु निष्कामकर्म्म से जब आसक्ति का एकान्ततः विमोक हो जाता है तो कर्म्म और ज्ञान में रहने वाली ग्रंथि टूट जाती है। इसी का नाम मुक्ति है। विवेकज्ञान ही मुक्तिसाधक ज्ञान है। भला निष्क्रिय ज्ञान भी प्रयाससाध्या मुक्ति का कभी कारण बना है? यह ध्यान में रखिए कि कर्म्मविमोक कभी मुक्ति नहीं है। कारण, कर्म्म कभी आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में **"न कर्म्मणा प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"** इत्यादि श्रौतवचनोक्त कर्म्मणा का **"आसक्त-कर्म्मणा"** **"त्यागेन"** का **आसक्तित्यागेन** यही अर्थ मानना पड़ेगा। यदि ऐसा न माना जाएगा तो **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"** इसका समन्वय आप किसी प्रकार भी न कर सकेंगे। अपि च भगवान् ने **"कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि"** इस वाक्य से स्पष्टरूप से कर्म्मबन्धन का ही परित्याग बतलाया है। कर्म्मबन्धन छोडना मुक्ति है, कर्म्म छोडना मुक्ति नहीं है। कारण, कर्म्म-परित्याग सर्वथा असंभव है। कल्पित ज्ञान-योग में रंगे हुए जगन्मिथ्यात्ववादी व्याख्याताओं ने **"गतानुगतिको लोकः"** इस मार्ग का आश्रय लेते हुए **"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"** इस सूक्ति की उपेक्षा कर पूर्व व्याख्याताओं के अपथ-रूप पथ का आश्रय लेते हुए कर्म्मविमोकलक्षण ज्ञान-योग को सिद्ध करने में एड़ी से चोटी तक का बल लगाया है। परन्तु कहीं-कहीं ये व्याख्याता भी डगमगा गए हैं। प्रकृत श्लोक की व्याख्या करते हुए सुप्रसिद्ध व्याख्याता सर्व श्री **नीलकण्ठ** कहते हैं—

*** एवमर्जुनस्य पूर्वोक्तौ द्वावपि मोहावपनीतौ। तत्र "कं घातयति हन्ति कम्" इति कर्त्तृत्वकारयितृत्वयोरात्मन्यसंभव उक्तः। ततो "युद्धाय युज्यस्व" इति नियोगश्चोक्तः। न ह्यकर्तुराकाशवत्, सर्वगतस्य नियोज्यत्वं सम्भवति, इति परस्परव्याहतमेतत्, इतीमां शंकामधिकारिभेदेनोभयं व्यवस्थापयन् परिहरति–एषा ते इति। एषा ते तुभ्यमभिहिता "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" इत्यादिना "स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य" इत्यतः प्राक्तनेन संदर्भेण उक्ता "सांख्ये", सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या उपनिषत्, तत्र विदिते सांख्ये, औपनिषदे ब्रह्मणि विषये "बुद्धिर्ज्ञानं" संसारनिवर्त्तकं" एषा ते सांख्य-बुद्धिरभिहिता" इति सम्बन्धः। योगे "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" इति वक्ष्यमाण-लक्षणे विषये 'तु' शब्दः पूर्ववैलक्षण्यद्योतनार्थः। वक्ष्यति च ज्ञानकर्म्मनिष्ठयोर्विभिन्नाधिकारिकत्वं "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम्" इति।**

---

* इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के दोनों मोह हटा दिए। कौन करवाता है, कौन मारता है–इस प्रकार कर्त्ता एवं कारयिता दोनों (भावों) का (नित्य व्यापक एकरूप) आत्मा में भगवान् ने अभाव बतलाया। (साथ) ही में 'आगे जा कर युद्ध के लिए तैयार हो जा' इस प्रकार (युद्ध में) नियोग (प्रवृत्ति) भी बतलाया। आकाशवत् सर्वव्याप्त अतएव अकर्त्ता आत्मा का कर्म्मप्रवृत्तित्व कथमपि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त दोनों बातें (न आत्मा मरता न मारता, यह व्यापक धर्म्म, →

"एतेन ज्ञानकर्म्मणोः समुच्चयशंकाप्यपास्ता" । इमां "स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य" इत्यादिनानन्तरग्रन्थेनोक्तामपि विस्तरेणाभिधीयमानां शृणु । इमामेव बुद्धिं स्तोति सार्द्धेन "बुद्धया" इत्यादिना ।

ननु कर्म्मबन्धप्रहाणमात्मज्ञानेनैव श्रूयते । तपसैवात्मपदं विदित्वा न लिप्यते पापकेन इति श्रुतेः । कर्म्म-योगस्तु कर्मबंधं दृढीकरिष्यत्येवेति कथमुच्यते कर्म्मबंधं प्रहास्यसि इति चेत् ? श्रुतिबलादितिब्रूमः । तथाहि-ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे । इति श्रुतिरीश्वरेणेदं सर्वं स्तंभितमस्तीति न कश्चित् किंचित् स्वेच्छया कर्तुं प्रभवति । अतः सर्वत्र ममताहीनः सन् भोक्तृत्वकर्तृत्वाभिमानत्यागेनैव भोगान् भुंक्ष्व, कर्म्माणि च कुरु । एवं कुर्वति त्वयि कर्मलोपो नास्ति, इतोऽन्यदुपान्तरं च नास्तीति वदति । तस्मात् कनककाष्ठर्ण्यायसादिवत् केनचिद्विशेषरूपेणोपेतं कर्म्मेवऽस जातीयच्छेददनिमित्तं भविष्यतीति युक्तमुक्तं कर्म्मयोगेनापि कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि इति ।।

(महा० भीष्मप० २६ अ० ३९ श्लोकव्याख्या)

एवं युद्ध कर इस प्रकार का परिच्छेद लक्षण कर्म्म-योग) एक दूसरे से विरुद्ध होती हुई परस्पर में कट जाती हैं । अधिकारीभेद से दोनों ही बातों को व्यवस्थित करते हुए भगवान् **"एषा ते"** इत्यादि से इसी आशङ्का का निराकरण कर रहे हैं । यह मैने तुझे जो बुद्धि बतलाई है, **अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"** इत्यादि श्लोक से आरम्भ कर **"स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य"** इससे पहले-पहले के पूर्वोक्त सन्दर्भ से (अर्थात् गीता अध्याय दो के ग्यारहवें श्लोक से गीता अध्याय दो के तीसवें श्लोक पर्य्यंत के बीस श्लोकात्मक सन्दर्भ से)[1] कही गई सांख्य में–जिससे वस्तुतत्त्व भलीभांति कहा जाय वह **"उपनिषत्"** ही संख्या है । उसमें जाना गया (ज्ञान) ही सांख्य है । अर्थात् औपनिषत् ब्रह्म के सम्बन्ध में संसारनिवर्त्तक जो ज्ञान है वही सांख्य है । उसमें इस प्रकार **"एषा तेऽभिहिता सांख्ये"** इस वाक्य की यह मैंने तुझे सांख्य में बुद्धि (ज्ञान) बतलाई है, इस प्रकार संगति लगाना चाहिए । **"योगे"** का तात्पर्य यह है कि **"सिद्धि एवं असिद्धि में सम होकर तू कर्म्म कर क्योंकि समत्व ही योग है ।"** इस प्रकार आगे बतलाए जाने वाले योग में "तु" शब्द पूर्वनिष्ठा की अपेक्षा (इस योगनिष्ठा की) विलक्षणता अपूर्वता (उत्कृष्टता) ही बतला रहा है । भगवान् आगे जाकर ज्ञान एवं कर्मनिष्ठा-दोनों के भिन्न-भिन्न अधिकारी आगे बतलाने वाले हैं । **"हे अर्जुन ! मैंने पहले लोक में दो निष्ठाएं बतलाई हैं ।" "ज्ञानयोग से सांख्यनिष्ठा, एवं कर्म्मयोग से योगनिष्ठा बतलाई हैं ।"** इसी कथन से ज्ञानकर्म्म को एक साथ मानने की आशङ्का भी पराजित हो जाती है । **"स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य"** प्रकरण से कही हुई भी (उस ज्ञाननिष्ठा को) तू विस्तार के साथ कही जाने वाली को तू सुन । इत्यादि आगे के भगवान् **"बुद्धया"** इत्यादि आगे के आधे श्लोक से बुद्धि की महिमा बतला रहे हैं । →

१–वस्तुतस्तु सांख्यनिष्ठा का आरम्भ **"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"** (गीता २।११) यहां से हुआ है, एवं समाप्ति **"युद्धाय कृतनिश्चयः"** (गीता २।३७) यहां हुई है । इस प्रकार यह सांख्य संदर्भ २७ श्लोकात्मक ही समझना चाहिए । यदि सात श्लोकों की इतिहास-मर्यादा को प्रधान माना जाता है तो इस दृष्टि से व्याख्याकार की संगति का भी समन्वय किया जा सकता है ।

इस व्याख्यावचन के उद्धरण से हमारा विशेष प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि हमें इस उद्धरण की समालोचना द्वारा पाठकों का ध्यान किसी विशेष भाव की ओर (बुद्धियोग की ओर) आकर्षित करना है। व्याख्याता का अभिप्राय ऐसा मालूम होता है कि **"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"** से आरम्भ कर **"स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य"** इत्यादि से पहले-पहले का संदर्भ सर्वकर्म्मसंन्यासलक्षण विशुद्धज्ञान-योग का प्रतिपादन करता है। इस ज्ञान-योग से भगवान् अर्जुन को यही बतलाना चाहते हैं कि आरुढ ज्ञान-योगी का कल्याण एकमात्र कर्म-परित्याग-लक्षण संन्यास में ही है। परन्तु आगे जा कर के भगवान् आरुरुक्ष की दृष्टि से निष्काम-कर्मयोग का भी उपदेश दे रहे हैं। इस प्रकार अधिकारीभेद से दोनों बातें उपपन्न हो जाती हैं। पराशान्ति का मुख्य मार्ग तो कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास ही है। परन्तु जो ऐसा करने में असमर्थ हैं, उन्हें आत्मविशुद्धयर्थ निष्कामकर्म्म करना चाहिए। सुप्रसिद्ध व्याख्याता शंकरानन्द स्वामी, मधुसूदन स्वामी, श्रीधर आदि की भी यही सम्मति है।

इस सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि **एषा तेऽभिहिता सांख्ये** की उक्त रूप से अधिकारी भेद को आगे करते हुए संगति लगाना सर्वथा असंगत है। भगवान् ने अर्जुन को गीतोपदेश क्यों दिया? एकमात्र इसी प्रश्न का विचार करने से उक्त संगति की निःसारता प्रगट हो जाती है। अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त हुआ था, परन्तु दयापरवश वह युद्ध-कर्म्म से विमुख होता हुआ शोक करने लगा था। भगवान् ने सांख्य-निष्ठा द्वारा शोक हटाते हुए **"युद्धाय कृतनिश्चयः"** कह कर उसे युद्धकर्म्म में प्रवृत्त किया। इस विस्पष्ट अर्थ के विद्यमान रहते भी व्याख्याताओं ने सांख्य-निष्ठा को कर्मत्यागलक्षण कैसे मान लिया? इसका उत्तर सिवा प्रौढिवाद के और क्या हो सकता है। हम तो यह भी कहने में कोई संकोच नहीं करते कि प्रचलित कर्मत्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा का उच्छेद करने के लिए ही भगवान् ने सर्वप्रथम ज्ञानयोग के पक्ष में भी कर्मयोग का समावेश करने के लिए सर्वप्रथम सांख्यनिष्ठा का ही दिग्दर्शन कराया। परन्तु यह निष्ठा अव्यक्तभावप्रधाना होने से कष्टसाध्य है। इसलिए आगे जा कर भगवान् ने स्वाभिमत

यहां पूर्वपक्ष होता है कि **"तप (ज्ञान) से ही आत्मपद जानकर वह पाप से लिप्त नहीं होता है।"** इस श्रुति से कर्म्मबन्ध का नाश (एकमात्र) ज्ञान से ही सुना जाता है। कर्म्मयोग तो कर्म्मबन्धन को और भी मजबूत करदेगा, फिर भगवान् के द्वारा **"तू कर्म्मबन्ध छोड देगा"** यह कैसे कहा गया? इसके उत्तर में हम श्रुति-बल को ही सामने रखते हैं। **"इस जगती में जो कुछ जगत् है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। उससे त्यक्त (भाग का) ही भोग करो किसी के वित्त की इच्छा मत करो"। "काम करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। ऐसा करने से तुम्हारा कोई गिाड़ न होवगा। ऐसे कर्म्मयोगी मनुष्य में कर्म्म का लेप नहीं होता।"** यह श्रुति बतला रही है कि ईश्वर से ही यह सारा प्रपञ्च बद्ध है। बिना ईश्वर की इच्छा के कोई भी अपनी इच्छा से कुछभी नहीं कर सकता। इसलिए सब कर्म्मो में ममता छोड़कर भोक्ता एवं कर्त्तापन का अभिमान छोडते हुए ही भोगों का भोग करो एवं कर्म्म करो। ऐसा करने से न कर्म्म लिप्यते परे की तरह विशेष रूप से अनुष्ठीय-मानकर्म्म ही सजातीय कर्म्मच्छेद का कारण बन जाएगा, ऐसी दशा में कर्मयोग से भी भगवान् ने **"कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि"** यह बिल्कुल ठीक कहा है।

बुद्धियोग का उपदेश दिया। अर्जुन कर्म से विमुख हो रहा हो और उस समय भगवान् उससे कहें कि भाई, कर्म्म तो सचमुच बन्धन का कारण है। यदि तू शोक से आत्यन्तिक-निवृत्ति चाहता है तो तुझे सब कर्म्म छोडकर ज्ञानयोग का ही आश्रय लेना चाहिए। क्या ऐसा मानना गीता-हृदय पर आघात नहीं करना है? क्या भगवान् अर्जुन को कर्म्म से रोकना चाहते थे? तब तो अर्जुन का कर्म्म से उपरत होना ठीक था। फिर तो ऐसी सांख्यनिष्ठा में भगवान् ने **"युध्यस्व भारत"** कहकर बडा अनर्थ किया। इन सब परिस्थितिओं के आधार पर आपको मानना पड़ेगा कि सांख्यनिष्ठा से भगवान् का यह अभिप्राय कदापि नहीं था, कि, सांख्य में कर्म्मत्याग ही उत्तम है। अपितु संगतियाँ लगानी पडेगी कि अर्जुन यदि ज्ञानयोगी किंवा सांख्यनिष्ठ बनने का अभिमान करता हुआ प्रचलित कर्म्मत्यागलक्षण संन्यासमार्ग का आश्रय लेता हुआ-कर्म्म को शोक का कारण समझता हुआ युद्ध कर्म्म से उपरत होता है तो भगवान् कहते हैं सावधान! अर्जुन! ज्ञानयोग का यह तात्पर्य्य नहीं है कि सब कर्म्मों को छोडछाडकर तू चुप बैठ जाय। अरे सच्ची ज्ञाननिष्ठा तो वह है जिसमें आत्मव्यापकता की भावना रखते हुए स्वधर्म्मसिद्धकर्म्म करते जाय। इस प्रकार सांख्यनिष्ठा में भगवान् ने कर्म्म का समावेश करते हुए एक प्रकार से कर्म्मत्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा का खण्डन ही किया है। सांख्य-प्रकरण समाप्त करते हुए आगे जा कर भगवान् कहते हैं कि अब तक मैंने सांख्य को मूलाधार मानते हुए (परमतानुसार) तुझे कर्म्म की आवश्यकता एवं अबन्धन-कारणता बतलाई है। अब स्वाभिमत बुद्धियोग के अनुसार कर्म्म की अबन्धनता बतलाता हूं। बुद्धि-योग भगवान् का अपना प्रतिस्विक मत है, **यह भूमिका** प्रकरण में बतलाया जा चुका है। एवं आगे जाकर **"ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः"** से भगवान् स्वयं इस विषय का स्पष्टीकरण करने वाले हैं। युद्ध एक सांसारिक कर्म्म है। उससे अर्जुन हट रहा था, उस समय भगवान् यदि उसे संसार-निवर्त्तक कर्म्म से हटा रहे है तो एक प्रकार से सारा गीता-शास्त्र ही व्यर्थ हो रहा है। फलतः व्याख्याता का **"बुद्धिर्ज्ञानं संसारनिवर्त्तकं एषा ते सांख्ये बुद्धिरभिहिता इति सम्बन्धः"** यह कथन सर्वथा उन्मत्त-प्रलाप रह जाता है।

और आगे चलिए। व्याख्याता ने **"योगे"** का अर्थ **कर्म्मयोगनिष्ठा** माना है। अपने उसी आधिकारी-भेदसम्बन्धी हेत्वाभास को आगे करते हुए आप कहते हैं कि **"भगवान् स्वयं लोकेऽस्मिन्"** इत्यादि रूप से सांख्य एवं योग इन दो निष्ठाओं का निरूपण करने वाले हैं, भगवान् के इसी कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानकर्म्म का कभी समन्वय भी नहीं हो सकता। प्रकृतस्थलोपात्त योग शब्द का क्या अर्थ है? इसका समाधान पूर्व में किया जा चुका है। यहां हमें **"लोकेऽस्मिन्"** का विचार करना है। अवश्य ही भगवान् ने दो निष्ठाएं बतलाई हैं। परन्तु किनके लिए? सांख्यों एवं कर्म्मठों के लिए। उन दोनों निष्ठाओं से भगवान् कहना यह चाहते हैं कि आज संसार में पृथक्-पृथक् दो निष्ठाएं प्रचलित हैं। एक विशुद्ध ज्ञान को ही मुक्ति का साधक मानती है, एक कर्म्म को ही अभ्युदय का मूल बतलाती है। परन्तु अर्जुन। मेरी दृष्टि में दोनों ही मत भ्रान्त हैं। न ज्ञान कभी कर्म्म से पृथक् हो सकता है। न कर्म्म कभी ज्ञान के बिना स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सकता है। ज्ञान-कर्म्म दोनों आत्मा के स्वरूप धर्म्म हैं। ऐसी अवस्था में कर्म्मत्यागलक्षण सांख्यों की ज्ञानयोगनिष्ठाका एवं कर्म्मठों की कर्मयोगनिष्ठा का कोई मूल्य नहीं है। फिर मूल्य किसका है? तो सुन—

**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।** (गीता ३।४)

**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।** (गीता ५।४-५)

इस प्रकार भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में सांख्य एवं योग (कर्मयोग) दोनों का समन्वय बतलाया है। इस विस्पष्ट परिस्थिति के रहते भी **"एतेन ज्ञानकर्म्मणोः समुच्चयशंकाप्यपास्ता"** यह कथन अपास्त नहीं हो जाता। एक चमत्कार और देखिए। संदर्भसंगति के आरम्भ में व्याख्यातामहोदय ने अधिकारी-भेद से सांख्यनिष्ठा एवं योगनिष्ठा को सर्वथा पृथक्-पृथक् माना है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सांख्यप्रतिपादिता बुद्धि भिन्न है। एवं योगप्रतिपाद्या बुद्धि भिन्न है। परन्तु आगे जाकर यही महानुभाव कहते हैं कि **"स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य"** इत्यादि से अव्यवहितोत्तरकाल (सांख्यनिष्ठा के सम्बन्ध) में जो बुद्धि बतलाई गई है, उसे ही (योगे त्विमां शृणु) विस्तार से सुन (इमां स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य इत्यादिनानन्तरग्रन्थेनोक्तामपि विस्तरेणाभिधीयमानां शृणु) व्याख्याता का अभिप्राय ऐसा मालूम होता है कि सांख्यप्रकरण **"स्वधर्म्ममपि"** से पहले-पहले ही समाप्त हो जाता है। **"स्वधर्म्ममपि"** से योगप्रकरण का आरम्भ हो जाता है। **"स्वधर्म्ममपि"** से आरम्भ कर **"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्"** इत्यादिपर्यन्त सात श्लोकों से भगवान् ने अर्जुन को कर्तव्यकर्म्म का उपदेश दिया है। उधर व्याख्याता की दृष्टि से सांख्य में कर्म्मोपदेश बन नहीं सकता। बस इसी आपत्ति से अपना पीछा छुडाने के लिए व्याख्याता ने **स्वधर्म्ममपि** से पहले-पहले ही सांख्यनिष्ठा की समाप्ति मानली है। इसी कल्पना के आधार पर इन्होंने कहा कि स्वधर्म्ममपि० इत्यादि सात श्लोकों से भगवान् ने (सांख्यनिष्ठा के अनन्तर) जिस योगनिष्ठा का संक्षेप से उपदेश दिया है, **"योगे त्विमां शृणु"** इत्यादि से उसी संक्षिप्त अर्थ का विस्तार से निरूपण करते हैं।

इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि जब भगवान् ने **"एषा तेऽभिहिता सांख्ये"** इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में **"एषा ते"** श्लोक से पहले के ३७ श्लोकात्मक पूरे संदर्भ को सांख्यनिष्ठापरक बतलाया है। फिर भी व्याख्याता ने किस आधार पर **"एषा ते"** से पहले के सात श्लोकों को योगनिष्ठापरक मान लिया, यह समझ में न आया। **"योगे त्विमां शृणु"** से भगवान् यहीं से योगनिष्ठा का आरम्भ कर रहे हैं। इससे पहले के सन्दर्भ में योगनिष्ठा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अच्छा, अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि **"स्वधर्म्ममपि"** इत्यादि सप्तश्लोकी योगनिष्ठापरक ही है। परन्तु जिस कर्म्मभीति से व्याख्याता ने इस सप्तश्लोकी को सांख्य-प्रकरण से पृथक् मानने की निरर्थक चेष्टा की है, वह भी तो सफल नहीं होती दिखाई देती। उनके अभिमत विंशश्लोकात्मिका सांख्यनिष्ठा में ही भगवान् ने **"तस्माद्युध्यस्व भारत"** (गीता २।१८) स्पष्ट शब्दों में कर्मप्रवृत्ति का आदेश दिया है। व्याख्याता ने उक्त वाक्य का, **"भीष्मादिदेहानाम् मिथ्यात्वादनित्यत्वाच्च स्वयमेव नष्टप्रायतया हननान्निवृत्त्या त्वया स्वधर्मो न नाशनीयः"**–इति भावः यह अर्थ करते हुए

सांख्यनिष्ठा में ही कर्म्मप्रवृत्ति स्वीकार की है। फिर यह वदतोव्याघात कैसा ? यद्यपि अन्य व्याख्याताओं ने द्रविड़प्राणायाम का आश्रय लेते हुए "**तस्माद्युध्यस्व भारत**" इस आदेशना वाक्य का "**शरीरयात्रा-त्र विधीयते न कश्चिदत्र कर्म्मविधिरिति मन्तव्यम्**" इत्यादि रूप से समाधान करने की चेष्टा की है। परन्तु यह सब केवल अनर्गल प्रलाप ही कहा जाएगा ! क्या बिना युद्ध के अर्जुन शरीर-यात्रा का निर्वाह नहीं कर सकता था ? कैसा प्रमाद, कितना अभिनिवेश ! वस्तुतस्तु भगवान् ने उक्त सात श्लोकों से सांख्यनिष्ठा में कर्म्म का प्रबल समर्थन ही किया है। फलतः उस प्रकरण को न सांख्यनिष्ठा से पृथक् किया जा सकता, न सांख्यनिष्ठा को कर्म्मविमोकलक्षण माना जा सकता है।

आगे आकर व्याख्याता पूर्वपक्ष उठाते हैं कि कर्म्मबन्ध का क्षय केवल आत्मज्ञान से ही बतलाया गया है। जैसा कि, "**तपसैवात्मपदं विदित्वा न लिप्यते पापकेन**" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। कर्म्मयोग तो कर्म्मबन्धन को और भी दृढ बना देता है। फिर भगवान् ने कर्म्मयोगसम्बन्ध में "**कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि**" यह कैसे कहा ? इस पूर्वपक्षाभास का समाधान करते हुए व्याख्याता कहते हैं कि श्रुतिबल से ही इस आशङ्का का निवारण करना पड़ेगा। "**ईशावास्यमिदंकुर्वन्नेवेहकर्म्माणि**" इत्यादि श्रुतियों का आदेश है कि जो कुछ संसार में भोग मिलता है, किंवा कर्म्म मिलता है, उस भोग एवं कर्म्म में ईश्वरेच्छा ही प्रधान है। हम सर्वथा परतन्त्र हैं। जब हम अपनी इच्छा से कर्म्म करते ही नहीं तो बन्धन कैसा ? इसी अभिप्राय से भगवान् ने, "**कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि**" यह कहा है। निष्काम कर्म्म कभी लेप (आवरण बन्धन) का कारण नहीं बनता। अपितु "न कर्म्म लिप्यते परे" वह (प्रवृत्ति) कर्म्म तक का उच्छेद कर डालता है।

स्वागतम् ! भगवन् ! जिस श्रुति को आप आत्मज्ञानसाधिका बतलाते हैं, वहां कर्म का विरोध भी है, यह हमारी समझ में न आया। वहां तो तप से आत्मपदज्ञान बतलाया है। क्या तप का अर्थ विशुद्ध ज्ञान है ? यदि हां, तो प्रमाण बतलाइए। जिस तप को आप ज्ञानपरक मान रहे हैं वह तप तो निष्काम कर्म का वाचक है। मनप्राणवाङ्मय आत्मा के क्रियाशक्तिघन प्राण से ही तप-कर्म्म का विकास हुआ है। आत्म-कर्म्म ही तप है, यही निष्काम कर्म्म है। विश्वकर्म्म कर्म्म है, यही सकाम कर्म्म है। श्रुति कहती है कि आत्मलक्षण निष्काम कर्म्म के द्वारा आत्मा के स्वरूप को पहिचानते हुए तुम कर्म्म करते जाओ, कभी कर्म्म-जनित लेप का आवरण न होगा। इस प्रकार जिस निष्काम कर्म्म की आप, "ईशा" "कुर्वन्नेवेह" इत्यादि उत्तरपक्षसाधिकाश्रुतियों से पुष्टि करना चाहते हैं, वही बात तो आपकी पूर्वपक्षसाधिका श्रुति कह रही है। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि "**तपसैवात्मपदं**" इत्यादि श्रुति आत्म-ज्ञान की ही साधिका है। तो फिर आपको एक ही विषय में श्रुति-विरोध मानना पड़ेगा। साथ ही में जिस (श्रुतिबलादितिब्रूमः) वाक्य से "कुर्वन्नेवेह" का कर्म्म करने चले हैं। उसी वाक्य में एक ज्ञान-योगी श्रुतिबलादितिब्रूमः यह कहता हुआ "**तपसैवात्मपदं**" से निष्काम कर्म्म का खण्डन करने लगेगा तो, आप उसे कैसे रोक सकेगें ? इन्हीं सारी विषम समस्याओं के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि कल्पित ज्ञानयोग में रंगे हुए इन व्याख्याताओं ने निरर्थक कलह में पड़कर गीता के वास्तविक तात्पर्य्य को सर्वथा भुला दिया है। आगे भी तत्तत् ज्ञानकर्म्मस्थलों में व्याख्याताओं ने ऐसी ही विचित्र लीला

की है। परन्तु हम अपने गीताप्रेमी पाठकों को यह विश्वास दिला देना चाहते हैं कि गीता न विशुद्ध ज्ञानयोग को अच्छा समझती है, न विशुद्ध कर्म्मयोग को। किन्तु दोनों के समन्वितरूपात्मक बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ समझती है। यही बुद्धियोग गीता में "योग" नाम से सम्बोधित हुआ है। योग मध्यमें है, इसके उस ओर ज्ञानवादियों का ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) है, इस ओर कर्मवादियों का प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग है। विशुद्ध ज्ञानयोग विशुद्धविद्यात्मक बनता हुआ अविद्यात्मक कर्म्मयोग से भी अधिक भयंकर है। उपनिषद्-श्रुति कहती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ (ईशोप० ६)

इसीलिए भगवान् ने पहले पहल उसी "भूयः" भाव का नाशकरते हुए ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश किया। इसके बाद क्रम-प्राप्त बुद्धियोग-प्रकरण का उत्थान किया। इसी प्रकरण में दूसरे उपदेश से भगवान् आसक्तिमूलक कर्म्मयोग की भी मीमांसा करने वाले हैं। इस प्रकार गीता के सभी विषय सर्वथा सुव्यवस्थित हैं। इनमें खैंचातानी का अणुमात्र भी अवकाश नहीं है। कहना न होगा कि चिरकाल से विलुप्त वैदिक-विज्ञान का अभाव ही उक्त भ्रान्तियों का मूल कारण है।

॥ १ ॥

२–"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"

सचमुच यह एक विचारणीय प्रश्न है कि जब कर्म्मप्रवेशद्वारा सांख्यनिष्ठा से काम चल जाता है तो फिर बुद्धियोग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? कर्म्म करें और लेप न हो, सांसरिक द्वन्द्वमूलक कर्म्मों से न आत्मा में क्षोभ हो, न हर्ष हो, यही तो अभीप्सित है। यह अभीप्सितफल संशोधित ज्ञानयोग से जब प्राप्त हो सकता है तो फिर बुद्धियोग नामक उपायान्तर की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसी आशङ्का को दूर करने के लिए ज्ञानयोगापेक्षया बुद्धियोग को श्रेष्ठ बताने के लिए ही भगवान् को **"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"** यह कहना पड़ा। हम कह चुकें हैं कि ज्ञानयोग में यद्यपि कर्म्म का समादेश है, तथापि वहां आसन ऊँचा ज्ञान का ही है। यही तो एक विषमता ऐसी है, जो हमें आत्मा के समत्वयोग पर प्रतिष्ठित नहीं होने देती। ज्ञानभाव में सांसारिक कर्म्मों के प्रति उदासीनता आ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि इस निष्ठा में निःश्रेयसभाव तो मिल जाता है परन्तु सांसारिक कर्म्ममूलक **"अभिक्रम"** नहीं होने पाता। उधर विशुद्ध कर्मयोगात्मक कर्म्ममार्ग में अभिक्रम है तो, साथ ही में प्रत्यवाय भी है। फलतः यह आनन्द भी **"यन्नदुःखेन सम्भिन्नम्"** कोटि से बहिर्भूत रह जाता है। निःश्रेयस के साथ-साथ अभिक्रमरूप अभ्युदय भी रहे, प्रत्यधाय रहे नहीं, ऐसा तो एकमात्र **बुद्धियोग** ही है। यही इस योग की उभययोगापेक्षया श्रेष्ठता है।

प्रत्यवाय का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अभ्युदय है। यहाँ अभ्युदय के अभिप्राय से ही अभिक्रमशब्द प्रयुक्त हुआ है। **अभि-उत्-अय** की समष्टि अभ्युदय है, **प्रति-अव-अय** का समुच्चय प्रत्यवाय है। अभि का अर्थ है

सामने, उत् का अर्थ है **ऊपर**, अय का अर्थ है **गमन** (जाना-गति)। समष्टि का अर्थ है **सामने ऊपर की ओर गमन**। प्रति का अर्थ है **पीछे**, अव का अर्थ है **नीचे**, अय का अर्थ है **गमन**। समष्टि प्रत्यवाय का अर्थ है **पीछे नीचे की ओर जाना**। प्रवृत्तिमूलक कर्म्म **सत्कर्म्म** एवं असत्कर्म्मभेद से दो भागों में विभक्त है। वेदमूलक शास्त्रीय यज्ञ, तप, दान कर्म्म सत्कर्म्म हैं। इनकी विकास भूमि सूर्य्य है। **"सैषा त्रयी विद्या तपति त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः"** **"सैषात्रयी विद्यायज्ञः"** इत्यादि श्रोतस्मार्त्त-प्रमाणों के अनुसार त्रयीघन सूर्य्य ही यज्ञोपलक्षित यज्ञतपदानात्मक सत्कर्म्म का अधिष्ठाता है। इस सत्कर्म्म से आत्मा में देवसंस्कार उत्पन्न होता है। इसी देवसंस्कार के बल से सत्कर्माधिष्ठाता मनुष्य याज्ञिकपरिभाषानुसार यज्ञकर्त्ता यजमान स्थूलशरीरपरित्याग के अनन्तर सूर्य्यलोक नामक देवस्वर्ग में जाता है। सूर्य्य हमारे सामने ऊपर है। इसकी ओर आत्मा का गमन करना ही आत्मा का अभ्युदय है। इसीलिए स्वर्गसुख को अभ्युदय मान लिया जाता है। शास्त्रविरुद्ध उदरपोषणादि लौकिक कर्म्म असत् कर्म्म हैं। इनका सम्बन्ध पृथिवी से है। कारण, पृथिवी भूतप्रधाना है। भूत तमोमय है। तम अन्धकार है। प्रकाश का प्रतिद्वन्द्वी है। अतएव **भौतिक**-संपत्तिप्रधान अशास्त्रीय कर्म्मों से आत्मा पर तम का आवरण आ जाता है। पार्थिवाकर्षणरूप अन्धकार से आवृत आत्मा सूर्य्य की ओर न जाकर सूर्य्य से ठीक विरुद्ध पृथिवी के दितिभाग की ओर ही गमन करता है। इस ओर आत्मा का गमन करना ही आत्मा का प्रत्यवाय है। यही स्थान नरक कहलाता है। अभ्युदय-कर्म्म अभ्युदय द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, प्रत्यवायकर्म्म प्रत्यवायद्वारा नरक प्राप्ति का कारण है। अभ्युदय का उत्तरायण से सम्बन्ध है। प्रत्यवाय का दक्षिणायन से सम्बन्ध है। जैसा कि **"अर्चिः शुक्लः०"** इत्यादि आत्म-गति-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इस सामान्यदृष्टि से यद्यपि प्रवृत्तिमूलक सत्कर्म्मों का केवल अभ्युदय के साथ, एवं असत्कर्म्मों का केवल प्रत्यवाय के साथ ही सम्बन्ध प्रतीत होता है, परन्तु विज्ञान-दृष्टि से विचार करने पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि जिसे अभ्युदय कहा जाता है वह भी प्रत्यवाय से शून्य नहीं है। जिसे प्रत्यवाय कहा जाता है वह भी अभ्युदय से सर्वथा असंस्पृष्ट नहीं है। दूसरे शब्दों में अभ्युदयमूलक कर्मों में प्रत्यवायमूलक कर्म्मों का एवं प्रत्यवायमूलक कर्म्मों में अभ्युदयमूलक कर्म्मों का भी समावेश रहता है। उदाहरण के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ को ही लीजिए। **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"** इस विधि वाक्य पर विश्वास करता हुआ यजमान **सोमयाग** में प्रवृत्त होता है। इसमें पशु की भी आहुति दी जाती है। यह पशुवध हिंसामय बनता हुआ प्रत्यवाय का भी कारण बनता है। यह ठीक है फिर भी उत्पन्न पशु का यज्ञ के लिए वध करना वध नहीं कहलाता, यज्ञीयहिंसा हिंसा नहीं कहलाती कि यज्ञार्थ प्राणवियोगलक्षण हिंसाभाव को किसी प्रकार तिरोहित नहीं किया जा सकता। आपत्तिकाल में विश्वामित्र ने चाण्डाल के घर में श्वानमांस खा लिया था। यह सब कुछ होने पर भी प्रकृतिसिद्ध श्वानमांसभक्षण-दोष से विश्वामित्र अछूते रह गए होंगे, यह नहीं माना जा सकता। निदर्शन मात्र है आप कोई भी कार्य ऐसा नहीं बता सकते जो सर्वथा दोषयुक्त ही हो। अथवा गुणयुक्त ही हो जैसा कि अभियुक्त कहते हैं।

सर्वथा दृश्यते किंचिन्न निर्दोषं न निर्गुणम्।
गुणदोषमयं विश्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी॥

ऐसी परिस्थिति में जिसमें अधिक गुण हों वही अभ्युदय कर्म्म एवं जिसमें अधिक दोष हों, वह प्रत्यवाय कर्म माना जायगा। लौकिक व्यवहार में भी यही नियम देखा गया है। ऐसा कोई भी नियम नहीं बनाया जा सकता जिससे प्राणिमात्र का हित ही हित हो। साथ ही में कोई ऐसा भी कर्म्म नहीं है, जो केवल दोष की ही प्रमुता रखता हो। सर्वथा प्रत्यवायमूला मद्य भी सौत्रामणी इष्टि में अभ्युदय मूला बन जाती है। सर्वथा अभ्युदयमूल सत्य भी ब्राह्मणवध पर प्रत्यवायमूल बन जाता है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ-जहाँ अभ्युदय की प्रधानता है, वहाँ-वहाँ आंशिक रूप से प्रत्यवाय भी अवश्य रहता है। एवं जहाँ-जहाँ प्रत्यवाय रहता है वहाँ-वहाँ आंशिकरूप से अभ्युदय भी अवश्य रहता है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि जिस प्रकार दिन में रहती हुई भी चन्द्रिका (चान्द्र प्रकाश) सौर प्रकाश से अभिभूत होती हुई स्वस्वरूप से तिरोहित रहती है एवमेव अभ्युदय में रहने वाला भी प्रत्यवाय अभ्युदय से तिरोहित हो जाता है। एवमेव प्रत्यवाय में रहने वाला भी अभ्युदय प्रत्यवाय से दबता हुआ स्वशक्ति से तिरोहित हो जाता है। इसीलिए शास्त्रों ने **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः** इत्यादि रूप से प्रवृत्तिमूलक अभ्युदयसाधक कर्म्म एवं तज्जनित स्वर्गादिफलों को अशाश्वत माना है। **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति** यह सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। यदि अभ्युदय में प्रत्यवाय का जरा भी अंश न रहे तो वह अभ्युदय अभ्युदय न रह कर निःश्रेयसभाव का कारण बन जाय। इसी प्रकार प्रत्यवाय में से अभ्युदय एकान्ततः निकल जाय तो वह प्रत्यवाय तत्क्षण मृत्यु का कारण बन जाय। यही तो द्वन्द्वभाव का रहस्य है। सुख-दुःख मिश्रित है। आत्यन्तिक सुख में ऊर्ध्वगमनमूल अभ्युदय नहीं है, अपितु भूमोदर्करूप समवलयभाव है। न **तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते**। आत्यन्तिक दुःख में भी गमन नहीं है। तत्काल प्राणविमोक है। जिन्हें आप सुखी समझते हैं, विश्वास कीजिए! वहाँ दुःख मूलभूमिका बना हुआ है। साथ ही में दुःखी मनुष्य की मूलभूमिका सुख बना हुआ है। बात अवश्य ही असम्बद्ध सी प्रतीत होती है। परन्तु जरा विचार करने पर सर्वत्र आपको उक्त द्वन्द्वभाव का सहावस्थान प्रतीत हो जाएगा।

उक्त अभ्युदय एवं प्रत्यवायमीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रवृत्तिमूलक कर्म्मकाण्ड में जहाँ अभ्युदय होता है, वहाँ प्रत्यवाय का भी समावेश है। एवं निवृत्तिमूलक ज्ञानकाण्ड में न अभ्युदय (सांसारिकसुख) है न प्रत्यवाय है, केवल निःश्रेयसभाव है। हमें आवश्यकता उस काण्ड की है जिसमें रहते हुए हम अभ्युदय से तो वंचित न हों और उस अभ्युदय में प्रत्यवाय रहे नहीं। संसार भी न छूटे, संसार में लिप्त भी न हों ? वैभव रहे, वैभव का लेप न रहे। यह बात न सांख्यनिष्ठा से हो सकती है, न कर्मनिष्ठा से। एक तरफ कोरा वैभव है, दूसरी तरफ वैभव का उच्छेद है। हम मुक्त हो गए, परन्तु संसार का हमने क्या उपकार किया ? उपकार वह उपकार है जिससे हम भी उपकृत हों एवं संसार भी उपकृत रहे। ऐसी निष्ठा है एकमात्र बुद्धियोगलक्षण निष्काम कर्म्मयोग। कामना-परित्याग है, इसलिए तो इसमें प्रत्यवाय का लेश नहीं है। कर्म्म है—इसलिए अभ्युदय का नाश नहीं है। हम काम करेंगे तो उसका फल अवश्य मिलेगा। परन्तु यह फल विशुद्ध अभ्युदयरूप होगा। ज्ञानकर्म्म के समुच्चित भावात्मक इस बुद्धियोग को कौन श्रेष्ठ न कहेगा ? भगवान् यह भी नहीं चाहते कि तुम सब छोड़छाड़ कर जंगल में चले जाओ। भगवान् यह भी पसन्द नहीं करते कि तुम विषयों में लिप्त हो जाओ। मध्यमवृत्ति के प्रवर्त्तक भगवान् उपदेश द्वारा एवं अपने जीवन से हमारे सामने यही आदर्श उपस्थित कर रहे हैं कि तुम कामना संन्यासी बनो, कर्म्मयोगी बनो। कामना का परित्याग करो, प्रत्यवाय न रहेगा। कर्म्म का ग्रहण

करो, अभ्युदय का नाश न होगा। जिज्ञासु प्रश्न कर सकता है कि काममय कर्म्म शीघ्र ही पूरा हो जाता है। विध्यनुसार कर्म्म किया कि फल मिला। परन्तु बुद्धियोगनिष्ठा को सिद्ध करने में न मालूम कितना समय लगेगा ? जब तक पूर्णनिष्ठा न होगी तब तक बुद्धियोग शान्ति का कारण न बनेगा। परिणाम इसका यह होगा कि निष्काम कर्म्म में प्रवृत्त होने से काम्यकर्म्म भी हाथ से निकल जाएगा। न इधर के रहेंगे न उधर के। इस भय का निराकरण करते हुए, भगवान् कहते हैं कि भूलते हो ? बुद्धियोगधर्म्म का थोड़ासा भी अनुसरण बड़े-बड़े भयों से तुम्हारा त्राण कर सकता है। जितना करते हो वह कभी व्यर्थ न जाएगा। पूर्णसिद्धि पर तो परा शान्ति मिलेगी ही परन्तु इस मार्ग के थोड़े भी अभ्यास से तुम्हें अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। यह ठीक है कि एक गिलास पानी ही हमारी प्यास बुझाता है। परन्तु विश्वास करो ! हजारों जलबिन्दुओं के समन्वय से ही ग्लास भरता है। जो शान्तिधर्म्म पूरे ग्लास में है वह एक बिन्दु में भी है। तेजाब की शीशी यदि सारा शरीर जला सकती है तो उसकी एक बूंद थोड़े प्रदेश को जला सकती है। ऐसी स्थिति में आंशिक बुद्धियोग को भी कभी व्यर्थ नहीं माना जा सकता। इसका थोड़ा अभ्यास भी तुम्हारे में अपूर्व परिवर्त्तन कर देगा।

प्रकारान्तर से अभिक्रम-प्रत्यवाय भावों का विचार कीजिए। प्रश्न उपस्थित होता है कि जब प्रत्यवाय का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अभ्युदय है, तो फिर भगवान् ने अभ्युदय शब्द का प्रयोग न कर इसके स्थान में "अभिक्रम" शब्द क्यों प्रयुक्त किया ? ऐसा करने का कुछ मुख्य उद्देश है। कर्म्म के सांतानिक (प्रावाहिक) रहस्य को सूचित करने के लिए ही भगवान् ने **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** यह कहा है। कर्म्मतत्त्व को **कर्म्म-मीमांसा** के अनुसार **पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ** भेद से दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। जिस कर्म्म से कर्म्मकर्त्ता पुरुष का उपकार हो, वह पुरुषार्थ कर्म्म है। एवं जिस कर्म्म से पुरुषार्थ कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न हो–वह क्रत्वर्थ कर्म्म है। उदाहरण के लिए **"रसोई बनाना"** एक पुरुषार्थकर्म्म है। कारण, इस रसोई से हमारी तृप्ति होती है। रसोई का सम्पादन करने के लिए, अवान्तर अनेक कर्म्म करने पड़ते हैं। **आटा-दाल-नमक-मिर्च-लकड़ी-चूल्हा-तवा-बेलन** आदि अनेक सामग्रियों के अनेक कर्म्मों से रसोई तैयार होती है। रसोई क्रतु (मुख्य कर्म्म) है। इसके लिए ये कर्म्म हैं, अतः इन्हें **क्रत्वर्थ** कहना न्यायसंगत होता है। पुरुषार्थ कर्म्म भी असंख्य हैं, एवं क्रत्वर्थ कर्म्मों के आनन्त्य का तो कुछ कहना ही नहीं है।

जिन क्रत्वर्थ कर्म्मों की समष्टि से एक पुरुषार्थ कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है, उन क्रत्वर्थ कर्म्मों को तो **'प्रक्रम'** कहा जाता है। एवं जिन कर्म्मों से एक-एक क्रत्वर्थ कर्म्म की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, उन्हें **'विक्रम'** कहा जाता है। दो विक्रमों से एक प्रक्रम बनता है। ऐसे अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का स्वरूप निश्चित होता है। ऐसे अनेक अभिक्रमों से एक **'व्यूह'** का स्वरूप सम्पन्न होता है। पुरुषार्थ कर्म्मों की राशि **'व्यूह'** है। क्रत्वर्थ कर्मों की राशि **अभिक्रम** है। विक्रमों की समष्टि प्रक्रम है। तात्पर्य यह है कि कर्म्म का विकास आत्मा के क्रियाशीलधन **प्राण** से होता है। प्राण ही सुप्तावस्था में बल कहलाता है। कुर्वद्रूपावस्था में **प्राण** कहलाता है। एवं निर्गच्छत् अवस्था में **क्रिया** किंवा **कर्म्म** कहलाता है ! प्राण का क्रिया-भाव **आदान-विसर्ग** इन दो भावों से नित्य आक्रान्त रहता है। जैसा कि **विसर्गः कर्म्म संज्ञितः** इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। **अर्वाग्गति** आदान है। **पराग्गति** विसर्ग है। पीछे हटना

अर्वाग्गति है, आगे बढ़ना परागति है । इन्हीं दोनों भावों के लिए श्रुति में **'अपानत्-प्राणत्'** शब्दों का व्यवहार किया गया है । पीछे हटना अपानत् है । आगे बढना प्राणत् है । दोनों मिल कर एक गति है । दूसरे शब्दों में प्रत्येक गति में उक्त दोनों भावों का समावेश रहता है । बिना प्राणत् का सहारा लिए अपानत् क्रिया नहीं हो सकती, बिना अपानत् के प्राणत् क्रिया असम्भव है । आप मार्ग में चलते हुए दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं । एक पैर पीछे रहता है, तब दूसरा आगे बढ़ता है । दूसरा पैर आगे जाता है, तब एक पैर पीछे आता है । बिना ऐसा किए आप चल ही नहीं सकते । एक पहलवान दौड़ लगाता है । दौड़ लगाना प्राणत् व्यापार मान लीजिए । मान लीजिए–यह इसलिए कहना पड़ता है कि उस दौड़ में भी प्राणात्-अपानत् दोनों हैं । इस माने हुए प्राणत् व्यापार के संचार के लिए पहलवान को पहले दो चार कदम पीछे हटना पड़ता है । यही इसका अपानत् व्यापार है । बिना इसका आश्रय लिए यह दौड़ ही नहीं सकता । यही अवस्था श्वास-निश्वास की है । सूर्य्य की धूप में आप प्राणत्–अपानत् का साक्षात्कार कर सकते हैं । जिस स्थान पर धूप-छाया का सम्मेलन हो, वहाँ पर दृष्टि डालिए । धूप एवं छाया के ठीक मध्य में एक काली रेखा खैंच दीजिए । आप देखेंगे कि थोड़े ही समय में धूप जरा आगे चली जाएगी, परन्तु तत्काल ही उसे थोड़ा पीछे भी हटता पावेंगे । इस प्रकार धूप पीछे हटती हुई आगे बढती दिखलाई देगी । यह प्राणत्-अपानत् के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । सूर्य-रश्मि में ऐसी ही गति है । इसीलिए श्रुति को **'अस्य प्राणदपानती'** यह कहना पड़ा है । ट्रेन आगे बढने से पहले जरा पीछे हटेगी । फिर आगे बढेगी । एन्जिन के अग्रभाग का चक्का पीछे चलता हुआ आगे बढ़ता है । निदर्शनमात्र है । प्राणदपानत् ही क्रिया का मौलिक स्वरूप है । जहाँ भी जो भी क्रिया होगी उसमें प्राणत्-अपानत् दोनों का समन्वय मिलेगा । इस द्वन्द्व की प्रवृत्ति का कारण है, समभाव । जिस बिन्दु से प्राणत्-अपानत् ये दो स्रोत निकलते हैं, वह उस क्रियात्मक प्राण का केन्द्र है । इस केन्द्रबल की प्राप्ति के लिए एक ही प्राण की प्राण-अपान ये दो अवस्थाएँ हो जाती हैं । बिना हृद्बलाधान के न पीछे गति हो सकती, न आगे गति हो सकती है । छोटे बडे जितने भी कर्म्म हैं, सबकी मूलभूमि प्राणदपानल्लक्षण यही मूल कर्म्म है ।

इसी मूलकर्म्म को विज्ञान-भाषा में **विक्रम** कहा जाता है । सुनते हैं–ऐसी तीन गतियों से (तीन विक्रमों से) विष्णु ने त्रैलोक्य पर अपना प्रभुत्व जमा रखा है । इसीलिए यह विष्णु **'विक्रमावतार'** नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं । आटा गूँदना एक क्रत्वर्थ कर्म है । इसमें प्राणापान रूप अनेक विक्रमों का समूह है । दार्शनिक विद्वान् इसी विक्रमरूपा मूलक्रिया को **'गुण'** कहा करते हैं । ऐसे गुणभूत अनेक अवयवों के बौद्ध-अभेद से एक-एक क्रिया बनती है । जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।। (वाक्यपदीय) ।

अनेक विक्रमों से सम्पन्न एक-एक क्रिया एक-एक क्रत्वर्थ है । इसे ही वैदिक विज्ञान-भाषा में **प्रक्रम** कहा जाता है । क्रत्वर्थरूप ऐसे अनेक प्रक्रमों से एक पुरुषार्थ कर्म्म (रसोई) सम्पन्न होता है, इसे ही विज्ञान-भाषा में **अभिक्रम** कहा जाता है । गति-दृष्टान्त से तीनों का समन्वय देखिए । आप अपने घर से रामनिवास

बाग जाते हैं । घर से जब आप राम-निवास बाग पहुँच जायेंगे तब आपका एक पुरुषार्थ कर्म्म सम्पन्न होगा । इसकी सिद्धि के लिए आपको घर से राम-निवास बाग तक अनेक बार पैर उठाने एवं रखने पड़ेंगे । जिसे लोक-भाषा में **पांवड़ा** कहते हैं, वही हमारा प्रक्रम है । एक पैर उठा कर आगे रखा, फिर पिछला पैर उठा कर आगे रक्खा, इन दो पाद-स्थानों की समष्टि एक प्रक्रम किंवा एक पांवड़ा कहलाएगा । आपकी उस पुरुषार्थगतिरूप अभिक्रम में ऐसे क्रत्वर्थरूप अनेक प्रक्रम पूरें हो लेंगे तब अभिक्रमरूप पुरुषार्थ कर्म्म निष्पन्न होगा । प्रत्येक प्रक्रम में आपके शरीर में अनेक बार प्राणदपानत् व्यापार होता है । अनेक प्राणदपानत् से ही एक प्रक्रम बनता है । प्रक्रम-अभिक्रम सर्वत्र प्राणदपानत् रूप मूलगति का ही आप विकास देखेंगे । हाँ, इसका सूक्ष्मतम रूप अवश्य ही अचिन्त्य है । स्थूल-भाव में आने पर ही (प्रक्रम अभिक्रमरूप में, परिणत होने पर ही) इस प्राणदपानद् के दर्शन (सोभी केवल बौद्ध जगत् में ही) होते हैं । पुरुषार्थकर्म्म एक नहीं असंख्य हैं । इन सब पुरुषार्थकर्म्मों की समष्टि को ही हम **'कर्म्म-व्यूह'** कहेंगे । यह क्रियात्मक सम्पूर्ण विश्व उस विश्वेश्वर का कर्म्म-व्यूह ही तो है । यही वैज्ञानिकों का **कर्म्मगिरि** (कर्म्म का पहाड़) एवं **कर्म्माश्वत्थ** (कर्म्मों का वृक्ष) है । इस कर्माश्वत्थ के अतिरिक्त एक **ब्रह्माश्वत्थ** और है, इसका विशद निरूपण स्वयं भगवान् के द्वारा अश्वत्थविद्या में होने वाला है । अभी इस सम्बन्ध में केवल यही समझ-लेना पर्याप्त होगा कि ब्रह्माश्वत्थको ब्रह्मगिरि कहा जाता है । कर्म्माश्वत्थ कर्म्मगिरि नाम से प्रसिद्ध है । एवं दोनों की समष्टि ही ईश्वर-प्रजापति है । कर्म्माश्वत्थ ईश्वर का **शरीर** है, ब्रह्माश्वत्थ आत्मा है । यही अवस्था जीव-प्रजापति में समझनी चाहिए । अन्तर दोनों में (ईश्वर एवं जीव में) केवल इतना ही है कि ईश्वर में **ब्रह्माश्वत्थरूप** ज्ञानव्यूह, एवं कर्म्माश्वत्थरूप कर्म्मव्यूह दोनों समभावापन्न हैं । इसी समत्वयोगलक्षण बुद्धियोग के प्रभाव से ईश्वरप्रजापति **'सोऽकामयत स तपोऽतप्यत सोऽश्राम्यत्'** इस सिद्धान्त के अनुसार नित्य **सकाम-सकर्म्म—सार्थ** रहता हुआ भी नित्य निष्काम, निष्कर्म्म अर्थासंस्पृष्ट है । इधर जीव-प्रजापति ने अपने प्रज्ञापराध से आसक्तिवश कर्म्मव्यूह को प्रधान बना रक्खा है । दूसरे शब्दों में इसमें कर्म्माश्वत्थलक्षण कर्म्म-व्यूह की प्रधानता है इसी विषमता से बुद्धियोग से च्युत यह जीव दुःखार्णव में निमग्न रहता है ।

ब्र	१.............. कर्म्मव्यूहः (असंख्यपुरुषार्थकर्म्मणां समुच्चयः)........ व्यूहः	क
ह्मा	२.........पुरुषार्थकर्म्म (असंख्यक्रत्वर्थकर्म्मणां समुच्चयः)........अभिक्रमः	र्मा
श्व	३.........क्रत्वर्थकर्म्म (असंख्यप्राणात्मककर्म्मणां समुच्चयः)....प्रक्रमः	श्व
त्थः	४.........प्राणदपानत्कर्म्म (गतिलक्षणप्राणात्मकं कर्म्म) .. विक्रमः	त्थः

प्रवृत्तिमूलक ज्ञानगर्भित कर्म्म से बुद्धिसहकृतमन पर आसक्तिभाव से कर्म्मों का संस्कार होता है । विक्रम कर्म्मों से सम्पन्न क्रत्वर्थरूप प्रक्रम कर्म्मों से निष्पन्न होने वाले अभिक्रम रूप अनेक पुरुषार्थ कर्म्मों की समष्टिरूप कर्म्मव्यूहसंस्कार अन्तःकरण में प्रतिष्ठित रहता है । कर्म्मवत् ज्ञानजनित संस्कार-व्यूह भी

इसी प्रकार प्रतिष्ठित रहता है। ज्ञानजनित संस्कार भावना है। इसकी मूलप्रवर्तिका ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कर्म्म-जनित संस्कार वासना है। इसका मूल आधार कर्म्मेन्द्रियां हैं। इन्हीं सांस्कारिक कर्म्मों की कृपा से जीवात्मा जन्म-मृत्युलक्षण द्वन्द्वभावों से आक्रान्त रहता है। यही द्वन्द्व इसके दुःख का प्रधान निमित्त है। साधारण दृष्टि से विचार करने पर सहसा हम यह मान बैठते हैं कि इस दुःखमूलक द्वन्द्व का कारण कर्म्म ही है। इसीलिए सांख्यों ने कर्म्मपरित्याग का आदेश दे डाला है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह मालूम होगा कि कर्म्मबन्धन बन्धन का कारण है। इसके उच्छेद के लिए निष्काम कर्म्म का ही आश्रय अपेक्षित है। सकाम कर्म्म में क्या होता है?- पहले इसका विचार कीजिए। आत्मा में कर्म्मव्यूह प्रतिष्ठित है। जब तक यह सांसारिक कर्म्मव्यूह किंवा संस्काररूपा आसक्ति एकान्ततः न हट जाएगी, तब तक कभी शाश्वतशान्ति का उदय नहीं होता। विशुद्ध ज्ञान-योग में संस्कार हटाने का कोई उपाय नहीं है। क्यों कि ज्ञान स्वरूप से निष्क्रिय है। कर्म्म ही कर्म्मसंस्कार को हटा सकता है, ज्ञान नहीं हटा सकता। कर्म्ममार्ग (प्रवृत्तिमार्ग) में कम से कम लौकिक वैभव तो मिलता रहता है। दूसरे शब्दों में प्रत्यवाय के साथ-साथ अभ्युदय तो मिलता है, परन्तु यहाँ अभ्युदय का भी उच्छेद है। एवं प्रत्यवाय (सांस्कारिक कर्म्म) ज्यों का त्यों विद्यमान है। इसीलिए उपनिषत् ने कर्म्ममार्ग की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान-मार्ग को विशेष निन्दनीय ठहराया है, जैसा कि ऋषि कहते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥[1]

और सूक्ष्मदृष्टि से विचार कीजिए। ज्ञानमार्ग में अभिक्रम का तो नाश नहीं है। परंतु प्रत्यवाय मौजूद है। कारण, जो पुरुषार्थ कर्म्म एक बार चल पड़ा, **'प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः'** इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान-योग हो, बुद्धि-योग हो अथवा कर्म्म-योग हो प्रत्येकदशा में उसका भोग तो करना ही पड़ेगा। इस अभिक्रम की दृष्टि से तीनों योग समान हैं। परन्तु प्रत्यवाय की दृष्टि से तीनों में तारतम्य है। प्रत्यवाय से प्रत्यवायमूलक-सांस्कारिक कर्म्म ही अभिप्रेत हैं। ज्ञानयोग में जिस अभिक्रम (पुरुषार्थ-कर्म्म) का भोग आरम्भ हो गया, उसे तो छोड ही दीजिए। बाकी बचे हुए अनारब्ध प्रत्यवाय रूप पुरुषार्थ कर्म्मों को (सिवाय अभिक भोग के) हटाने का कोई उपाय नहीं है। इसके अतिरिक्त कर्म्म छोडा नहीं जा सकता, एवं उसके लिए व्यर्थ का प्रयास किया जाता है। फलतः इस प्रयासरूप निरर्थक कर्म्म से संचित प्रत्यवायों के अतिरिक्त नवीन-नवीन प्रत्यवाय और उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार **ज्ञान-योगपक्ष में अभिक्रम का नाश नहीं, अभ्युदय का उदय नहीं, प्रत्यवाय का निरोध नहीं।** प्रायः यही अवस्था कर्म्मयोग की समझिए। कर्म्म में प्रारब्ध कर्म्मरूप अभिक्रम का तो भोग होता ही रहता है। साथ ही में सकाम कर्म्मों से प्रत्यवायगर्भित अभ्युदय-कर्म्मों का उदय भी होता रहता है। इस प्रकार अभ्युदय के साथ-साथ प्रत्यवाय भी आता रहता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रकार **कर्म्मयोग पक्ष में अभिक्रम का नाश नहीं, प्रत्यवाय का अभाव नहीं, अभ्युदय का अवरोध नहीं।**

---

१ ईशोप० ९।

हम चाहते क्या हैं ! सुनिए । संचित कर्म्म (संस्कार) नष्ट हो जायँ । अभ्युदयमूलक कर्म्मों को छोड़ें नहीं, उनका प्रत्यवायरूप पाप्मा रहे नहीं । सचमुच कर्म्मसंस्कार से दूसरे शब्दों में कर्म्मबन्धन से मुक्त होने के लिए इस इच्छा के अतिरिक्त और क्या इच्छा हो सकती है ? ऐसा उपाय है एकमात्र **बुद्धि-योग, निष्काम कर्म्मयोग** । इससे संचित कर्म्मसंस्कार जल जाएंगे, जो कर्म्म करेंगे, अनासक्ति भाव के कारण उनका लेप न होगा । इस प्रकार तन्मूलक किंवा तद्रूप प्रत्यवाय भी नहीं रहेगा । हाँ, अभिक्रम का नाश इस योग में भी न होगा । प्रारब्ध-कर्म्म का तो भोग ही करना पड़ेगा । इस प्रकार प्रारब्धरहित संचित का नाश, प्रारब्ध का भोग, आगतकर्म्मलेप का अवरोध-येही तो सब बुद्धियोग की विशेषताएं हैं । भगवान् कहते हैं कि इस बुद्धियोगनिष्ठात्मक निष्काम कर्म्म से तुम यह चाहो कि अभिक्रम (प्रारब्ध-कर्म्म) का भी नाश हो जाय, सो तो संभव नहीं । हां, हम तुम्हें यह विश्वास दिलाते हैं कि संचित संस्काररूप प्रत्यवाय एवं आगत प्रत्यवाय का लेश भी न रहेगा । प्रारब्ध-भोग का भोग तुम्हें प्रत्येक दशा में करना पड़ेगा । यदि प्रत्यवाय से बचना चाहते हो तो इस बुद्धियोग का आश्रय लो । यही इसकी अन्ययोगापेक्षया श्रेष्ठता पूर्णता एवं विलक्षणता है ।

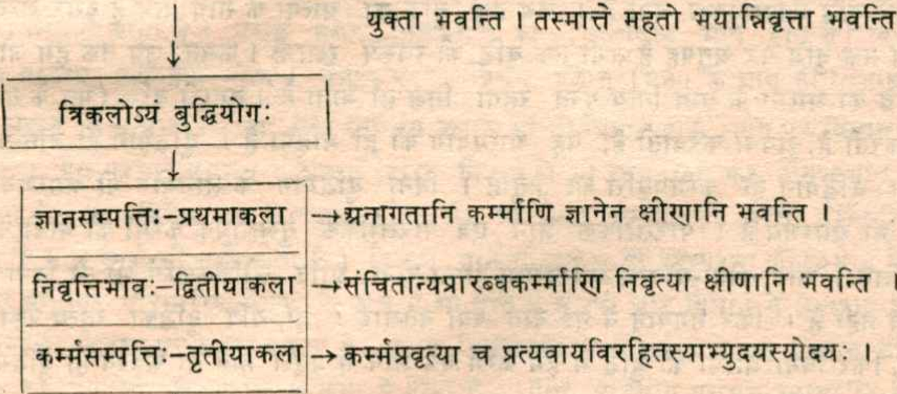
अथवा प्रकारान्तर से श्लोकार्थ की संगति लगाइए । अभिक्रम पुरुषार्थ कर्म्म है । एक कर्म्मठ अभ्युदयप्राप्ति के लिए अभिक्रमरूप कर्म्म करता है । इस पुरुषार्थकर्म्म से इसे अभ्युदय प्राप्त भी होता है । परन्तु पूर्वकथनानुसार इस कामप्राप्त अभ्युदय में प्रत्यवाय भी विद्यमान रहता है । अन्न है परन्तु विषसंपृक्त है । कर्म्म है परन्तु प्रत्यवायसंपृक्त । अथवा अभ्युदय है परन्तु प्रत्यवाययुक्त । इस प्रत्यवाय से बचने के लिए ही तो सांख्यों ने कर्म्मपरित्याग का डिण्डिमघोष किया था । उनका कहना था कि जिस अभिक्रम से प्रत्यवाय की आशंका है, उस अभिक्रम को ही छोड़ दो न । न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी । परन्तु यह इनका घोष ही घोष है । अभिक्रम (कर्म्म) का भी कभी नाश हुआ है । न बांस का अभाव होगा न बांसुरी का बजना बन्द होगा । केवल इतना ही कहना है । बडी जटिल समस्या है । कर्म्म नहीं करें यह सम्भव नहीं । करते हैं तो प्रत्यवाय लगता है । फिर क्या करें ? भगवान् कहते हैं-"**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव**" बुद्धियोग बडा ही अद्भुत योग है । इसमें बाँस रहेगा परन्तु बाँसुर न बजेगी । अभिक्रम का नाश न होगा कर्म्म में योग रहेगा परन्तु आसक्तिमूलक प्रत्यवाय न रहेगा । "**इस प्रकार नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति०**" इत्यादि से भगवान् वक्ष्यमाण "**न करोति न लिप्यते**" इसी सिद्धान्त की ओर संकेत कर रहे हैं । बुद्धियोग में ज्ञानकर्म्म-निवृत्ति तीनों का समावेश है । ज्ञान-सम्बन्ध से यही **ज्ञान-निष्ठा** है, कर्म्म-सम्बन्ध से यही **कर्म्म-निष्ठा** है, एवं निवृत्ति-सम्बन्ध से यही **योग-निष्ठा** है । बुद्धियोगस्थ ज्ञान से आगामी कर्म्म क्षीण हो जाते हैं । जैसा कि "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि**" इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट हो जाएगा । निवृत्ति-भाव से संचित किन्तु अप्रारब्ध-कर्म्मों का नाश हो जाता है, कर्म्मभाव से अभ्युदय सुरक्षित रहता है । संचित प्रारब्ध कर्म्मों का क्षय एकमात्र भोग पर ही निर्भर है । इस प्रकार बुद्धि-योगनिष्ठा से सब कुछ गतार्थ हो जाता है । कर्म्मनिरत ज्ञान-सम्पत्ति से रहित है, इस लिए यह अन्धकार में हैं । ज्ञान-निरत कर्म्म, ज्ञान दोनों विभूतियों से वञ्चित है, इस लिए यह कर्म्मठों से भी गहरे अन्धकार में प्रविष्ट है । दोनों के समन्वितरूप बुद्धि-योग से ही अभ्युदय-निःश्रेयसभाव प्राप्त हो सकता है । अभियुक्तों ने धर्म्म का "**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः**" यह लक्षण दिया है ।

यहां **"धर्म्मः"** शब्द से **ज्ञानकर्म्मसमष्टि** लक्षण बुद्धियोग-धर्म्म का ही ग्रहण करना चाहिए। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए भगवान् ने अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षण बुद्धियोग को **"स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्"** इत्यादि रूप से **धर्म्म** शब्द से सम्बोधित किया है।

१-कर्म्मनिरताः कर्म्मठाः — ज्ञानसम्पत्तिविरहिता भवन्ति, निःश्रेयसभावेन पराङ्मुखाः तस्मात्ते **"अन्धं तमः प्रविशन्ति"**।

२-ज्ञाननिरताः-ज्ञानिनः — ज्ञान-कर्म्मणी-उभे परित्यजन्ति, निःश्रेयसभावेन, अभ्युदयभावेन च पराङ्मुखाः। तस्मात् (उभयसंपत्तिविरहात्) **"भूय-इव तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति"**।

३-बुद्धियोगनिरता-योगिनस्तु — ज्ञान-कर्म्मग्राहकाः सन्तो निःश्रेयसभावेन, अभ्युदयभावेन च युक्ता भवन्ति। तस्मात्ते महतो भयान्निवृत्ता भवन्ति।



संचितानि तु प्रारब्धकर्म्माणि भोगादेव क्षीणानि भवन्ति

प्रारब्धकर्म्मणांभोगादेवक्षयः

इत्याहुः

इति नु बुद्धियोगरहस्यम्



३–व्यवसायात्मिका बुद्धिः -

"**ज्ञानयोग**" पृथक् निष्ठा है। **कर्म्मयोग** एक स्वतन्त्र ही निष्ठा है। **भक्तियोग** निष्ठा कोई निराला ही काम है। इन तीनों में भी अवान्तर कितने ही शाखा भेद हैं। यह समझना भी बुद्धि का ही है। इन "तीनों की समष्टिरूप बुद्धियोग एक वस्तु है।" यह समझना भी बुद्धिका ही व्यापार है। समझ में ही तो अन्तर है। एक समझ हमारे आत्मा को नानाभाव से आक्रान्त करती है। एक समझ हमें एकत्वामृत का आस्वादन कराती है। एक ही बुद्धि (समझ) के इन दो विरुद्ध भावों के लिए भगवान् ने **व्यवसाय, अव्यवसाय** शब्दों का प्रयोग किया है। ज्ञानयोग भी ठीक नहीं, कर्म्मयोग भी ठीक नहीं। उत्तम है, उभयलक्षण बुद्धियोग। बुद्धियोग का तात्पर्य्य है–बुद्धि का आत्मा के साथ योग करके आत्मयुक्ता बुद्धि की प्रेरणा से कर्म्म करना। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं। पहला प्रश्न तो यही है कि बुद्धि में जो ज्ञानरूप प्रकाश देखा जाता है, वह आत्मा की ही विभूति है। आत्म प्रकाश से ही तो बुद्धि प्रकाशयुक्ता बनी है। जब तक बुद्धि का आत्मा के साथ योग है दूसरे शब्दों में आत्मा का जब तक बुद्धि पर अनुग्रह है तभी तक बुद्धि की स्वरूप रक्षा है। फलतः जब तक हम जीवित हैं तब तक बुद्धि का आत्मा के साथ नित्य युक्त रहना सिद्ध हो जाता है। हमारी बुद्धि (मन के द्वारा) जो भी काम करती है, अथवा करवाती है, वह आत्मयोग की ही महिमा है। बुद्धियोग ही ज्ञान-प्रवृत्ति का कारण है। बुद्धियोग ही कर्म्मप्रवृत्ति का हेतु है। बिना बुद्धियोग के ज्ञानयोग भी असम्भव है। एवं कर्म्मयोग भी असम्भव है। पारलौकिक ज्ञान एवं पारलौकिक सुखसाधक कर्म्मों को थोड़ी देर के लिए जाने दीजिए। **खाना-पीना-सोना-उठना-चलना-हंसना-रोना** आदि लौकिककर्म्म भी तो बिना बुद्धि योग के सम्भव नहीं हैं। फिर भगवान् ने नई बात क्या बतलाई ? हाँ, यदि बुद्धिका आत्म-प्रकाश से योग न रहता, फिर बिना आत्मा की बुद्धि से हम कर्म्म एवं ज्ञान में प्रवृत्त होते तो अवश्य ही बुद्धियोगोपदेश एक अपूर्व बात थी।

दूसरा प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि सांसारिक कर्म्मों में आसक्त रहने वाला व्यक्ति अनासक्तिलक्षण बुद्धियोग के अनुगमन में कैसे समर्थ हो सकता है ? आपने "तुम आसक्ति छोड़कर ज्ञान-कर्म्म का समन्वय करते हुए कर्म्म करो" यह कह दिया, हमने सुन लिया। परन्तु इस कहने सुनने से लाभ क्या हुआ ? बुद्धि फल-कामासक्ति छोड नहीं सकती, आपका उपदेश कोई उपकार नहीं कर सकता। फलतः कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञान-योग निष्ठा ही हमारे लिए श्रेयःपन्थाः रह जाता है। इन्हीं सब आशंकाओं का निवारण-करने के लिए भगवान् को **व्यवसायात्मिका बुद्धिः** इत्यादि कहना पड़ा है।

कौन कहता है कि बुद्धि का आत्मा के साथ नित्य योग नहीं है ? यह भी कौन कहता है कि बिना बुद्धियोग के ज्ञान-कर्म्म का संचालन हो जाता है ? अवश्य ही बुद्धि आत्मा के साथ नित्य युक्त है। अवश्य ही सभी ज्ञान-कर्म्म बुद्धियोगपूर्वक ही होते हैं। यह सब ध्रुव सत्य होने पर भी हमें विवश हो कर कहना पड़ेगा कि ऐसा बुद्धियोग न बुद्धियोग है। एवं न ऐसे बुद्धियोग से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-कर्म्म बुद्धियोगसहकृत हैं। **अवश्य ही किसी कारणविशेष से** हमें यह वदतोव्याघात करना पड़ रहा है। इस व्याघात-समन्वय के लिए निम्नलिखित आत्मविवर्त्त का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

मूलात्मा के तूल विवर्त्त (अध्यात्म-संस्था की अपेक्षा से) १ त्रिवेदमूर्ति **अव्यक्त** २ त्रिगुणमूर्ति **महान्**, ३ त्रितत्त्वमूर्ति **विज्ञान (बुद्धि)** ४ **त्रिमात्रमूर्ति प्रज्ञान**, ५ त्रिधातुमूर्ति-**प्राण**, एवं ६ त्रिशरीरमूर्ति **भूत**, इन ६ भागों में विभक्त हैं। सातवा विवर्त्त भूत भौतिक रूप-**विषय** प्रपंच है। इन सातों में विषय, भूत, प्रज्ञान, महान्–ये पांच विवर्त्त संसृष्टिप्रधान बनते हुए संगधर्म्मा हैं, आसक्ति धर्म्मा हैं। **अव्यक्त** और **विज्ञान** प्राणप्रधान बनते हुए असंगधर्म्मा हैं, अनासक्तिधर्म्मा हैं। महान् ही उस **"अहं"** शब्द वाच्य मूलात्मा की **योनि** है। यही मूलात्मा योगमाया की कृपा से गर्भधारण कर अध्यात्मसंस्था का **साक्षी** बनता है। महान् अपने स्वरूप से शुद्धसत्वमूर्ति है। भूत, प्रज्ञान, विज्ञान के **दर्शपूर्णमास से** इसमें त्रैगुण्यभाव का उदय हो जाता है। इस त्रैगुण्य का असंग-अव्यक्त के साथ, एवं असंग विज्ञान के साथ सम्बन्ध न हो कर ससंग प्रज्ञान एवं भूत के साथ सम्बन्ध होता है। अव्यक्त तो महान् से परे की वस्तु है। उसमें तो त्रैगुण्यभाव का समावेश हो ही कैसे सकता है ? हाँ, विज्ञान अवश्य ही महान् से इधर की वस्तु है। परन्तु विज्ञान के असंग होने से महद्गर्भित असंग आत्मप्रकाश का तो असंग विज्ञान के साथ सम्बन्ध हो जाता है। परन्तु ससंग त्रैगुण्यभाव का (विजातीय भाव होने से) विज्ञान के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होने पाता। त्रैगुण्य का सर्वप्रथम प्रज्ञान (मन) के साथ ही सम्बन्ध होता है। कारण महान् भी सोममय है, एवं चान्द्र सोममय प्रज्ञान भी सोमप्रधान ही है। मन पर विज्ञान प्रतिबिम्बित रहता है। इस परम्परासम्बन्ध से प्रज्ञान द्वारा विज्ञान में भी आगे जा कर त्रैगुण्यभाव का समावेश हो जाता है। यह विशेष रूप से ध्यान रखिए कि प्राथमिक त्रैगुण्य का (महत् सम्बन्धी त्रैगुण्य का) विज्ञान के साथ स्पर्श भी नहीं होता है। विज्ञान मानसत्रैगुण्य से ही परम्परया त्रैगुण्यभाव से युक्त होता है। इस आगन्तुक पारम्परिक त्रैगुण्य के बीच में आ जाने से आत्मा और विज्ञान में अन्तराय हो जाता है। आत्मप्रकाश विज्ञान पर आता अवश्य है, परन्तु त्रिगुणभाव के आकर्षण से उस विज्ञान को उस आत्म-प्रकाश का उपयोग त्रैगुण्य मन के काम में होता है। ऐसा बुद्धियोग सचमुच आत्मदृष्टि से अयोग्य ही कहा जाएगा। इस स्थिति में हम इस परिणाम पर पहुंचे कि आत्मा और बुद्धि के मध्य में रहने वाले त्रैगुण्य-भाव को जब तक न हटाया जाएगा तब तक विशुद्ध बुद्धियोग का उदय न होगा। इस त्रैगुण्य-भाव का मूल जनक है प्रज्ञान मन। फलतः बुद्धियोगप्राप्त्यर्थ पहले मन के त्रैगुण्य भाव को हटाना पड़ेगा। मन भी बेचारा परतन्त्र है। महान् की कृपा से इसमें त्रैगुण्य का उदय हुआ है। फलतः मानस त्रैगुण्य को हटाने के लिए **"चित्त"** नाम से प्रसिद्ध उस महान् का (शुद्धसत्वमूर्ति महान् का) आश्रय लेना पड़ेगा। उस शुद्धसत्व के उदय के लिए अगत्या फिर उसी **"बुद्धि"** (विचार) का आश्रय लेना पड़ेगा। अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा तत्त्वविवेकपूर्वक बुद्धि से पहले यह निश्चय करना पड़ेगा कि महान् द्वारा प्रज्ञान में जो त्रैगुण्य आया है वह महान् का प्रातिस्विक धर्म्म नहीं है। मैंने ही (बुद्धि ने ही) मनको अपना प्रकाश देकर उसे विषयों की ओर प्रवृत्त किया। मेरे प्रकाश से प्रकाशित मन ने मेरा एवं विषयों का सहयोग लेते हुए दर्शपूर्णमास द्वारा पहले तो महान् में त्रैगुण्य उत्पन्न कर दिया फिर आप भी उससे युक्त हो गया, एवं मुझ पर भी उसी मन ने त्रैगुण्य की छाप लगाई। इन सब की जड़ में (विज्ञान बुद्धि) ही तो है। इस प्रकार के चिरकालिक अभ्यास एवं तत्त्वविवेकलक्षण वैराग्य से बुद्धि द्वारा महान् रूप चित्त में सत्त्व का विकास होगा। सत्त्वविकास से महान् का त्रैगुण्य विलीन हो जाएगा। फलतः मन

अपने आप त्रिगुणविरहित हो जाएगा। बुद्धि शुद्धसत्त्वानुगामिनी बनती हुई आत्मा से योग कर लेगी। ऐसी सात्त्विक बुद्धि से युक्त मन आसक्ति विरहित होता हुआ ही कर्म्म में प्रवृत्त होगा।

आप स्वतन्त्ररूप से मन का कभी विरोध नहीं कर सकते। कारण, मन का त्रैगुण्य अपना त्रैगुण्य नहीं है, अपितु वह महान् की देन है। इसके लिए महद्गत त्रैगुण्यभाव का बुद्धि द्वारा आपको पहले निरोध करना पड़ेगा। बुद्धि तात्विक अन्वेषण करने में कब समर्थ होगी ? इस का उत्तर है **व्यवसाय**। बुद्धि का निर्माण सूर्य्य से हुआ है। **"सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति"** **"मध्ये एकल एव स्थाता"** इत्यादि विज्ञानसिद्धान्तों के अनुसार स्थिरसूर्य्यांशभूता बुद्धि भी स्वस्वरूप से स्थिरभावप्रधाना है। इसी स्थिर भाव को **व्यवसाय** कहा जाता है। व्यवसाय में **"वि"–"अव"–"साय"** ये तीन पद हैं। **"वि"** का अर्थ है **विशेष रूप** से **"अव"** का अर्थ है केन्द्र में, **"साय"** का अर्थ है बैठे रहना। समष्टि का अर्थ है विशेष रूप से **केन्द्र** में प्रतिष्ठा। तद्युक्ता बुद्धि ही व्यवसायत्मिका बुद्धि है। बुद्धितत्त्व को उपाधिभेद से **भग-बुद्धि क्लेश-बुद्धि, व्यवसाय-बुद्धि, अव्यवसाय-बुद्धि** इन चार भागों में विभक्त माना जा सकता है। **धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य** इन चारों की समष्टि **भग-बुद्धि** है। इसी को **विद्या-बुद्धि** (चतुष्टयी) कहते हैं। **अभिनिवेश, अविद्या, राग-द्वेष, अस्मिता** (**अधर्म, अज्ञान, आसक्ति, अनैश्वर्य**) इन चारों की समष्टि **क्लेश-बुद्धि** है। इसी को **अविद्या-बुद्धि** (चतुष्टयी) कहा जाता है। विशुद्ध बुद्धि (सत्त्वप्रधाना अमनस्का बुद्धि) **व्यवसाय-बुद्धि** है। यह एक विधा है। मलिन बुद्धि (त्रैगुण्यप्रधाना समनस्का बुद्धि) **अव्यवसाय-बुद्धि** है। यह अनेकविधा है। व्यवसायबुद्धि **आत्मानुगामिनी** बनती हुई चतुर्विधा भग-बुद्धि की विकासभूमि है। जब तक बुद्धि में व्यवसायधर्म्म का उदय नहीं हो जाता तब तक बुद्धि में भग-सम्पत्ति का उदय नहीं होता। व्यवसाय ही भग की मूल प्रतिष्ठा है। एवमेव अव्यवसायबुद्धि (मन की कृपा से) **विषयानुगामिनी** बनती हुई चतुर्विधा क्लेश बुद्धि की जननी बनती है। जब तक बुद्धि में अव्यवसाय का आगमन नहीं होता, तब तक बुद्धि में क्लेश का भी आगमन सम्भव नहीं है। व्यवसाय एवं तन्मूल भगचतुष्टयी दोनों बुद्धि के स्वरूपधर्म्म हैं। इन्हें न बुद्धि से निकाला जा सकता है, न ये कहीं बाहर से लाए जाते। अपितु-अव्यवसाय, एवं तन्मूला क्लेशचतुष्टयी के आने से बुद्धि के ये स्वाभाविक धर्म्म आवृत हो जाते हैं। **"आवृतं ज्ञानमेतेन दुष्पूरानलेन च"** आगमापायी होने से ही हम इन्हें आगन्तुक किंवा आश्रितधर्म्म कहने के लिए तय्यार हैं।

१—१–भगबुद्धिः (धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्यभेदेन-चतुर्विधा)————→शान्तिजननी।
२—२–क्लेशबुद्धिः (अभिनिवेश-मोह-रागद्वेष-अस्मिताभेदेन चतुर्विधा)→दुःखजननी।
३—१–व्यवसायबुद्धिः (स्वस्वरूपेण-एकविधा)————————→आत्मानुगता।
४—२–अव्यवसायबुद्धिः (विषयानन्त्यभावादनेकविधा)————→विषयानुगता।

———

१–व्यवसायबुद्धिः–अमनस्का विशुद्धा–भगप्रवर्तिका–आत्मानुगता।
२–अव्यवसायबुद्धिः–समनस्का मलिना–क्लेशप्रवर्तिका–विषयानुगता।

———

पूर्व में जिन आत्मविवर्तों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनपर पुनः एकबार दृष्टि डालिए।

१ **परमाकाशान्तर्गत** २ **पुराणाकाश,** तदन्तर्गत ३ **बहिराकाश,** तदन्तर्गत ४ **शरीराकाश** तदन्तर्गत ५ **हृदयाकाश** सर्वान्तर्गत **दहराकाश में सच्चिदानन्दघन आत्मदेवता** (अन्तरंगप्रकृतिभूत आत्मक्षर एवं अक्षरयुक्त अव्यय पुरुष किंवा **गूढोत्मा** नाम से प्रसिद्ध षोडशी पुरुषात्मा) प्रतिष्ठित है। इसके सन्निहित प्राणमूर्ति अतएव सर्वथा असंग **ऋक्, साम, यजुर्म्मय** त्रिवेदमूर्ति अव्यक्तनामापरपर्यायक **शान्तात्मा** प्रतिष्ठित है। मूल आत्मा भी अव्यक्त है, इधर शान्तात्मा भी अव्यक्त है। दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसके पीछे **सत्त्व, रजः, तमोमयत्रिगुणमूर्ति महानात्मा** का नम्बर आता है। यहीं वीध्रसोम के कारण अव्यक्त (शान्तात्मा) विशिष्ट वह मूलात्मा सर्वप्रथम गर्भ धारण करता है। जैसा कि **"ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्"** इत्यादि में स्पष्ट होने वाला है। महान् के अनन्तर **ज्योति-गौ-आयुर्मय त्रितत्त्वमूर्ति विज्ञानात्मा** बुद्धि है। यह प्राणप्रधान होने से अव्यक्तवत् असंग है। इसी के लिए उपनिषत् ने **"असंगो ह्ययं पुरुषः"** यह कहा है। चूंकि यह महानात्मा के सन्निहित है अतः इसमें महद्गत त्रैगुण्य अवश्य आता है। परन्तु इस प्राथमिक त्रैगुण्य का (असंगभाव के कारण) इस पर कोई असर नहीं होता। इस दशा में यह विज्ञान सचमुच महद्गर्भित आत्मा से युक्त होता हुआ **"बुद्धि-योग"** नाम को सार्थक कर रहा है। यही व्यवसायबुद्धि है। विज्ञान के सन्निहित **प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रामय त्रिमात्रमूर्ति प्रज्ञानात्मा** (सर्वेन्द्रिय किंवा अतीन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध चान्द्रमन) है। चान्द्रसोम स्नेहगुणक है। उधर महत्सोम भी स्नेहगुणक है। इसी सजातीयता के कारण महद्गत त्रैगुण्य का प्रज्ञान पर विकसित होने का अवसर मिल जाता है। प्रज्ञानात्मा के अनन्तर **वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञमय** त्रिप्राणमूर्ति प्राणात्मा प्रतिष्ठित है। इसी को कर्म्मात्मा किंवा भोक्तात्मा कहते हैं। मूलात्मा की साक्षी में यह भोक्तात्मा ही इन्द्रिय एवं मन को साथ लेकर भोग एवं कर्म्म में प्रवृत्त होता है। इस कर्म्मात्मारूप रथी का आयतनरूप **स्थूल, सूक्ष्म, कारणमय** त्रिशरीरमूर्ति भूतभाग छठा विवर्त है। इसके अनन्तर सांसारिक भूतभौतिकविषयों का नम्बर आता है। इन्द्रिय-युक्त प्रज्ञान मन को साथ लेकर प्राणात्मा इन विषयों का भोग करता है। बिना इन्द्रिएं एवं मन के प्राणात्मा भोग करने में असमर्थ है। अतएव **आत्मा** (प्राणात्मा)-**इन्द्रिय-मन** इन तीनों की समष्टि को **भोक्तात्मा** कहा जाता है। **"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"** त्रिशरीर मूर्तिशरीर भोगायतन हैं। आत्मेन्द्रियमनःसमष्टि **भोगात्मा** है। बाहर के विषय **भोग** हैं। महत्-अ-व्यक्त विज्ञानयुक्त मूलात्मा भोगसाक्षी है। इसके लिए **"साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च"** यह कहा जाता है। **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति** इत्यादि श्लोकभाष्यप्रतिपादित कर्म्मव्यूहात्मक कर्म्माश्वत्थवृक्ष पर प्रतिष्ठित ये दोनों सुपर्ण क्रमशः साक्षी भोक्ता रूप से अध्यात्मसंस्था के अधिष्ठाता बन रहे हैं। अव्यक्त महद् विज्ञान युक्त मूलात्मरूप **ईश्वर सुपर्ण** (अन्तर्य्यामी) भी उसी वृक्ष पर प्रतिष्ठित है। इन्द्रिय-मन शरीर युक्त प्राणात्मरूप **जीवसुपर्ण** भी उसी वृक्ष पर प्रतिष्ठित है। दोनों अन्तरङ्ग सखा हैं। परन्तु आश्चर्य्य है कि एक उस कर्म्मवृक्ष के फलों को खा रहे है, दूसरा फल खाते हुए को देख रहा है। इसी रहस्य का बडे सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥[1]

१–ऋग्वेद मं० १।१६४।२०

उक्त निदर्शन से पाठकों को यह निश्चय हो गया होगा कि विज्ञानात्मानाम से प्रसिद्ध बुद्धि-भोक्तात्मप्रपंच एवं साक्षी-आत्मप्रपंच के बिलकुल मध्य में प्रतिष्ठित है। होना भी ऐसा ही चाहिए। क्यों कि **यदमुत्र तदन्विह** के अनुसार अध्यात्मजगत् की मूलप्रतिष्ठा-रूप आधिदैविक जगत् का भी तो ऐसा ही स्वरूप है। जो विवर्त जिस क्रम से हमने अध्यात्म में बतलाया है ठीक वही विवर्त वैसा ही क्रम वहाँ भी समझिए। मूलात्मा यहाँ की तरह वहाँ भी समान है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि वह विश्व व्यापक है, यह शरीर व्यापक है। वह **चिदात्मा** नाम से प्रसिद्ध है, यह चिदंश नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ जो अव्यक्त है वहाँ वह **स्वयंभू** है। यहाँ जो महानात्मा है वहाँ वह **परमेष्ठी** है। यहाँ जो विज्ञानात्मा है वहाँ वह **सूर्य्य** है। यहाँ जो प्रज्ञानात्मा है वहाँ वह **चन्द्रमा** है। यहाँ जो भूतात्मा हैं (वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञमूर्ति प्राणात्मा है) वहाँ वह **सर्वभूतान्तरात्मा** (विराट्, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञमूर्ति, प्राणात्मा) है। यहाँ जो शरीर है वहाँ वह **सप्तवितस्तिकाय** रूप भौतिक विश्व है। इस प्रकार **"पूर्णमदः पूर्णमिदम्"** श्रुति सर्वात्मना अन्वर्थ बन जाती है। मूलात्मा को हमने षोडशी कहा है। इसका अव्ययभाग विद्या (ज्ञान) अविद्या (कर्म्ममय) है। इनमें सूर्य्य तक अव्यय का विद्याभाग प्रधान है। सूर्य्य से नीचे-नीचे अव्यय का अविद्या भाग प्रधान है। **"तस्माद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्"**। दोनों का मध्यस्थ सूर्य्य विभाजक है, **जैसा कि "निवेशयन्नमृतंमर्त्यंच" इत्यादि मन्त्र-वर्णन से** स्पष्ट होता है।

षोडशी अमृतम्	१–अव्यक्तात्मा–(ऋग्-यजुः-साममयस्त्रिवेदमूर्तिः)	—साक्षी सुपर्णः
	२–महानात्मा-(सत्व-रजः-तमोमयस्त्रिगुणमूर्तिः)	
	३–विज्ञानात्मा-(ज्योतिः-गौः-आयुर्म्मयस्त्रितत्त्वमूर्तिः)	
पुरुषः मृत्युः	१–प्रज्ञानात्मा-(प्रज्ञा-प्राण-भूतमयस्त्रिमात्रमूर्तिः)	—भोक्ता सुपर्णः
	२–प्राणात्मा-(वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमयस्त्रिधातुमूर्तिः)	
	३–शरीरम्-(स्थूल-सूक्ष्म-कारणमय-त्रिशरीरमूर्तिः)	

१–वेदत्रयी—प्राणाः—**तेषामुक्थंब्रह्मसामआत्मा**—**१–शान्तात्मा।**
२–गुणत्रयी—प्राणाः—तेषामुक्थंब्रह्मसामआत्मा—**२–महानात्मा।**
३–तत्त्वत्रयी—प्राणाः—**तेषामुक्थंब्रह्मसामात्मा**—**३–विज्ञानात्मा।**
१–मात्रात्रयी—प्राणाः—**तेषामुक्थंब्रह्मसामआत्मा**—**४–प्रज्ञानात्मा।**
२–धातुत्रयी—प्राणाः—**तेषामुक्थंब्रह्मसामआत्मा**—**५–प्राणात्मा।**
३–शरीरत्रयी—प्राणाः—**तेषामुक्थंब्रह्मसामआत्मा**—**६–शरीरम्।**

१–पुरुषत्रयी—प्राणाः—तेषामुक्थंब्रह्मसामआत्मा—**गूढोत्मा।**

मूलात्मा षोडशीपुरुषः

१–अव्ययपुरुषः→ज्ञानघनः
२–अक्षरपुरुषः→क्रियाघनः
३–आत्मक्षरपुरुषः→अर्थघनः
} →पुरुषत्रयी–षोडशीपुरुषः–गूढोत्मा–मूलात्मा

↓

तस्यैतस्य त्रिपुरुषपुरुषात्मकस्य मूलात्मनः षड्विवर्तभावास्त्रिकलोपेताः

१–यजुर्वेदः→अव्ययज्ञानप्रधानः
२–सामवेदः→अक्षरक्रियाप्रधानः
३–ऋग्वेदः→आत्मक्षरार्थप्रधानः
} →वेदत्रयी–त्रिकला प्रकृतिः–शान्तात्मा–तूलात्मा (१, १)

१–सत्त्वगुणः→अव्ययज्ञानप्रधानः
२–रजोगुणः→अक्षरक्रियाप्रधानः
३–तमोगुणः→आत्मक्षरार्थप्रधानः
} →गुणत्रयी–त्रिकला प्रकृतिः–महानात्मा–तूलात्मा (२, २)

१–आयुः—→१–अव्ययज्ञानप्रधानम्
२–ज्योतिः→२–अक्षरक्रियाप्रधानम्
३–गौः—→३–आत्मक्षरार्थप्रधानः
} →तत्त्वत्रयी–त्रिकला प्रकृतिः–महानात्मा–तूलात्मा (३, ३)

१–प्रज्ञामात्रा→५–अव्ययज्ञानप्रधानाः
२–प्राणमात्रा→५–अक्षरक्रियाप्रधानाः
३–भूतमात्रा→५–आत्मक्षरार्थप्रधानाः
} →मात्रात्रयी त्रिकला प्रकृति–प्रज्ञानात्मा–तूलात्मा (१, ४)

१–प्राज्ञ आत्मा→अव्ययज्ञानप्रधानः
२–तैजस आत्मा→अक्षरक्रियाप्रधानः
३–वैश्वानरात्मा→आत्मक्षरार्थप्रधानः
} →धातुत्रयी–त्रिकला विकृतिः–प्राणात्मा–तूलात्मा (२, ५)

१–कारणशरीरम्→अव्ययज्ञानप्रधानम्
२–सूक्ष्मशरीरम्→अक्षरक्रियाप्रधानम्
३–स्थूलशरीरम्→आत्मक्षरार्थप्रधानम्
} →शरीरत्रयी–त्रिकला प्रकृतिः–शरीरम्–तूलभावः (३, ६)

१–आत्मविकासभूमिः
२–देवविकासभूमिः

ईश्वरविवर्त्तम् — जीवविवर्त्तम्

१–१ त्रिवेदमूर्तिः स्वयम्भूः ——→ शान्तात्मा
२–२ त्रिगुणमूर्तिः परमेष्ठी ——→ महानात्मा
३–३ त्रितत्त्वमूर्तिः सूर्य्यः ——→ विज्ञानात्मा
} — अमृतविकासभूमिः पुरुषः

४–१ त्रिमात्रमूर्तिः-चन्द्रमाः ——→ प्रज्ञानात्मा
५–२ त्रिधातुमूर्तिः-सर्वभूतान्तरात्मा ——→ प्राणात्मा
६–३ त्रिशरीरमूर्तिः-विश्वम् ——→ शरीरम्
} — मृत्युविकासभूमिः षोडशीपुरुषः

तदमुत्र ←———— यदेवेह
यदमुत्र ————→ तदन्विह
पूर्णमदः० ———— ०पूर्णमिदम्

———

१ स्वयम्भूः → शान्तात्मा
२ परमेष्ठी → महानात्मा
} → विद्यामय आत्मा (अमृतम्) — अ

↑
१ सूर्य्यः ——→ विज्ञानात्मा] → विद्याकर्म्ममयात्मा (अमृतमृत्यू) — ह
↓

१ चन्द्रमाः → प्रज्ञानात्मा
२ पृथिवी { महापृथिवी { (२१) सर्वज्ञः ——→ प्राज्ञः
(१५) हिरण्यगर्भः → तैजसः
(६) विराट् ——→ वैश्वानरः }
भूः [विश्वम् ——→ शरीरम्
} → कर्म्ममयआत्मा (मृत्युः) — म्

अमृतं चैव- मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन

उक्त ग्रात्मविवर्त्तों में से प्रधान लक्ष्य-स्थान बुद्धि-नामक विज्ञानात्मा ही है। ईश्वरीयसंस्था में अमृत-मृत्युविभाजक बुद्धिरूप सूर्य्य मध्य में प्रतिष्ठित है। दोनों संस्थाग्रों में यह सम है। यही समत्त्वयोग है। इसी समत्त्वयोग के कारण बुद्धियोगनिष्ठ विश्वेश्वर सतत कर्म्म में प्रवृत्त होता हुग्रा भी निर्लिप्त है। यह बुद्धियोग उसने कैसे प्राप्त किया ? इसका उत्तर वही व्यवसाय है। ईश्वरीयनियति ग्रटल है। उसे कोई भी कम्पित नहीं कर सकता। उससे सब कम्पित हैं-**'महद्भयं वज्रमुद्यतम्'** वह रात-दिन त्रिगुण-भावमय विश्व में व्याप्त रहता हुग्रा भी निर्लिप्त है। करता हुग्रा भी ग्रकर्त्ता है। इधर जीवसंस्था केवल प्रज्ञापराध से उस व्यवसायबुद्धि को ग्रव्यवसाय रूप में परिणत कर रक्खा है। इसी ग्रव्यवसायात्मिका बुद्धि की कृपा से प्राणात्मानाम से प्रसिद्ध **शारीरकात्मा** ग्रमृतप्रधान योगमायावच्छिन्न मूलात्मानामक **प्रत्यगात्मा** के साथ योग रखता हुग्रा भी ग्रयुक्त हो रहा है। उस ज्ञ के रहते हुए भी यह ज्ञ, अज्ञ बन रहा है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों के संस्कार प्रज्ञानमन पर ग्राते हैं। इन विविध संस्कारों से त्रैगुण्य मन दोलायमान रहता है। यही प्रज्ञान के प्रज्ञाभाव की अस्थिरता है-यही चाञ्चल्य है। इसी प्रज्ञान पर बुद्धिरूप सूर्य्य प्रतिबिम्बित है। ग्राधारभूत प्रज्ञान के ग्रान्दोलित रहने से ग्राधेयभूता बुद्धि भी ग्रान्दोलित बन जाती है। यही बुद्धि का ग्रस्थिरतालक्षण ग्रव्यवसाय है। इस अस्थिरता के कारण एकरूपा बुद्धि खण्ड-खण्ड रूप में परिणत होती हुई ग्रपने व्यवसायधर्म्म से च्युत हो जाती है। फलतः ग्रात्मयोगलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती। इसका एक उपाय तो यह भी हो सकता है कि विषयों का ग्राग-मन रोक दिया जाय। दूसरे शब्दों में कर्म्म छोड़ दिया जाय। कर्म्मरूप विषयों ने ही प्रज्ञान को चञ्चल बनाया है। चञ्चल प्रज्ञान से ही बुद्धि में ग्रव्यवसाय का उदय हुग्रा है। जब चञ्चलता का प्रवर्त्तक विषय किंवा कर्म्म ही न रहेंगा तो चाञ्चल्यमूलक ग्रव्यवसाय को ग्रवसर ही कैसे मिलेगा ? कहना न होगा कि यह उपाय केवल कहने भर का है। विषयों का निर्म्माण हमने नहीं किया। इन्द्रिएँ हमारी सम्पत्ति नहीं, मन हमारी कमाई नहीं। इन सब साधनों के रहते कर्म्मत्याग का ग्रादेश केवल प्रलापमात्र रह जाता है। ऐसी ग्रवस्था में हमें उस उपाय का ग्रवलम्ब लेना पड़ेगा जिस उपाय से कि कर्म्म में सतत प्रवृत्त रहता हुग्रा भी विश्वेश्वर कर्म्मासक्त नहीं बनता। वह उपाय है-बुद्धि के व्यवसायधर्म्म का आश्रय लेना। बुद्धि स्व-स्वरूप से व्यवसायात्मिका ही है। इस विवेक एवं ग्रभ्यास के द्वारा महद्गत त्रैगुण्यभाव को तिरोहित करना पड़ेगा। ग्रभ्याससिद्धि के ग्रनन्तर जब महान् शुद्ध सत्त्वरूप में परिणत हो जायगा तो तत्सम्बन्धी प्रज्ञान भी शुद्ध सत्त्वरूप में परिणत हो जाएगा। महान् चित्त है। विवेक की कृपा से चित्तात्मक महान् जब शुद्ध सत्त्वरूप में परिणत हो जाता है तो प्रज्ञान भी त्रैगुण्यभाव से विमुक्त होता हुग्रा चित्तरूप में ही परिणत हो जाता है। जिस दिन प्रज्ञान ऐसा बन जाएगा, तत्काल तत्प्रतिबिम्बिता बुद्धि के स्वाभाविक व्यवसायभाव का उदय हो जाएगा। कहने का तात्पर्य्य यह है कि मन जब तक ग्रपनी प्राति-स्विक सत्त्वविभूति से च्युत है, तभी तक इसकी विषयों में किंवा कर्म्म में ग्रासक्ति रहती है। इस अवस्था में बुद्धि को इस मन का गुलाम रहना पड़ता है। फलतः बौद्धप्रकाश ग्रात्मानुगामी न रह कर मनोऽनुगामी बनता हुग्रा विषयानुगत बना रहता है। हमें ग्रभीष्ट केवल इतना ही है कि किसी उपाय से मन की सेविका बनी हुई बुद्धि को मन की ग्रधिष्ठात्री बना दिया जाय। दूसरे शब्दों में मन को बुद्धि का नौकर बना दिया जाय। विज्ञान प्रज्ञानवान् बन रहा है। हम इस प्रज्ञानवान् को विज्ञानवान् बनाना चाहते हैं। ग्राज हमारी बुद्धि मनोयुक्ता बन रही है। हम मन को बुद्धियुक्त देखना चाहते हैं। मन की ग्रनुगामिनी बुद्धि

अबुद्धि है। मन को अविकार में रखने वाली बुद्धि, बुद्धि है। इसके लिए मन को स्थिर करना पड़ेगा। हम कह चुके हैं कि मन (विषयासक्ति से) चञ्चल ही है। बुद्धि स्थिर ही है। यह स्थिरबुद्धि जैसे चञ्चल मन के वश में आकर चञ्चला बन रही है। एवमेव चञ्चल मन को स्थिर बुद्धि के वश में लाकर स्थिर बनाया जा सकता है। मन का नियन्त्रण कठिन है। आपको इसके लिए बुद्धि का नियन्त्रण करना पड़ेगा।

बड़ी जटिल समस्या है। मन (प्रज्ञान) स्थिर हो तब तो तत्प्रतिबिम्बिता बुद्धि स्थिर हो। बुद्धि स्थिर हो तब मन स्थिर हो। "अन्योऽन्याश्रयाणि कार्य्याणि न प्रकल्पन्ते।" इस अन्योऽन्याश्रय भाव से घबड़ा कर ही तो सांख्यों ने सहसा कर्म्मत्याग का आदेश दे डाला है! परन्तु जरा बुद्धि से काम लीजिए। अन्योऽन्याश्रित कार्य भी हो सकते हैं। हम जानते हैं कि भोजन से शक्ति का संचार होता है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि शक्ति होगी तभी तो भोजन हो सकेगा। लीजिए, शक्ति हो तब भोजन किया जाय, भोजन किया जाय तब शक्ति हो, है अन्योऽन्याश्रय। क्या इस स्थिति में भोजनकर्म्म अवरुद्ध हो जाता है? नहीं। बात यह है कि जिसे हम अशक्त कहते हैं, उसमें भी थोड़ी बहुत शक्ति रहती है। जिसे सशक्त कहते हैं-उसमें भी प्रतिक्षण शक्ति का ह्रास हो रहा है। बीज-नाश किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं है। उसी थोड़ी सी शक्ति के आधार पर हम भोजन करते हैं, भोजन से शक्ति का संचार होता है, सशक्त बन जाते हैं। ठीक ऐसा ही अन्योऽन्याश्रय भाव मन और बुद्धि में समझिए। यह ठीक है कि स्थिरबुद्धि मनोनुगामिनी बन कर चञ्चल बन रही है। परन्तु आज भी उसका स्वरूपधर्म्मलक्षण स्थिर भाव उसमें ज्यों का त्यों सुरक्षित है। दूसरे शब्दों में आंशिक रूप से बुद्धिका स्थिरभाव मन के सहयोग पर भी विद्यमान है। तभी तो विषयों के साथ आसक्ति होती है। जैसा कि **'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'** इत्यादिरूप से आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। मन स्वय चञ्चल है। चञ्चल मन अपने बल पर कभी एक विषय पर चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। यह चिरकालिकत्त्व बुद्धि सहयोग से ही प्राप्त होता है। स्थिरता बुद्धिकी है, आसक्ति मन की है। दोनों के समन्वय से ही विषयासक्ति का उदय होता है। इसी स्थल में भगवान् हमें आदेश देते हैं कि बुद्धि की जिस स्थिरता का उपयोग तुम मन के साथ करते हो, उस स्थिरता का उपयोग आसक्ति भाव को हटाने में करो। यह होगा तब, जब कि तुम्हारी बुद्धि महान् में रहने वाले विशुद्ध ज्ञानमय सत्त्व की ओर झुकेगी। त्रैगुण्य मन में जब तक स्थिरता का उपयोग होगा, तब तक तो यह स्थिरता आसक्ति को ही स्थिर करेगी। जब बुद्धि महान् के सत्त्व पर स्थिर हो जाएगी तो महान में रहने वाला त्रैगुण्य निर्बल बन जाएगा। दूसरे शब्दों में मन स्वयं चित्त (सत्त्व) रूप में परिणत होता हुआ स्थिर बन जाएगा। यही प्रज्ञा की स्थिरता होगी। प्रज्ञाकी स्थिरता के अव्यवहितोत्तरकाल में ही तत्प्रतिष्ठा बुद्धि की स्थिरता पूर्ण रूप से उदित हो जाएगी। इस प्रकार बुद्धि की स्थिरता से परम्परया बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाएगी। निष्कर्ष यह हुआ कि बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रत्येक दशा में बुद्धि में एकत्वलक्षण व्यवसायधर्म्म (स्थिरधर्म्म) का विकास करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब बुद्धि सात्त्विकी बने। बुद्धि का सत्त्वप्रधान बनना तभी सम्भव है, जब कि महद्गत चित्तात्मक शुद्ध सत्त्व को बुद्धि अपनावे। जब तक बुद्धि ऐसा नहीं करती तब तक क्या होता है? सुनिए।

बुद्धि महत् की उपेक्षाकर केवल मन के साथ युक्त हो रही है। मन के पास इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के पास विषयों की कमी नहीं है। विषय एक नहीं अनन्त हैं। इन अनन्त विषयों के सम्बन्ध से इन्द्रियों द्वारा मन में अनन्त संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। बुद्धि के स्थिरधर्म्म की कृपा से चञ्चल मन भी इन अनन्त संस्कारों के साथ बद्ध हो जाता है। बस विषयानन्त्य के कारण बुद्धि भी अपने एकत्वमूलक व्यवसायधर्म्म से च्युत होती हुई अनेकत्वमूलकअव्यवसायधर्म्म से आक्रान्त होती हुई अपनी स्थिरता को अनेक शाखाओं में परिणत कर देती है। शाखाभेद ही आनन्त्य का कारण है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने–**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च'** यह कहा है। ऐसी बुद्धि कभी सत्त्व को नहीं पकड़ सकती है। सत्य सदा एक होता है–सीमित होता है। आनन्त्यभाव ऋतप्रधान बनता हुआ सत्यमर्य्यादा से सर्वथा च्युत है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में इस स्थिति का पद-पद पर अनुभव करते हैं। प्रत्येक कार्य्य में हमारी बुद्धि डगमगाती रहती है। **'अरे यह काम करेंगे तो अच्छा होगा' 'शायद यह यों किया जाय तो अच्छा हो'**–इस प्रकार कर्त्ता को किंकर्तव्यविमूढता का पद-पद पर सामना करना पड़ता है। **'इदमित्थमेव'** यह आत्मनिर्भरता उत्पन्न ही नहीं होती। क्यों? उत्तर स्पष्ट है। प्रान्तीयभाषा की एक किंवदन्ती है **'एके साध्याँ सब सधे सब साध्याँ सब जाय दुबिधा में दोन्यूं गया माया मिली न राम।'** यदि बुद्धि किसी एक ही विषय पर दृढ हो तब तो बुद्धि का पर्य्याप्त प्रकाश तत्सम्बन्ध में **'इदमित्थमेव'** इस सत्यनिष्ठा का सहायक बन जाय। परन्तु विषय अनेक हैं। कभी मन धन की तरफ दौड़ता है, चाहते हैं कोट्यधीश बन जायँ, सर्वत्र हमारी कीर्ति हो, संसार हमारा लोहा माने। शरीर स्वस्थ रहे, पुत्रकलत्रादि पर्याप्त संख्या में हों। इस प्रकार असंख्य विषयैषणाओं की ओर मन दौड़ता है। परिणाम इसका यह होता है कि इस आनन्त्य से मन के साथ बन्धी हुई बुद्धि को उक्थ (बिम्ब) रूप से (व्यवसायधर्म्म से) च्युत होकर अर्करूप (रश्मिरूप) में (अव्यवसाय धर्म्म में) प्रवृत्त होना पड़ता है। एक बुद्धि की अनेक शाखाएँ बन जाती हैं। मूलबिम्ब की अपेक्षा एक-एकरश्मि का प्रकाश न के समान है। ऐसा अत्यल्प शाखारूप बहुप्रकाश कैसे तत्तद्विषयों में सत्यनिष्ठा उत्पन्न कर सकता है? फलतः सभी विषय सत्त्य से च्युत हो जाते हैं। कहीं भी सफलता नहीं मिलती। आनन्द यह है कि बुद्धि इस गलती को तो समझती नहीं, मन के चंगुल में फंस कर यह अधिकाधिक अन्यान्य विषयों की ओर ही संलग्न रहती है। कामना की शान्ति का उपाय दूसरी कामना समझ लिया जाता है कैसा सर्वनाश है? ऐसे कामी को भी कभी कहीं शान्ति मिली है? असम्भव–**'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी (गीता २/७०)।**

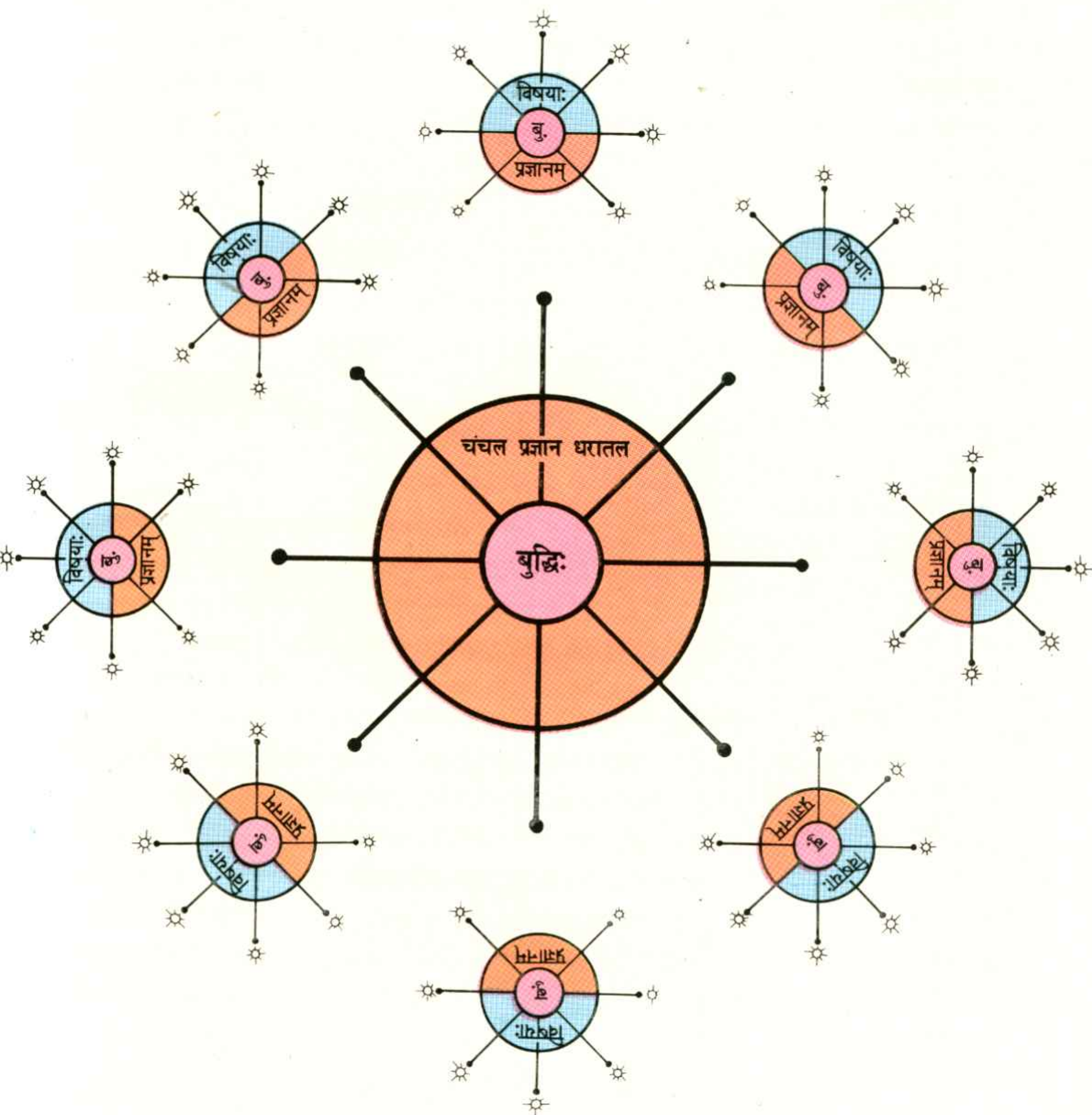
एक पात्र में पानी भरा है। पानी पर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब है। यदि पानी शान्त है तो प्रतिबिम्ब भी शान्त रहता हुआ एकरूप है। जरा पात्र के टल्ला लगा दीजिए, पानी हिल पड़ेगा। तत्काल प्रतिबिम्ब अपने एकत्वमूलक स्थिरभाव से च्युत होता हुआ खण्ड-खण्ड रूप में परिणत हो जाएगा। यही इसकी अनेक शाखाएँ होंगी। शाखा निकलना अपराध नहीं है। शाखा तो स्थिरधर्म्मवत् बुद्धि का स्वरूप धर्म्म ही है। बुद्धि रूप सूर्य्य रहे, शाखारूप रश्मिएँ न निकलें-यह कैसे सम्भव है? हाँ, इन रश्मियों का कामनामय मन के साथ बद्ध हो जाना बुरा है। सूर्य्य में अनन्त रश्मियाँ हैं। परन्तु वे असंग हैं। त्रैलोक्य के सदसत्पदार्थों के साथ नित्य युक्त रहने पर भी रश्मियाँ अपने उस मूल बिम्ब (सूर्य्य) से नित्य युक्त रहती हुई भी प्रकाशरूप से व्याप्त हैं। आसंजन ही तो बुरा है। तभी शाखा को शाखा कहने का अवसर आता है।

बिना आसक्ति के शाखा, शाखा होती हुई भी मूलबिम्बानुग्राहिणी बनती हुई शाखा नहीं है। स्मरण रखिए! न त्रैगुण्य का विनाश हो सकता, न विषयों का निरोध किया जा सकता, न स्वाभाविक इन्द्रिय-व्यापारों को रोका जा सकता है। यह सब अपरिहार्य अर्थ है। इनके साथ आसक्ति करने से ये अपना प्रभुत्व जमाते हैं। यदि व्यवसायबुद्धि द्वारा आप सब कुछ करते रहें तो ईश्वरवत् न आप कर्त्ता मानें जाएँगे, न आप पर कर्म्म का लेप ही होगा। इस व्यवसायभाव की प्राप्ति के लिए आपको सद्सद्विवेक लक्षण निम्नलिखित आप्तवचन का पालन करना पड़ेगा—

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किंनु मे स्यादकुर्वता।
इति संचिन्त्य मेधावी "कर्म्म कुर्वीत मानवः"[1] ।।

चाहे आप कोई सा भी कर्म्म करें, यदि अनासक्तिप्रधान व्यवसायबुद्धि का प्राधान्य रक्खेगे तो न कर्म्म का लेप होगा, न कर्म्मजनित अभ्युदय से आप वञ्चित होंगे। जैसा कि **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**-में विस्तार से बताया जा चुका है। व्यवसायलक्षण बुद्धियोग मिलेगा-तत्त्व विवेक से-आत्मदेवता के सतत चिन्तन से। इसीलिए **'ददामि बुद्धियोगम्'** यह कहा गयाहै। हम मानते हैं, बुद्धि अब भी आत्मा के साथ युक्त है। बुद्धि ही क्या मन-इन्द्रियाँ-विषय सभी तो उस आत्म-प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। **'तमेवभान्तमनुभाति सर्वं-तस्यभासा सर्वमिदंविभाति'**-परन्तु फिर भी हमें कहना पड़ेगा कि यह योग, प्रतिकूल योग होता हुआ अयोग ही कहलायेगा। यदि किसी प्रतिष्ठित आदमी के साथ घुणाक्षरन्याय से तुम राजा के पास चले भी गए, तो तुम्हारा जाना न जाने के समान है। तुम, तुम नहीं रहे, विषय बन गए। इस अन्तराय ने तुम्हारा योग वियोगरूप में परिणत कर रक्खा है। बहुत बुद्धिमान हो, सभी में सफलता भी मिलती है, धन भी है, पुत्र-कलत्र भी है, यश भी है परन्तु पराशान्तिमूलक व्यवसाय न रहने से सब कुछ व्यर्थ है। श्लोकस्थ **'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** यह वाक्य बडा चमत्कार रखता है। साधारण दृष्टि से इस से तो यही अर्थ प्रतीत होता है कि **'अव्यवसायी पुरुषों की बुद्धियाँ अनेक शाखावाली अतएव अनन्त होती हैं।'** इस प्रकार **'बुद्धयः'** यह बहुवचन **'व्यवसायिनाम्'** की दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है—ऐसा मालूम होता है। वस्तुतस्तु 'बुद्धयः' का प्रत्येक अव्यवसायी के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए। अव्यवसायी मनुष्य में एकबुद्धि नहीं रहती, अपितु अनेक बुद्धियाँ हो जाती हैं। जैसा कि **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'** इस पूर्ववाक्य से स्पष्ट है। जब भगवान् व्यवसायी मनुष्य की बुद्धि को एक बतला रहे हैं तो उत्तरार्ध में पठित **'बुद्धयः'** का प्रत्येक अव्यवसायी के साथ ही सम्बन्ध मानना उचित प्रतीत होता है। सूर्य्य स्व-स्वरूप से एक है। परन्तु प्रतिबिम्बग्राहकवीध्रधरातल के भेद से उस एक ही के अनेक प्रतिबिम्ब हो जाते हैं। एक सूर्य्य के अनेक सूर्य्य बन जाते हैं। चौखट लगे हुए एक अखण्ड दर्पण में सूर्य्य का एक ही प्रतिबिम्ब है। चौखटको सुरक्षित रखते हुए आप दर्पण को तोड़ दीजिए। दूसरे शब्दों में उसके अनेक खण्ड कर दीजिए। तत्काल वह एक प्रतिबिम्ब खण्डसंख्या के अनुसार उतनी ही संख्याओं में परिणत हो जाएगा।

१—पाठभेद—'सततं कर्म्म आचरेत्'।


विषयाः
बु.
प्रज्ञानम्
चंचल प्रज्ञान धरातल
बुद्धिः

एक सूर्य्य के अनेक स्वतन्त्र सूर्य्य बन जाएँगे । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए । शरीर एक प्रकार की चौखट है । इस में लोम एवं नखाग्रों को छोड़ कर (सर्वांग शरीर में) दर्पणस्थानीय वीव्रप्रज्ञा-सोम भरा हुआ है । जब तक यह प्रज्ञा एकरूपा एवं निश्छिला रहती है, तब तक तो तत्प्रतिबिम्बिता सूर्य्यस्थानीय बुद्धि भी एकरूपा ही रहती है । परन्तु उन अनन्त विषयसंस्कारों से जब अखण्ड प्रज्ञा अनन्त खण्डों में परिणत हो जाती है तो आयतन भेद से एक ही बुद्धि अनन्त रूप में परिणत हो जाती है । एक प्रतिबिम्ब के अनेक प्रतिबिम्ब बन जाते हैं । शाखाभेद कैसे आनन्त्य का कारण हैं ? यह भी सूर्य्यदृष्टान्त से ही भलीभांति स्पष्ट हो जाता है । काच पर एक रश्मि आती है वहाँ नया प्रतिबिम्ब प्रगट हो जाता है । उस प्रतिबिम्ब से नवीन रश्मियाँ निकल पड़ती हैं । एक शाखा (रश्मि) अनेक शाखाओं (रश्मियों) में परिणत हो जाती है । अब दूसरे काच पर आप इस प्रतिबिम्ब की एक शाखा को ले जाइए । वहाँ भी एक स्वतन्त्र प्रतिबिम्ब बन जाएगा । वहाँ फिर से अनेक शाखाएँ निकल पड़ेंगी । उस दूसरे काच की शाखा को तीसरे, चौथे, पाँचवे इस क्रम से जितने काचों में आप ले जाएँगे, शाखाओं के आनन्त्य का विस्तार भी उतना ही हो जाएगा । विषय सम्बन्ध से प्रज्ञारूप एक दर्पण के अनेक दर्पण बन रहे हैं । इन दर्पणों के आनन्त्य से शाखा का आनन्त्य है । चञ्चला प्रज्ञा बहुशाखा की जननी है, चञ्चल प्रज्ञा में प्रतिष्टित अनन्त संस्कार आनन्त्य के जनक हैं । दूसरे शब्दों में बुद्धि का प्रज्ञान के अनुगत रहना बहुशाखा का उदय है । इन प्रत्येक शाखाओं का प्रज्ञानगत अनन्त संस्कारों से युक्त रहना अनन्त भाव का उदय है । शाखा और आनन्त्य का मूल एक अव्यवसाय ही है । परन्तु धरातल भिन्न-भिन्न है । इसी भिन्नता को सूचित करने के लिए **'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च'** इत्यादि वाक्य में चकार का सन्निवेश किया गया है । जैसा कि वक्ष्यमाण परिलेख से स्पष्ट हो जाता है । उक्त बहुशाखा एवं आनन्त्यमूलक बुद्धि का अनेकत्त्व एकमात्र आसक्तिभाव पर प्रतिष्ठित है । आसक्ति के परित्याग से भी विषय बुद्धि के प्रातिस्विकव्यवसायधर्म्म पर कोई आघात नहीं कर सकते । इस प्रकार तत्त्वविवेकद्वारा बुद्धि को मन की अधिष्ठात्री बना कर सतत कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहने पर भी राग-द्वेष-जनित आसक्तिमूलक शोक-हर्ष का कोई प्रभाव न रहेगा-यही वक्तव्य है । मन को बुद्धि से, बुद्धि को मन से पृथक् कर दिया जाय-यह सर्वथा असम्भव है । यहाँ कर्तव्य केवल इतनाही है कि जिस प्रधान मन ने बुद्धि को अपने वश में कर उसकी स्थिरता का उपयोग अपनी आसक्ति में कर रक्खा है, उस मन को बुद्धि का अनुचर बना देना चाहिए । ऐसा विज्ञानवान् पुरुष ही युक्तमना कहलाता है । दूसरा अविज्ञानवान् अयुक्तमना कहलाता है । युक्तमना योगी (बुद्धियोगी) संसार सागर को शान्तिपूर्वक पार करता हुआ लक्ष्यीभूत अमृतात्मपद-अव्ययपद को प्राप्त कर लेता है । अयुक्तमना योगभ्रष्ट संसार यात्रा में पद पद पर ठोकरें खाता हुआ लक्ष्यच्युत बन रहा है । इसे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सांख्य-कर्म्म दोनों में व्यवसायलक्षणा एकबुद्धि रखनी पड़ेगी । दोनों को एक समझना पड़ेगा ।

।। इति द्वितीयोपनिषदि प्रथमोपदेशः ।।

।। १ ।।

प्रथमोपदेशनिष्कर्ष--

कर्मसंन्यासलक्षण **ज्ञानयोग** की अपेक्षा फलासक्तित्यागलक्षण **बुद्धियोग** ही प्रशंसनीय मार्ग है। कारण इसका यही है कि ज्ञानकर्म्म के समुच्चयलक्षण बुद्धियोग में कामना-परित्याग है। इसलिए तो कामनाजनित बन्धनमूलप्रत्यवाय नहीं होता। एवं कर्म्म का परिग्रह है, इसलिए अभ्युदय ज्यों का त्यों बना रहता है। वैज्ञानिकों ने अभिक्रम एवं प्रत्यवाय के निम्नलिखितलक्षण माने हैं—

१–उद्देश्यार्थसाधनानुकूलस्तत्पूर्त्यभिमुखश्चेष्टासंचारक्रमः–**अभिक्रमः**।

२–अभ्युदयप्रतिकूला कार्यनिपातलक्षणा चेष्टागतिः–**प्रत्यवायः**।

१–आत्मन ऊर्ध्वप्रचारः–**अभिक्रमः**।

२–आत्मनोऽधःपातः–**प्रत्यवायः**।

किसी भी उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए कितने ही साधन अपेक्षित होते हैं। इन साधनों के अनुष्ठान में अनेक विघ्न आया करते हैं। इन विघ्नों के प्राचुर्य्य से हमारा अन्तरात्मा घबड़ा जाता है। परिणाम यह होता है कि उद्देश्यपूर्ति के अनुकूल जो कर्म्म करने चाहिए–उनके प्रति हम उदासीन बन जाते हैं। हमारी चेष्टा का प्रवाह रुक जाता है। फलतः हम उद्देश्य से गिर जाते है। जिस वृत्ति से हम अपने उद्योग से न गिरें, उद्देश्यसाधक वह कर्म्मरूप धारावाहिक उद्योग ही (ऊर्ध्वयोग-बढ़े चले जाना, उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाना) अभिक्रम है। ठीक इसके विपरीत हमारे अभ्युदय के सर्वथा प्रतिकूल अतएव उद्देश्यार्थ को नष्ट करने वाला कर्म्म ही प्रत्यवाय है। पतनमूला-चेष्टा का अभ्युदय प्रत्यवाय है। उन्नति मूला चेष्टा का अभ्युदय अभिक्रम है। आत्मा का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना अभिक्रम है। आत्मा का उत्तरोत्तर गिरते जाना प्रत्यवाय है। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा क्रमशः व्यवसायलक्षण बुद्धि एवं अव्यवसायलक्षण बुद्धि है। इन दोनों के निम्नलिखित लक्षण माने गए हैं—

१–संकल्पकामासक्तिदोषदूषितविशुद्धमनोऽनुग्राहिणी बुद्धिः–**व्यवसायः**।

२–तत्तत्कामादिदोषविक्षिप्तमनोऽन्वाकृष्टा बुद्धिः–**अव्यवसायः**।

१–मनोनिरपेक्षा आत्मानुयोगिनी निष्कैवल्या बुद्धिः–**व्यवसायः**।

२–इन्द्रियाधिष्ठितमनःसम्परिष्वङ्गान्मनोऽनुयोगिनी व्यवच्छिन्ना बुद्धिः–**अव्यवसायः**।

प्रज्ञानमन कामनाओं का समुद्र है। काममय यह मन **"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** के अनुसार हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदग्रंथिसे ही काम-संस्कार मन के साथ बद्ध रहते हैं। इसी लिए हृदय को भी कामों का आश्रय मान लिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है —

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

हृद्ग्रन्थि की कृपा से प्राप्त भावना-वासनात्मक (कामजनित) संस्कारों से युक्त प्रज्ञान संकल्प-विकल्प (ग्रहण-परित्याग) भावों से आक्रान्त होता हुआ विज्ञानप्रदत्त ज्योतिभाग से स्वयं भी मलिन बन जाता है एवं अपने ऊपर प्रतिबिम्बित उस विज्ञानबुद्धि को भी मलिन बना डालता है। जैसा कि **"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति"** इत्यादि से स्पष्ट होने वाला है। संकल्प-विकल्प एवं तन्मूलिका कामासक्ति दोनों ही प्रज्ञा के स्थिर रस को विचाली बना डालते हैं। अतएव ये मनके दोष कहलाते हैं। इन दोषों से दूषित मन अशुद्ध मन है। ऐसे मन से आकर्षित बुद्धि अव्यवसाय है, एवं इन दोषों से मुक्त अतएव विशुद्ध मन पर अनुग्रह करने वाली बुद्धि ही व्यवसाय है। मन के इन्हीं व्यवसाय-अव्यवसाय प्रवर्त्तक शुद्ध-अशुद्ध रूपों का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥

प्रकारान्तर से देखिए। इन्द्रियों के दास बने हुए अतएव विषयासक्त मन के साथ युक्त रहने वाली मनोनुयोगिनी बुद्धि अपने आत्म-ज्योतिलक्षण भूमाभाव से च्युत हो कर मानसपरिच्छिन्न विषयों के योग से परिच्छिन्न बन जाती है। यही परिच्छेद इस बुद्धि का अव्यवसाय है। ठीक इसके विपरीत मन की अपेक्षा न रखने वाली केवल मन पर विभूति-सम्बन्ध से अनुग्रह रखने वाली अतएव आत्मानुयोगिनी विशुद्धा बुद्धि स्वलक्षण आत्मभूमा भाव को प्राप्त हो जाती है। यही इस व्यापक बुद्धि का व्यवसाय है। अव्यवसायात्मिका परिच्छिन्ना बुद्धि दिग्देशकाल से अवच्छिन्न अतएव असीम उस आत्मभूमा भाव को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहती है। क्यों कि इस दशा में बुद्धि मन की अनुचरा बनी रहती है। उधर मन सदा परिच्छिन्न विषयों का ही ग्रहण करता है। फलतः बुद्धि का व्यापार इस परिच्छिन्न भाव पर ही समाप्त हो जाता है। व्यवसाय बुद्धि से आत्मभूमा का शून्य अणिमा रूप से यथाकथंचित् ग्रहण हो ही जाता है। यथाकथंचित् इस लिए कहना पड़ता है कि बुद्धि स्वस्वरूप से परिच्छिन्न ही है। उधर भूमाभाग व्यापक होने से परमार्थ अग्राह्यकोटि में ही प्रविष्ट है। व्यवसाय दशा में केवल बुद्धि का यही उपकार होता है कि उस भूमा का जो अणिमारूप बुद्धि में प्रविष्ट है, बुद्धि उसका अनुग्रह प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है। इसी अनुग्रहदृष्टि को लक्ष्य में रखकर **"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः"** यह कहा जाता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि विज्ञानवान् मन से युक्त रथी (यात्री-भोक्तात्मा) व्यवसाय के प्रभाव से एक मार्ग से सीधा लक्ष्य पर पहुँच जाता है। एवं अविज्ञानवान् मन से युक्त रथी अव्यवसाय के प्रभाव से अनेक विभ्रान्त मार्गों में इतस्ततः भटकता हुआ मूल लक्ष्य से च्युत हो जाता है। इसी अर्थ का कठ ने निम्नलिखित रूप से स्पष्टीकरण किया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥१॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥२॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥३॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥६॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७॥[1]

आत्मा (कर्म्मात्मा) को **रथी** (रथपर सवार यात्री) समझो, **शरीर** (त्रिविध शरीर) को **रथ** समझो, **बुद्धि** को **सारथी** समझो, **मन** को **प्रग्रह** (लगाम) समझो । इन्द्रियों को घोड़ा समझा जाता है । विषयों को इन इन्द्रियों का गोचर (विहार भूमि, चरने की जगह) कहा जाता है । इन्द्रिय-मनोयुक्त आत्मा को ही विद्वान् भोक्तात्मा कहते हैं । जो (भोक्तात्मा) अविज्ञानवान् रहता हुआ मन से सदा अयुक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार स्वतन्त्र रहती हैं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथी की कोई परवाह नहीं करते । परन्तु जो विज्ञानवान् बनता हुआ, सदा मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार कहने में चलती हैं कि जैसे अच्छे घोड़े सारथी के इशारे पर चलते हैं । जो अविज्ञानवान् रहता हुआ अमनस्क एवं सदा अपवित्र रहता है, वह उस पद (आत्मपद) को प्राप्त नहीं होता, संसार में इधर-उधर भटकता फिरता है । जो विज्ञानवान् बनता हुआ, समनस्क बन कर सदा पवित्र रहता है, वह उस पद को प्राप्त हो जाता है, जहाँ से कि वापस मृत्युचक्र में नहीं आना पड़ता है । जिसका विज्ञान सारथी है, उस सारथी के हाथ में मनोरूप लगाम है । वह यात्रा निर्विघ्न पूरा करता हुआ **परमपद** नाम से प्रसिद्ध **वैष्णवधाम** में पहुँच जाता है ।

उक्त कठश्रुति का वर्णन बडा ही प्राञ्जल है । संसार एक यात्रा का मार्ग है । जीवात्मा यात्री है । यह शरीररूप रथ में बैठा है । बुद्धि सारथी है । इन्द्रियाँ घोड़े हैं । मन लगाम है । सांसारिक विषय उन घोड़ों का दाना पानी है । यदि सारथी सुचतुर होता है तो वह लगाम के द्वारा घोड़ों को अपने वश में रखता हुआ आगे बढता रहता है । यदि सारथी गाफिल हो जाता है तो लगाम ढीली

१ कठ०उप० १।३।३-९ ।

पड़ जाती है, घोड़े बिगड़ जाते हैं। रथ, रथी, सारथी, लगाम, घोड़े सब अस्तव्यस्त हो जाते हैं। ठीक यही परिस्थिति व्यवसाय-अव्यवसाय पर घटती है। यदि बुद्धिरूप सारथी मन रूप लगाम के द्वारा इन्द्रिय रूप घोड़ों का ठीक-ठीक संचालन करता रहता है तो रथी भोक्तात्मा की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो जाती है। इस यात्रा का मूल स्तम्भ है-लगाम। मन लगाम है। जब तक यह बुद्धि के हाथ में है तब तक घोड़े ठिकाने हैं। इसलिए बुद्धि में व्यवसाय के उदय के लिए पहले प्रज्ञा की स्थिरता ही अपेक्षित है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। उपनिषत् में कर्म्म-त्याग का आदेश नहीं दिया, अपितु मन के नियन्त्रण का रहस्य बतलाया है।

पाठक यह जानते ही हैं कि बुद्धियोगाचार्य्य भगवान् कृष्ण आज अर्जुन के सारथी बने हुए हैं। मनःस्थानीय अर्जुन क्षोभ प्रगट कर रहा है। बुद्धिस्थानीय भगवान् क्षोभ शान्त कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं–अर्जुन ! यदि तू अपने आपको **बुद्धियोगी** समझता है, तब भी तेरा शोक एवं अनुशोक व्यर्थ है। कारण, शोक का मूलप्रभव तो अव्यवसाय है। अनिश्चयात्मिका बुद्धि है। जिस दिन तू, **"ममेदं कर्तव्यम्" "अहमिदमित्थमेव करिष्ये, नान्यथा"** इस प्रकार आत्मनिर्भरतापूर्वक अपनी बुद्धि में निश्चयात्मक व्यवसाय धर्म्म को अपना लेगा, उस समय अनुशोक का अवसर ही न आएगा। अव्यवसायात्मिका बुद्धिवाले भूतात्मानुगामी ही **"इदं वा-इदं वा"** इस प्रकार के संशयों में पड़कर लक्ष्यीभूत स्वकर्तव्यकर्म्म से च्युत होते हुए क्षुब्ध होते रहते हैं।

।। इति-द्वितीयोपनिषदि प्रथमोपदेशनिष्कर्षः ।।

१

———

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषदि

२–काम्यकर्म्मयोगस्य बुद्धियोगविक्षेपकत्वेन बुद्धियोगविघातकत्वादनिष्टत्वम्

२

द्वितीयायामुपनिषदि —

द्वितीयोपदेशः

२–काम्यकर्म्मयोगस्य बुद्धियोगविक्षेपकत्वेन-बुद्धियोगविघातकत्वादनिष्टत्वम्

१–यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ।। (गीता २।४२)

२–कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।। (गीता २।४३)

३–भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। (गीता २।४४)

४–त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। (गीता २।४५)

५–यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। (गीता २।४६)

[मूलानुवाद] "हे अर्जुन ! इससे अतिरिक्त कोई (उत्तम मार्ग) नहीं है", यह कहने वाले वेदवाद में आसक्त, कामनामय आत्मावाले, स्वर्ग को ही पर (अन्तिम) फल मानने वाले, जो अज्ञानी मनुष्य सांसारिक भोग-ऐश्वर्य को देने वाली अनेक कर्म्म-कलापों से संकुलित, साथ ही में जन्म (जन्म-मृत्यु लक्षणद्वन्द्वकर्म्म) प्रदान करने वाली जिस इस (प्रवृत्तिप्रधाना कर्म्ममयीवेदवाणी) का बडे लम्बे चौड़े शब्दों में बखान करते हैं (१–२) उस पुष्पित वाणी से अपना स्वरूप खोने वाले भोग-ऐश्वर्य में आसक्त उन कर्म्मठों के अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका बुद्धि का उदय नहीं होता (३)। वेद त्रिगुणभावमय है। हे अर्जुन ! तू त्रिगुणभाव को छोडकर निर्द्वन्द्व, सदा सत्त्वभाव से युक्त, योगक्षेम में उपेक्षावाला बनकर (केवल) आत्मानुगामी बनजा (४–५)।

[भाष्य] आज हम एक ऐसे विषय की मीमांसा करने वाले हैं जो कि विषय हमारे जीवन का मुख्य एवं सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य है। जिस वेदराशि के लिए आर्यमहर्षियों के **"वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः"–"वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ" "वेद एवाभ्यसेन्नित्यम्"** ये उद्गार हैं उसी वेदवाणी के लिए धर्म्मरक्षक पूर्णावतार भगवान् कृष्ण आज अर्जुन को यह कह रहे हैं, कि **"अर्जुन ! वेद तो त्रिगुणभावापन्न हैं। तुझे त्रिगुणभाव छोड देना चाहिए।"** भगवान् की इस उक्ति से वेदभक्त के हृदय पर सहसा आघात होता है। सचमुच सामान्य मनुष्यों के लिए गीता-शास्त्र का यह प्रकरण एक जटिल समस्या है। क्या भगवान् वेदों का कोई आदर नहीं करते ? क्या भगवान् की दृष्टि में वेद-शास्त्र का कोई महत्त्व नहीं है ? क्या भगवान् वेदशास्त्रसिद्ध **यज्ञ-दान-तपोलक्षण**विद्यासापेक्ष सत्कर्म्म के पक्षपाती नहीं हैं ? क्या भगवान् **कर्म्मकाण्ड** के विरोधी हैं ? क्या भगवान् वेदमूलक (श्रुतिमूलक) **धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र)** का कोई उपयोग नहीं समझते ? थोडी देर के लिए इन सब प्रश्नों को छोडकर गीता-शास्त्र के अन्य स्थलों पर दृष्टि डालिए। उन स्थलों के देखने से तो हमें यह मान लेने में कोई संदेह नहीं रहता कि भगवान् वेदशास्त्र के अनन्यतम भक्त हैं। भगवान् वेदशास्त्र-सिद्ध यज्ञादिकर्मों के महापक्ष पाती हैं। भगवान् कर्म्मकाण्ड के पूर्ण अनुयायी हैं। भगवान् वेदमूलक धर्म्मशास्त्र के परम भक्त हैं। अर्जुन वेदसिद्ध चातुर्वर्ण्य की उपेक्षा कर रहा था। भगवान् ने उसे वर्णधर्म्म का स्वरूप समझाते हुए ही कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त किया है। बिना वेद शास्त्र को अपनाए, चातुर्वर्ण्य, यज्ञ, दान, तप, स्वधर्म्म आदि का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। इधर भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में इन सबका आदेश दिया है। एक स्थान पर तो भगवान् ने यह तक कह डाला है कि जो व्यक्ति शास्त्रानुसार कर्म्म नहीं करता, न तो उसे **सुख** (सांसारिक सुख एवं अभ्युदयरूप स्वर्गसुख) मिलता, न वह परागति (मुक्ति) का अधिकारी बनता। इस प्रकार निम्नलिखित भगवद्वचन स्पष्टरूप से वेद एवं तत्सिद्ध यज्ञादि कर्म्मकलाप की अवश्यकर्तव्यता का ही आदेश करते हैं—

१–**"वेदानां सामवेदोऽस्मि"**। (गीता १०।२२)

२–**"यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्"**। (गीता १८।५)

३–**"ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां, शूद्राणां च परंतप।**
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः"॥ (गीता १८।४१)

४–**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्"॥ (गीता ४।१३)

५–**"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"**। (गीता १५।१५)

६–**"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः"**। (गीता ३।९)

७–"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्" ।। (गीता ३।१०)

८–"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः" । (गीता ३।१३)

९–"तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" । (गीता ३।१५)

१०–"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्" ।। (गीता १६।२३)

११–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि" ।। (गीता १६।२४)

१२–"धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" । (गीता २।३१)

१३–"स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" । (गीता २।३१)

१४–"स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः" । (गीता ३।३५)

१५–"सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्" । (गीता १८।४८)

आर्य-शास्त्रों में वेद ही एक ऐसा शास्त्र है कि जो अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता न रखता हुआ स्वतःप्रमाण है । इतर शास्त्रों की प्रामाणिकता वेदप्रामाण्यपर ही निर्भर है । भारतवर्ष की विविध सम्प्रदायें अपना-अपना स्वतन्त्र मत रखती हुई भी वेदों को सर्वात्मना प्रमाणभूत मानती हैं । वेद इन सबका सम्राट् है । यह एकसिद्ध विषय है कि **भगवद्गीता** जैसा **अलौकिक** ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्व में दूसरा नहीं है । तथापि यह वेदवत् स्वतःप्रमाण नहीं माना जाता । पूर्णावतार विश्वेवर भगवान् कृष्ण के मुखपंकज से यह निकली है, इसलिए यह सर्वोत्कृष्ट मानी गई–यह भी हेत्वाभास ही है । अपितु गीता वेदसम्मत है । वेदार्थ की उपबृंहिका है । वेदतत्त्वज्ञ कृष्णद्वैपायन ने अपने ऐतिह्य ग्रन्थ में इसका समावेश किया है, इसलिए गीता प्रमाणभूत है । इस प्रकार यह निर्विवाद है कि भारतवर्ष के इतर साहित्य वेदाश्रय से ही जीवित हैं । जो शास्त्र किंवा सम्प्रदाय वेदों को प्रमाण नहीं मानते, आर्यजगत् ने उनका तिरस्कार ही किया है । देखिए न ! भगवान् **शाक्यसिंह** (गोतमबुद्ध) ईश्वर के अवतार माने जाते हैं, उन्होंने भी सत्य, अस्तेय, अहिंसा, सर्वभूतहितेरतिः इत्यादि शास्त्रसम्मत (सनातनधर्म्मसम्मत) सात्त्विकधर्म्मो का ही उपदेश दिया है । यह सब कुछ होने पर भी उनका मन्तव्य हमारे लिए मान्य नहीं है । कारण, वेद की उपेक्षा । उन्होंने वेदसिद्ध **यज्ञ, ईश्वर, श्राद्ध, अवतार, मूर्तिपूजन, संस्कार,** आदि की अवहेलना की । अपने प्रवचन में वेद की मिथ्या निन्दाएं की ।

परिणाम इसका यह हुआ कि वे आस्तिक श्रेणी से बाहर निकाल दिए गए। हम न किसी व्यक्तिविशेष के वैयक्तिक गुणों से प्रभावित होते और न स्वतन्त्र कल्पना-युक्त शास्त्रों का ही समादर करते हैं। हमारी दृष्टि में शास्त्रनिष्ठ व्यक्ति, एवं वेदसम्मतशास्त्र ही आदरणीय है। यदि कभी किसी ने अपने व्यक्तित्व के गर्व में आकर शास्त्रसिद्ध मार्ग की उपेक्षा की है, तो उसके व्यक्तित्व का अणुमात्र भी आदर न करते हुए आर्य्यजगत् ने उसे ठुकरा दिया है। महात्मा तभी तक महात्मा है, जब तक वह शास्त्रनिष्ठ है। महामना वहीं तक महामना है जब तक कि वह शास्त्रनिष्ठ है। यदि इनकी दृष्टि में शास्त्र में परिवर्तन सम्भव है, यदि ये परम्परागत सम्प्रदायसिद्ध अर्थ की उपेक्षाकर, अपने व्यक्तित्व के गर्व में आकर शास्त्रों का मनमाना अर्थ करने का दुःसाहस करते हुए, जनता को उत्पथ की ओर ले जाने का पातक कर्म्म कर रहें हैं तो आर्यजगत् की दृष्टि में ऐसे महात्मा एवं महामना का कोई मूल्य नहीं है। अस्तु वक्तव्यांश केवल इतना ही है कि वेद हम आर्य्यों का सर्वस्व है। वेद साक्षात् ईश्वर की वाणी है। वेद का अक्षर-अक्षर हमारे लिए सर्वात्मना मान्य है। ऐसे वेद के लिए वेदसम्मत गीताशास्त्र के द्वारा जब हमें **"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"** यह आदेश मिलता है तो सचमुच हमारा हृदय काँप उठता है। और सहसा हमारे मुखसे यह उद्गार निकल पड़ते हैं कि भगवन्। आपका अवतार तो वेद एवं वेदसिद्ध चातुर्वर्ण्यधर्म्म की रक्षा के लिए हुआ है। फिर आपही का **त्रैगुण्यविषया वेदाः** यह आदेश ? दूर कीजिए भगवन् ! हमारे इस व्यामोह को।

पहले हमें यह देखना है कि सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्य के अनुयायी ज्ञानयोगियों ने इस प्रकरण का क्या अर्थ किया है एवं परीक्षा दृष्टि से वह कहाँतक ठीक है ? सांख्य कहते हैं कि इस प्रकरण में भगवान् ने कर्म्म एवं तत्प्रवर्त्तक वेदशास्त्र की अनुपादेयता बतलाते हुए अर्जुन को ज्ञानयोग का ही उपदेश दिया है। भगवान् का अभिप्राय यही है कि यज्ञादि कर्म्मों से थोड़े दिन के लिए सांसरिक सुख एवं स्वर्गादि सुख अवश्य मिल जाते हैं। परन्तु ये सब क्षणिक सुख हैं। दुःख मिश्रित सुख हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह इन अशाश्वत् कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग कर आत्मानुगामीनी ही बना रहे। विश्व मिथ्या, उसका कर्म्म मिथ्या। सत्य है—ज्ञानधन आत्मा। आत्मज्ञान से ही पराशान्ति मिल सकती है। यज्ञादिमूलवेद सामान्य अधिकारियों का उपकारक है। परन्तु परमार्थकोटि में इनका कोई मूल्य नहीं है। इत्यादि—

बड़ा सर्वनाश ! बड़ी विडम्बना !! महा मोह !!! यदि पाठक बुरा न मानें तो हम इस सम्बन्ध में यही कहेंगे कि सांख्यों की उक्त अनर्थवाक्परम्परा ने ही भारतवर्ष के समृद्ध-वैभव का सर्वनाश किया है। जब तक भारतवर्ष के हाथ में वेदमूलक यज्ञकाण्ड, किंवा कर्म्मकाण्ड रहा तब तक यह समृद्ध बना रहा। देश के दुर्भाग्य से वेदान्तियों ने कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद का जब से बीजारोपण किया, तब से यह देश अवनत ही होता गया। यज्ञ-विद्या के बलपर आर्यमहर्षि क्या करते थे ? यज्ञ से संसार का क्या उपकार होता था ? जब इन प्रश्नों का हम विचार करने बैठते हैं तो सचमुच हृत्कम्प हो जाता है। **अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारीदुर्भिक्ष, अमीवा, यक्ष्मा, दारिद्रय, पारतन्त्र्य** आदि सब की चिकित्सा यज्ञकाण्ड पर निर्भर है। इनकी उपेक्षा कर सचमुच आज हम विज्ञान-सम्पत्ति से शून्य हो गए हैं।

देश का सर्वनाश करने वाले उन वेदान्तियों के परलोकगत आत्मा से हम आग्रह करेंगे कि एक बार वे फिर पधारें और देखें कि उनके कल्पित ज्ञानैकसिद्धान्त ने देश का कैसा अनिष्ट किया है ? किस प्रकार उनके पापों का प्रायश्चित्त उनकी संतानें कर रही हैं। हमें नहीं चाहिए ऐसा ज्ञान जो हमें समृद्धिमूलक विज्ञान-सम्पत्ति से च्युत करता हुआ दर-दर का भिखारी बना दे। साथ ही में हमें नहीं चाहिए ऐसा विज्ञान जो केवल जड़वाद का अनुगामी बनादे। चाहते हैं हम वह ज्ञान, जो विज्ञानयुक्त हो चाहते हैं हम वह विज्ञान, जो ज्ञान युक्त हो। भूखे मरते हुए न हम आत्मचिन्तन करना पसन्द करते हैं, एवं न केवल पेट के पीछे पड़कर आत्मा को भुलादेना चाहते हैं। हम न आत्मा के लिए सब कुछ छोड़ सकते न, सबके पीछे पड़कर आत्मा को छोड सकते हैं। न हम कर्म्मजाल में फंसना चाहते, न कर्म्म छोड़ना चाहते हैं। हम यहां भी रहना चाहते हैं, वहां भी रहना चाहते हैं। यही तो ज्ञानयोग है। यही तो कर्म्मयोग है। यही तो समष्ट्यात्मक बुद्धियोग है। बस प्रकृत प्रकरण में संकेतविधया भगवान् ने यही स्पष्ट किया है।

१- यामिमां पुष्पितां वाचम्—

प्रथमोपदेश से भगवान् ने सांख्यनिष्ठा की ओर से बुद्धियोगनिष्ठा की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित किया (१-२), (२-३), (३-४) इन तीन उपदेशों से योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) की ओर से बुद्धियोगनिष्ठा की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हैं। भगवान् कर्म्मत्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा के भी विरोधी हैं। एवं फलकामासक्तिपरिग्रहलक्षणयोगनिष्ठा के भी विरोधी हैं। वस्तुतः दोनों ही भ्रान्त हैं। कर्म्मछोडना भी बुरा है, असम्भव है। फलकामासक्तिपूर्वक वैदिककर्म्म में प्रवृत्त होना भी बुरा है। जिस प्रकार सांख्यनिष्ठ कर्म्म का आत्यन्तिक विरोध करते है, कर्म्मनिष्ठ केवल कर्म का ही यशोगान करते हैं। वे क्या कहते हैं, सुनिए—

"विश्वचक्र में एकमात्र कर्म्म की ही प्रधानता है"। **"कर्म्मप्रधान विश्वकरि राखा"।** कर्म्म से हम सब कुछ फल प्राप्त कर सकते हैं। **सन्ध्या से दीर्घायु, जरामर्य सत्र** नाम से प्रसिद्ध **अग्निहोत्र से अहोरात्रसम्पत्ति, दर्शपूर्णमास से पक्षसम्पत्ति, चातुर्मास्य से ऋतुसम्पत्ति, पशुवध से अयनसम्पत्ति, संवत्सरापरपर्यायक ज्योतिष्टोम से स्वर्गसम्पत्ति, राजसूय से राजवैभव, अश्वमेध से चक्रवर्तीपदवी, वाजपेय से सम्राट्पदवी, चयन से अक्षय्य सुख, कारीरी इष्टि से वृष्टिसम्पत्ति, पुत्रेष्टि से प्रजासम्पत्ति, अभिचारयज्ञों से शत्रुदमन, गवामयनसत्र से नवाहस्वर्गप्राप्ति, तत्तद्दानों से तत्तत् लोकावाप्ति,** तप से **योगजसिद्धि** आदि-आदि प्राप्त कर सकते हैं। सचमुच यज्ञकाण्ड हमें अभिलषित फल देने के लिए पर्याप्त है। खाना-पीना-सुख से रहना, मरे बाद स्वर्गसुख भोगना-यही तो परम पुरुषार्थ है। जब तक जीवित रहें सुखी रहें, मर गए तो स्वर्ग मिला—**"हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्"** फिर बाकी क्या रह गया ? यही नहीं, यज्ञविद्या के बल से हम नया संसार बना सकते हैं। राजा को रंक, रंक को राज बना सकते हैं। इन सब फलों के अतिरिक्त और है क्या, जिसके लिए यज्ञकर्म्म के अतिरिक्त अन्य मार्ग का आश्रय लें ? स्वयं ईश्वर-प्रजापति ने यज्ञकर्म्म से ही विश्वात्मक वैभव प्राप्त कर रक्खा है। यही हमारे अभ्युदय का मूलकारण है।

ये हैं प्रवृत्ति कर्म्मानुयायी कर्म्मनिष्ठों के उद्गार । इसपर भगवान् कहते हैं–भूलते हो ! यदि तुमने वेद एवं वेदोक्त कर्म्मकाण्ड का यही अर्थ समझ रक्खा है, तो सर्वनाश है । याद रक्खो ! फलाभिमुखा प्रवृत्ति कभी तुम्हारे "नान्यदस्ति" इस वाद को सुरक्षित नहीं रख सकती । तुमने यज्ञकर्म्म के जो-जो फल बतलाए हैं, उन सबका पुष्पों से सम्बन्ध है । फल वह है जिससे तुम्हारी तृप्ति हो । तुम्हें आनन्द मिले अथवा तुम आनन्द रूप बन जाओ । फलानुगामिनी तुम्हारी वेदवाणी पुष्पिता मात्र है । पुष्प देखने भर की चीज है । इस से कभी किसी का पेट भरा है ? पुष्परूपफल कभी तृप्ति का कारण नहीं बनते । तृप्ति का कारण है फलरूपपुष्प । वह तुम्हारे अधिकार से बाहर है । जैसा कि, **कर्म्मण्येवाधिकारस्ते** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि यज्ञकर्म्म से तुमने जो इच्छा की, प्राप्त कर लिया । परन्तु हम तुमसे पूछते हैं कि क्या इन इच्छाओं का भी अन्त हो सकता है ? आज तुम्हें पुत्र-कलत्र की इच्छा है, कल धन की इच्छा होगी, परसों राजा बनने की इच्छा करेंगे । इस प्रकार इन इच्छाओं का कभी अन्त ही न होगा । यही नहीं ज्यों-ज्यों तुम अपनी पूर्व-पूर्वेच्छा की पूर्ति करने की चेष्टा करते जाओगे त्यों-त्यों संस्कारवश उत्तरोत्तर नवीन-नवीन इच्छाओं का उदय होता जाएगा । तुम्हारी भूख कभी शान्त न होगी । जब तक तुम ऐच्छिक फलाभिमुखकर्म्मों से कभी अपनी भूख शान्त नहीं कर सकते तो फिर ऐसे प्रवृत्तिमार्ग को तुमने किस आधार पर तृप्ति का कारण मान लिया ?

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥[1]

सदसद्विवेककरने वाली बुद्धि ही **"विपाशा"** कहलाती है । बुद्धि की यह वृत्ति आत्मयोग लक्षणबुद्धियोग पर ही निर्भर है । जब तक बुद्धि काममय मन की अनुगामिनी बनी रहती है तब तक उसमें सदसद्विवेकलक्षण विपाशाभाव उत्पन्न नहीं होता । पाशका विगत हो जाना ही–आसक्तिरूप पाश (बन्धन) से छूट जाना ही विपाशा है । स्नेहगुणक आसक्तिपाशबद्धा बुद्धि अविपाशा है । ऐसे ही मनुष्य "अविपश्चित्" कहलाते हैं । मन की कामना के दास बने हुए ऐसे व्यक्ति ही काम्यकर्म्मप्रतिपादिका वेदवाणी का बडे लम्बे-चौड़े शब्दों में यशोगान करते रहते हैं । उनकी वेदतत्त्व पर दृष्टि नहीं हैं, अपितु वे वेदवाद में रत (आसक्त) हैं । जिस प्रकार एक बच्चा खिलौने से बढ़कर अन्य वस्तु को तुच्छ समझने लगता है, ठीक उसी प्रकार वेदमार्ग में आसक्त ये बालधी उन अशाश्वत, क्षणिक फलों के सामने आत्मा के शाश्वत् आनन्द को भूलते हुए उन्हीं फलों को सर्वश्रेष्ठ मानने का मिथ्याभिमान करने लगते हैं । **"नान्यदस्तीतिवादिनः"** ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन से अविपश्चित् हैं जो कि उक्त प्रकार से वेद का किंवा वैदिक कर्म्म का बखान किया करते हैं । सामान्यदृष्टि से विचार करने पर तो यह आक्षेप मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद पर किंवा तद्द्रष्टा महर्षियों पर ही चरितार्थ होता है ।

१ मनुस्मृति २।९४ ।

१-ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु ।
इन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ॥
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं ।
मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥ (ऋक्० १०।१२८।९)

२-प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः ।
प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ॥ (यजुर्वेद ९।२९)

३-शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निहरातिरस्तु ॥
(साम० पू० १।२।८)

४-संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ (अथर्वं० ३।१९।१)

१-ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत । (ऐ० ब्रा० १।१ सायणभाष्य)

२-वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः ।

३-अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ।

४-अपाम सोमममृता अभूम ।

५-सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति । (छा०उ० २।२१।४)

६-यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।
(छा० उ० १।१।१०)

७-तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेन ।
(छा० उ० ५।१९।२)

८-स य एवमेतां संहितां वेद, सन्धीयते प्रजया पशुभिर्य-
शसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन सर्वमायुरेति । (ऐ०आ० ३।११)

उक्त मन्त्रभाग के वचन एवं ब्राह्मणभागान्तर्गत **ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्** के वचन स्पष्ट ही कामना, एवं तज्जनित फलों का दिग्दर्शन करा रहे हैं। यदि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक यह वेद ईश्वर की वाणी है तो भगवान् का आक्षेप स्वयं ईश्वर पर है। यदि **बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदः** के अनुसार वेद ऋषियों का वाक्य है तो उक्त आक्षेप उन महामहर्षियों पर है। दोनो ही पक्ष हमें असंगत प्रतीत हो रहे हैं। क्यों कि वेद-शास्त्र पर इस प्रकार आक्षेप करने वाले भगवान् कभी अपने मुख से "**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते**" यह न कहते। न कर्म्मप्रवृत्ति का "**न त्याज्यं कार्यमेव तत्**" इस रूप से आदेश ही देते। न केवल भगवान् ने यज्ञकर्म्म किंवा शास्त्रीय कर्म्म का उपदेश ही दिया है किन्तु वे यावज्जीवन कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त भी रहे हैं। युधिष्ठिर के यज्ञ में स्वयं भगवान् ने भाग लेते हुए कर्म्ममार्ग का अनुमोदन किया है। कर्म्मठ याज्ञिक ब्राह्मणों की वन्दना करना कृष्ण का मुख्य कर्तव्य रहा है। फिर उक्त आक्षेप किस पर ?

यह आक्षेप है उनपर जो वेद के वास्तविक तात्पर्य्य को न समझकर वेदोक्त कामना को ही प्रधान मान बैठते हैं। वैदिक कर्म्म ही क्या, कोई भी कर्म्म बिना कामना के नहीं हो सकता। साथ ही में यथाविधि किया हुआ कर्म्म फल उत्पन्न न करे यह भी असम्भव है। वेद ने प्रकृतिसिद्ध इसी कामना एवं तज्जनित फल का उल्लेख किया है। कामनामय यह यज्ञ प्राकृतिक धर्म है। साथ ही में वर्ण-भेदानुसार यह तत्तद्वर्ण विशेषों के स्वधर्म्म बन रहे हैं। इन्हें स्वधर्म्मदृष्टि से करने में कोई आपत्ति नहीं है। आपत्ति है, केवल कामना पर ही विश्राम मान लेने में। फल की कामना से प्रवृत्त होना ही बन्धन का मूल है। भगवान् कामासक्ति के शत्रु हैं, कर्म्म के नहीं। **यह हमारा कर्तव्य है।** इस कर्तव्यदृष्टि से कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति कर्म्मजनित फल का भी अधिकारी बन जाता है। साथ ही में इसपर संस्कार का लेप भी नहीं होता। आगे जाकर भगवान् बडे विस्तार से इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करने वाले हैं। प्राकृतिक कामना हमारी कामना नहीं है। किन्तु ईश्वर-कामना है। इसी को उत्थिताकांक्षा कहा जाता है। वेद ने इसी का उल्लेख किया है। इसीलिए इस वैदिक-कामना को अर्थवाद कहा जाता है।

सनातनधर्म्मी जगत् को यह विदित है कि गंगास्नान, देवदर्शन, तुलसीचरणोदकपान, गोपाल-विष्णुस्तोत्रादिक का पारायण आदि के सम्बन्ध में, **ऐसा करने से अनेक जन्म के पातक नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार की फल श्रुतिएं रहती हैं।** साधारण मनुष्य इन फल-श्रुतियों को सर्वथा निरर्थक समझते हैं। परन्तु आर्य-महर्षियों की दृष्टि में इन फलश्रुतियों का बडा महत्व है। हम मानते हैं कि सतत पाप कर्म्मों में रत एक व्यक्ति यदि गंगास्नान कर लेता है अथवा देवदर्शन कर लेता है तो उसके करोड़ जन्मों के पाप तो क्या इस जन्म के पाप भी नहीं धुलते। फिर भी गंगास्नान की महत्ता कम नहीं की जा सकती। मुक्तिसाधक उपायों में गंगास्नान भी एक उपाय है। यदि इसके अभिमानी देवता के साथ स्नानकर्त्ता का अन्तर्मन सायुज्यभाव को प्राप्त हो जाता है तो अवश्यमेव पापी से पापी भी मुक्त हो सकता है। अन्तर्मन **चित्त, सत्व, महत्** आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। इस की मूलग्रन्थि बस्तिगुहा में प्रतिष्ठित कुण्डलिनी है। यदि इस मन का कुण्डलिनी के द्वारा मूलरन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) के साथ योग हो जाता है तो तत्काल वह मन मुक्तियोग किंवा विदेहमुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है। हम इन्द्रियमन

नाम से प्रसिद्ध बहिर्मन की उत्थाप्याकांक्षाओं का तो अनुभव करते रहते हैं, परन्तु उस अन्तर्मन की उत्थित कामनाएं हमारे लिए गुहा में प्रविष्ट हैं । बहिर्मन की प्रधानता से अन्तर्मन की शक्ति आवृत रहती है । इस शक्ति के विकास के लिए भगवान् **समकायशिरोग्री०** इत्यादि रूप से योगप्रक्रिया बतलाने वाले हैं । इस आसनपद्धति से समत्वयोग का उदय हो जाता है । कुण्डलिनी सीधी तन जाती है । तालुमूलस्थित अमृत-बिन्दु के साथ कुण्डलिनी का योग हो जाता है, फलतः अन्तर्मन अमृत-सम्पत्ति से युक्त हो जाता है । परन्तु सर्वसाधारण इस योगानुष्ठान में प्रायः असमर्थ ही रहते हैं । इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए कारुणिक महर्षियों ने अर्थवादरूप प्ररोचनाभावों का समावेश किया है । यह अनुभवसिद्ध विषय है कि जो व्यक्ति अज्ञानवश अपने स्वरूप को भुलाता हुआ मन्दप्रभ रहता है, यदि उसी व्यक्ति को **"अजी, तुम साधारण नहीं हो, तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो"** इत्यादि रूप से उपलालित किया जाता है तो तत्काल उसकी सुप्तशक्ति जागृत हो जाती है । युद्धावसर पर चारणभाट लोग इन्हीं अर्थवादों के बल पर उन वीरों को उत्तेजित किया करते थे । इस यशोगान से सचमुच अन्तर्मन की सुप्तशक्ति जागृत हो जाती है । इसी शक्तिविकास के लिए दूसरे शब्दों में अन्तर्मन को समत्वभाव में परिणत करने के लिए ही तत्तत्कर्मों के साथ कामनामय फलस्वरूप अर्थवादों का उल्लेख किया गया है । **"हमारा अन्तर्मन कर्म्म में प्रवृत्त हो"** बस वेदोक्त कामनामय समूल वचनों का एक मात्र यही कर्तव्य है । इस रहस्य को न समझ कर जो मूढधी केवल कामना एवं फल की चर्वणा में ही बैठा रहता है वही **वेदवादरत** कहलाता है । उसी के मुख से **"नान्यदस्तीति"** यह अक्षर निकलते हैं । भगवान् कहते हैं कि वेदोक्त कामना एवं तज्जनित फलों पर ही **विश्राम मान लेना मूर्खों** का काम है । उत्थित कामना से कृतकर्म्म, कभी तत्कर्म्म में रति (आसक्ति) उत्पन्न नहीं कर सकता । **"गंगास्नान से हम मुक्त हो जाएंगे"** इस फल पर विश्वास कर लेने से इन्द्रिय-मन की प्रधानता हो जाती है । अतः इस फल को अन्तर्मन के अनुगत बनाते हुए कर्म्म पर ही प्रधान दृष्टि रखनी चाहिए, यही तात्पर्य्य है । केवल फल पर विश्राम करने से सचमुच **"नान्यदस्ति"** चरितार्थ हो जाएगा । भूमा-भाव की ओर आत्मा अग्रसर न होगा । यदि फलाभिवाञ्छा छोड़ दी जाएगी तो फल के साथ भूमारूप दुःखासंभिन्न आत्मानन्द का उदय हो जाएगा । इस लिए बुद्धियोगनिष्ठा में वेदवादरत न बनकर कर्म्म में ही रति रखनी चाहिए ।

॥ १ ॥

२–कामात्मनः स्वर्गपराः—

यदि केवल कामना पर ही, किंवा तज्जनित फल पर ही विश्राम हो जाएगा, तो इसका क्या परिणाम होगा ? इसी का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि जब तक आत्मा के साथ कर्म्म का सम्बन्ध है, तब तक तो द्वन्द्वभाव नहीं है । क्यों कि द्वन्द्वभाव द्वैतभाव पर निर्भर है । इधर विशुद्ध कर्म्म (निष्काम कर्म्म) ज्ञानवत् आत्मा का स्वरूपधर्म्म बनता हुआ अभिन्नसत्तात्मक बनता हुआ द्वन्द्वमर्यादा से बहिर्भूत है । फलतः बुद्धियोगलक्षण ऐसा कर्म्म-विदेहमुक्ति का कारण बनता हुआ द्वन्द्वमूलक जन्म-कर्म्म एवं फल से सम्बन्ध रखने वाले पाप्माओं को प्रवेश करने का अवसर नहीं देता । इस प्रकार ऐसे निष्काम कर्म्मयोगियों के लिए वही वेदवाणी **जन्मकर्म्मफलप्रदां** के स्थान में **जन्मकर्म्मफलाप्रदां** बन जाती है ।

साथ ही में कर्म्म-कलाप में होने वाले आयास (परिश्रम) का भी इन बुद्धियोगियों पर असर नहीं होता। ये ही तो पुरुषपुंगव सात्विकविभूति की सजीव प्रतिमा कहलाते हैं। शास्त्रज्ञानशून्य यथाजात मनुष्य तमोविभूति से आक्रान्त रहते हुए फलाफल का विचार किए बिना झटिति कर्म्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, थोड़े समय में ही घबड़ाकर उसे छोड़ भी देते हैं। शास्त्रवादरत कामी मनुष्य कर्म्म करते हैं, किन्तु कर्म्म की अवान्तर क्रियाओं में वे बडे परिश्रम का अनुभव करते हैं। **क्या करें, बडा जटिल कर्म्म है, फुर्सत ही नहीं मिलती है।** इस प्रकार घबड़ाया करते हैं। उधर कामनापरित्यागी निष्काम कर्मयोगी नियत कर्म्मों को नियत समय पर नियम से करने वाला सतत कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ भी आकुल नहीं होता। कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाला क्रियाजाल जहां वेदवादरत को बहुत आयास से युक्त कर देता है, वहाँ वेदकर्म्मरत कर्म्मयोगी के लिए यह क्रियाजाल विनोद की सामग्री बन जाती है। इनमें से वेदवादरत राजस व्यक्तियों की दशा का चित्रण करते हुए भगवान् कहते हैं कि स्वर्गादि अशाश्वत फलों को ही पर (अन्तिम) फल मानने वाले सांसारिक उत्थाप्य कामनाओं से युक्त कामी ही जन्मकर्म्म फल देने वाली भोगैश्वर्य के प्रति अनेक क्रियाजालों से जटिल बनी हुई उस वेदवाणी को काममयी बनाते हुए उसकी प्रशंसा किया करते हैं। कामना से संस्कार होता है। संचित संस्कार ही जन्म का कारण है। जन्म कर्म्म का कारण है। कामनामय कर्म्म फलासक्तिरूप संस्कार का कारण है। इस प्रकार एक ही काम बीज कामात्मा के जन्म-कर्म्म-फल (फलासक्ति) जन्म-कर्मफल इस द्वन्द्वरूप कर्माश्वत्थ-कर्म्मवृक्ष का कारण बन जाता है। शोक तो यह है कि कामना के आधार पर जिस वृक्ष को यह उत्पन्न करता है वह केवल पुष्पों से ही युक्त रहता है। तृप्तिसाधक आनन्दरूपफल का तो इस वृक्ष में नितान्त अभाव है। पुष्प भी भारतीय नहीं, अपितु विदेशी है। भारतीय पुष्पों में गन्ध तो होता है। उधर विदेशी पुष्पों में गन्ध का भी अभाव है। भारतीय निर्गन्ध किंशुक पुष्पों के बन्धु-बान्धव स्थानीय इन निर्गन्ध विदेशी पुष्पों से गन्धरूप फल की आशा रखना केवल दुराशा है, एवमेव इन आसक्तिमूल कर्म्मों से आत्मानन्दरूप फल की आशा रखना केवल दुराशा मात्र है। निष्कर्ष यह हुआ कि काम्यकर्म्मों की प्रवृत्ति में परिश्रम अधिक होता है और परिणाम कुछ नहीं होता। होता है तो वह स्वर्ग सुख, जो सदा दुःखमिश्रित रहता हुआ आत्मा में भय का संचार करता रहता है। दूसरा महाभयंकर परिणाम होता है–जन्म-कर्म-फल-चक्र-बन्धन। यदि जरा गड़बड़ की, कि भोगैश्वर्य छूटा, नाश हुआ। ठीक कर्म्म किया, परिश्रम अधिक हुआ, मिला क्या स्वर्ग। क्या-यही जीवन का परमपुरुषार्थ है? क्या इसी का नाम आनन्द है? "वासनाभावना-संस्कारजनित **समृद्धानन्द** के अतिरिक्त आत्मबोधमूलक **शान्तानन्द** नहीं है।" कर्म्मठों के इस विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। समृद्धानन्द कामनामय बनता हुआ, कभी आनन्द नहीं कहा जा सकता?

॥ २ ॥

३–भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्—

वेदवादरत मनुष्य वैदिक कर्म्म की स्तुति नहीं करते, अपितु कर्म्मजनित भोगैश्वर्यका ही यशोगान करते हैं। इन कामकामियों की दृष्टि में वैदिक कर्म्म की उत्तमता एवं श्रेष्ठत्व उसके भोगैश्वर्यरूप फल पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में कर्म्म इनकी दृष्टि में गौण है, भोगैश्वर्यप्रधान है।

इस फलासक्ति का क्या दुष्परिणाम होता है, यह इन्हें विदित नहीं है। प्रकृत श्लोक से भगवान् उसी का दिग्दर्शन कराते हैं। फलासक्ति मन में संस्कार उत्पन्न कर देती है। ये संस्कार त्रिगुणभावापन्न हैं। फलतः इन त्रिगुणसंस्कारों से मन त्रिगुण बन जाता है। यह कामासंकल्पात्मक मन त्रिगुणभावमय बनकर महान्‌रूप चित्त को त्रिगुणभावमय बना डालता है। महानात्मा त्रिगुण है, केवल विषयासक्ति की कृपा से। देखिए !

सत्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥ (मनु०१२।२४।)

त्रिगुणभाव से चित्त का प्रातिस्विक सत्त्वभाव मलिन हो जाता है। इस मलिनता से बुद्धि मलिन हो जाती है। फलतः बुद्धिका स्थिरभाव तिरोहित हो जाता है। अनेकचित्तविभ्रान्ता बुद्धि व्यवसाय धर्म्म से वञ्चित हो जाती है। "**व्यवसायात्मिका बुद्धिः**" इत्यादि प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि व्यवसाय स्थिरभाव है। स्थिरबुद्धि सम्यक् रूप से कर्म्म का आधान करने में समर्थ है। अस्थिर बुद्धि "**इदं वा इदं**" वा इस प्रकार किंकर्तव्यविमूढभाव से आक्रान्त रहती हुई **इदमित्थमेव** इस निश्चयात्मक सम्यक् आधान से वञ्चित है। दूसरे शब्दों में ऐसी बुद्धि कभी स्वाधिकृत कर्म्म का निश्चय नहीं कर सकती। यही बुद्धिव्यामोह है। समाधि बुद्धि का स्वरूप धर्म है। निश्चल वृत्ति का ही नाम (सम्यक्-रूप से स्थिररूप से कर्म्म का आधान करने का कारण) **समाधि** है। व्यवसायात्मिका बुद्धि ही समाधि-बुद्धि है। जब तक चित्त चञ्चल है तब तक समाधिलक्षण अचलभाव का अभाव है। इस समाधिवृत्ति के अभाव में कभी व्यवसायात्मिकाबुद्धि का उदय नहीं हो सकता। "समाधि में व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी प्रवेश नहीं करती"। (व्यवसायात्मिकाबुद्धि, समाधौ न विधीयते) इस वाक्य का समाधि शब्द एकाग्रता किंवा स्थिरता का ही वाचक है। "भोगैश्वर्यप्रसक्त मनुष्यों की बुद्धि (व्यवसायात्मिका लक्षणा वास्तविकबुद्धि) एकाग्रता में प्रवेश नहीं करती" यही अर्थ है। एकाग्रता में प्रवेश कर भी कैसे सकती है? क्यों कि चित्त चाञ्चल्य के कारण समाधिलक्षण एकाग्रता है ही नहीं। व्याख्याताओं ने "**समाधि**" का अर्थ अन्तःकरण (मन) माना है। यह मानना एक दृष्टि से तो ठीक हो सकता है। अन्तःकरण की स्थिरता ही स्थिरलक्षणसमाधि का कारण है। बुद्धि की निश्चलता समाधिवृत्ति है। यह समाधि स्थिरप्रज्ञा पर निर्भर है। फलतः परम्परया समाधिबुद्धि की समाधि का कारण बनता हुआ अन्तःकरणरूप मन भी **समाधिशब्द** से व्यवहृत किया जा सकता है। इसीलिए बुद्धि की स्थिर वृत्ति एवं मन की निश्चलता दोनों ही लोक में समाधि नाम से व्यवहृत होती देखी गई है। परन्तु हमारे व्याख्याता समाधि का अर्थ कुछ ऐसा अटपटा करते हैं कि जिससे उनकी व्याख्यापर से श्रद्धा हट जाती है। "**समाधीयते पुरुषो विषयेष्वनेनेति समाधिः, वासनात्मना जगत् सर्वं समाधीयते पुरुषेणास्मिन्निति वा समाधिरन्तःकरणं, तस्मिन्व्यवसायात्मिकाबुद्धिर्योगबुद्धिर्नविधीयते, न प्रवेश्यते, कामैरन्तरालाभान्न प्रविशति**" (शंकरानन्दी व्याख्या) यह है समाधि शब्द का निर्वचन। व्याख्याता के मतानुसार "जिस वृत्ति से आत्मा विषयों में आसक्त रहता है, अन्तःकरण की भावना वासनामयी उसी वृत्ति का नाम समाधि है।" व्याख्याता को यह भ्रम हुआ है "**व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते**" इस वाक्य

से । स्थिरबुद्धि व्यवसायात्मिकाबुद्धि है । उधर भगवान् यह कह रहें है कि यह स्थिरबुद्धि समाधि में प्रवेश नहीं कर सकती । फलतः समाधि का अर्थ संस्कारावच्छिन्न चञ्चल मनोवृत्ति-परक ही सिद्ध हो जाता है । यदि समाधि का निश्चलवृत्ति अर्थ होता तो भगवान् **"व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ विधीयते"** यह कहते । इस सम्बन्ध में कहना यही है कि व्याख्याता ने भगवद्वचन का तात्पर्य्य न समझते हुए सहसा उक्त विपरीत अर्थ कर डाला है । भोगैश्वर्य के कारण प्रज्ञा अस्थिर हो जाती है । यही प्रज्ञा की असमाधि है । इस असमाधि में व्यवसायात्मिका बुद्धि के व्यवसायधर्म का उदय नहीं होता । बलतः समाधिलक्षणा निश्चलवृत्ति में व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्रतिष्ठा नहीं होती, यही तात्पर्य है । यदि व्याख्याता के अनुसार समाधि का चञ्चलवृत्ति ही अर्थ माना जायगा तो **"समाधावचला बुद्धिः"** के **"समाधौ"** का क्या अर्थ होगा ? ऐसी स्थिति में प्रकृत **"समाधौ"** का **एकाग्रभावे, निश्चलभावे, स्थिरभावे** यही अर्थ समीचीन होता है । निष्कर्ष यही हुआ कि फल की ओर मनोवृत्ति रखने से मन चंचल हो जाता है । मन के चांचल्य से चित्त का सत्वगुण अपहृत हो जाता है । चित्त-क्षोभ से बुद्धि में अव्यवसाय-लक्षण अस्थिर भाव उदित हो जाता है । फलतः ऐसी बुद्धि बुद्धियोग-सम्पत्ति से च्युत होती हुई समाधि के लिए अयोग्य बन जाती है ।

॥ ३ ॥

४–त्रैगुण्यविषया वेदाः—

जिन प्रवृत्तिकर्म्मानुयायिनों ने वैदिककर्म्मों को फलकामना की दृष्टि से श्रेष्ठतम मान रक्खा है, उनकी दृष्टि से सम्पूर्ण वेद त्रिगुणभावात्मक ही बने रहते हैं । क्यों कि फलकामासक्ति ही तो त्रिगुणभाव की जननी है । ध्यान रहे–भगवान् वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी नहीं हैं, अपितु भगवान् का विरोध फलासक्ति से सम्बन्ध रखने वाले केवल त्रैगुण्यभाव के साथ है । इसीलिए भगवान् ने, **"वैदिक कर्म त्रिगुणभावापन्न हैं"** यह कह कर, **"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"** से त्रिगुणभाव के परित्याग का ही उपदेश दिया है । त्रिगुणातीत बनकर सतत वैदिक कर्म्म में प्रवृत्त रहना ही भगवान् की दृष्टि में सर्वोच्चतम मार्ग है । इस त्रिगुणभाव की निवृत्ति के लिए चित्त को स्थिर करना पड़ेगा । तयापहृतचेतसाम्" वाली अस्थिर वृत्ति का निरोध करना पड़ेगा, इसके लिए मन को स्थिर करना पड़ेगा । मन की स्थिरता के लिए भोगैश्वर्य फलकामासक्ति का परित्याग करना पड़ेगा । इस प्रकार कर्म्मफलपरित्याग से कर्म्मजनित संस्कार का मनपर लेप न होगा । लेपभाव से मन निष्काम निःसकल्प बनता हुआ स्थिर हो जाएगा । मन की इस प्रज्ञा के स्थिर होते ही तत्सम्बन्धी चित्त स्थिर हो जाएगा । चित्त के स्थिर होते ही उसके स्वाभाविक नित्यसत्त्व का उदय हो जाएगा । सत्त्वोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही में बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाएगी–**"स्वस्थे चित्ते बुद्धयःसंस्फुरन्ति ।"**

प्रश्न यह है कि त्रिगुणभाव से कैसे पीछा छुडाया जाय ? केवल कहने एवं सुनने भर से ही तो हम निस्त्रैगुण्य नहीं बन सकते । इन्द्रियानुगामी मन जब तक विषयानुगामी बना रहेगा, तब तक फलकामासक्ति का निरोध कठिन है । कर्म्मरूपविषयों में इन्द्रियों द्वारा मन प्रवृत्त भी रहे और विषय

सम्बद्ध त्रैगुण्य का इस के साथ सम्बन्ध न हो, यह बात समझ में नहीं आती। इसी आशङ्का को दूर करने के लिए भगवान् ने "**निर्द्वन्द्वः**" कहा है। प्रथमोपनिषत् के ३ (क) तृतीयोपदेश में (**नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः**) इत्यादि प्रकरण में इस प्रश्न का विस्तार से समाधान किया जा चुका है। अतः यहाँ उसके पिष्ट-पेषण की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि मन भले ही इन्द्रियों के द्वारा कर्म्मात्मविषयों में अहोरात्र प्रवृत्त रहे, एतावता ही मन कभी त्रिगुणभाव से युक्त नहीं हो सकता। त्रिगुणभाव की मूल जननी है "**द्वन्द्ववृत्ति**"। द्वैतभाव ही राग-द्वेष का जनक है। राग-द्वेष ही फलकामासक्ति के जनक हैं। फलकामासक्ति ही त्रिगुणभाव की मूलजननी है। त्रैगुण्यपरित्याग के लिए फलकामासक्ति छोडनी पड़ेगी। फलकामासक्ति के परित्याग के लिए राग-द्वेष का परित्याग करना पड़ेगा। राग-द्वेष से बचने के लिए द्वैत-मूलक द्वन्द्वभाव का परित्याग करना पड़ेगा। द्वन्द्वभाव से बचने के लिए सत्-असत् तत्त्वों का विवेक करना पड़ेगा। इस विवेक के लिए सतत अभ्यासयोग का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने "**निर्द्वन्द्वः**" कहा है।

१–अभ्यासेन तत्त्वविवेकोदयः।

२–तत्त्वविवेकात्–वैराग्योदयः।

३–वैराग्योदयात्–द्वन्द्वनिवृत्तिः।

४–द्वन्द्वनिवृत्या–रागद्वेषनिवृत्तिः।

५–राग-द्वेषनिवृत्या–फलकामासक्तिनिवृत्तिः।

६–कामासक्तिनिवृत्या–निस्त्रैगुण्योदयः।

७–निस्त्रैगुण्योदये–बुद्धियोगनिष्ठावाप्तिः।

ततश्च–पराशान्तिरात्मलक्षणमोक्षैश्वर्यसिद्धिश्च।

सदसल्लक्षण मूलद्वन्द्व ही **राग-द्वेष, सुख-दुख, हर्ष-शोक, पाप-पुण्य** इत्यादि सांसारिक तूलद्वन्द्वों की मूलप्रतिष्ठा है। जब तक द्वन्द्वभावाधिष्ठाता मूलद्वन्द्व बीजरूप से मन में प्रतिष्ठित रहता है, तब तक तूलद्वन्द्वों का निरोध नहीं किया जा सकता। एवं जब तक प्रज्ञापर तूलद्वन्द्वों का आक्रमण होता रहता है, तब तक प्रज्ञा स्थिर नहीं रहती। जब तक प्रज्ञा स्थिर नहीं हो जाती तब तक तत्सम्बन्धी चित्त (महान्) स्थिर नहीं होता। जब तक चित्त स्थिर नहीं होता तब तक उसके स्वाभाविक नित्यसत्त्व का उदय नहीं होता। इस नित्यसत्त्व की प्राप्ति के लिए चित्त की स्थिरता, इसके लिए प्रज्ञा की स्थिरता, इसके लिए तूलद्वन्द्वों का निरोध, इस के लिए मूलद्वन्द्वनिरोधलक्षण निर्द्वन्द्वभाव ही अपेक्षित है। बिना निर्द्वन्द्वता के नित्यसत्त्व में हमारा मन कभी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर "**निर्द्वन्द्वः**" के पीछे ही "**नित्यसत्त्वस्थः**" यह कहा है।

द्वन्द्वातीत बनने से चित्त में स्वाभाविक सत्त्व का उदय हो गया। परन्तु यह तब तक नित्य नहीं बन सकता जब तक की मन को **योग-क्षेम** की चिन्ता से विमुक्त नहीं कर दिया जाता। नित्यसत्त्व में प्रतिष्ठित रहने के लिए निर्योगक्षेमयुक्त बनना परम आवश्यक है। **"अलब्धस्य लाभः"** ही **योग** है। और **"लब्धस्य परिरक्षणम्"** ही **क्षेम** है।[1] **संग्रह** योग है, संगृहीत की रक्षा क्षेम है। निरन्तर भौतिक सम्पत्तियों को बटोरना योग है। आगत सम्पत्ति की रक्षामें प्रयत्नशील रहना क्षेम है। अविद्यमान का सम्पादन योग है, विद्यमान का पालन क्षेम है।[2] अप्राप्तस्वीकार योग है, प्राप्तपरिपालन क्षेम है। अप्राप्त की प्राप्ति योग है, प्राप्त का संरक्षण क्षेम है।[3] इन योग-क्षेमों का उदय कामना से सम्बन्ध रखता है। संसार में हमें तत्तत् विशेष अवसरोंपर तत्तत्-विशेष पदार्थों की आवश्यकता का अनुभव होता रहता है। इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए हम उन पदार्थों का बडे प्रयास से संग्रह करते रहते हैं। कामना से प्राप्त ये पदार्थ आसक्तिरूप से मन के साथ युक्त होते रहते हैं।[4] यही **योग** है। जो विषय किंवा पदार्थ संस्कार रूप से मन में एकबार आ जाता है, हम प्राण-पण से उसकी रक्षा में प्रयत्नशील रहते हैं। इसी वृत्ति का नाम क्षेम है।[5] यह योग और क्षेम दानों ही आगमापायी हैं। हमारी कामना से काम्यपदार्थ का हमारे साथ योग हो ही जाएगा। दूसरे शब्दों में हमें अभिलषित पदार्थ मिल ही जाएगा, यह भी निश्चित सिद्धान्त नहीं है। साथही में बडे प्रयास से प्राप्त वह पदार्थ हमारी कामनामात्र से किंवा कामनामयप्रयास से सदा के लिए सुरक्षित ही रहेगा, यह भी सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में ये अनिश्चित योगक्षेम हमारे मन को चंचल बना डालने के लिए पर्याप्त बन जाते हैं। प्रयास किया न मिला, चित्त क्षुब्ध हो गया। मिला, परन्तु थोड़े समय में नष्ट हो गया। लीजिए! चित्त और भी क्षुब्ध हो गया। प्राप्ति में क्षोभ, प्राप्त न होने में क्षोभ, प्राप्त हो जाने पर उत्तालतरंगलक्षण क्षोभ, प्राप्ति रक्षामें क्षोभ, नष्ट हो जानेपर महाक्षोभ, इस प्रकार इन योग-क्षेमों में कामनापूर्वक प्रवृत्त रहने से मन को अथ से इति तक क्षोभ ही क्षोभ का पुरस्कार मिलता है। इस क्षोभ से ही त्रैगुण्यभाव का उदय-अस्तक्रम चलता रहता है। पुत्र हुआ, थोड़ी देर केलिए मन में मलिनसत्त्वलक्षणसुख का उदय हुआ। पुत्र बीमार हुआ, क्षोभलक्षणा रजोवृत्ति का उदय हुआ। पुत्र मर गया, स्तब्धलक्षणा तमोवृत्ति जागृत हुई। इस प्रकार जब तक हम योग-क्षेम का भार अपने ऊपर (मनपर) रखते हैं, तब तक कभी त्रिगुणभाव से हमारा पीछा नहीं छूट सकता। जब तक यह त्रिगुणभाव है, तब तक कभी नित्य-सत्त्व का उदय नहीं हो सकता। यदि एक बार सत्त्वोदय हो गया और हम इस योग-क्षेम की प्रवृत्ति से उन्मुख न हुए तो कभी हमारा वह सत्त्व सुरक्षित नहीं रह सकता। सच पूछा जाय तो योग-क्षेम दोनों ही हमारे कर्म्म पर निर्भर हैं! योग-क्षेम के लिए हमारा प्रयास करना व्यर्थ है। हां, योग-क्षेम जिस कर्म्म से हमें मिलता

१–अलब्धलाभो योगः। –लब्धस्य परिरक्षणं क्षेमः।
२–अविद्यमानस्य संग्रहो योगः। –विद्यमानस्य रक्षा क्षेमः।
३–अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः। –प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेमः।
४–कामनया प्राप्तवस्तुनःप्राप्तिस्तस्य चासक्तिरूपेण मनसा योगो योगः।
५–आसक्तिरूपेणमनसिप्रतिष्ठितस्य प्राप्तविषयस्य रक्षायां प्रयत्नः क्षेमः।

रहता है, योग-क्षेम की इच्छा न रखते हुए उस स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म में हमें प्रवृत्त रहना चाहिए। जो मिलना होगा मिलही जाएगा, जो नहीं रहने वाला है वह नहीं ही रहेगा। इसी अभिप्राय से **"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः"** यह कहा गया है। तुम यदि अनन्यभाव से कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहोगे तो आत्मदेवता अपने आप तुम्हारे लिए योग-क्षेम का प्रबन्ध करता रहेगा। **"तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"**। ऐसी स्थिति में **"यदि हम योग-क्षेम की चिन्ता न करेंगे तो शरीर यात्रा का निर्वाह ही कैसे होगा"**? इस चिन्ता का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। योग-क्षेम तो होता ही रहेगा। यदि तुम इस ओर प्रवृत्त हो जाओगे तो चित्त की सत्त्व-वृत्ति उच्छिन्न हो जाएगी। द्वन्द्वभावों को प्रवेश करने का अवसर मिल जाएगा। इसलिए यदि त्रिगुणभाव की निवृत्ति के लिए निर्द्वन्द्व बनते हुए, तुम नित्यसत्वस्थ रहना चाहते हो तो योगक्षेम की चिन्ता छोडकर केवल कर्म्म में प्रवृत्त रहो। यही सच्ची बुद्धियोगनिष्ठा है।

योग-क्षेम की वृत्ति स्वाभाविक धर्म है। जो वस्तु नहीं है, जिसके न रहने से हम कमी का अनुभव कर रहे हैं, जिस कमी से हम शोकजनित दुःख का अनुभव कर रहे हैं उसकी पूर्ति के लिए योग-क्षेम की चिन्ता करना मन का स्वाभाविक धर्म्म हैं। प्रश्न होता है कि अब इस प्रकृतिसिद्ध सहजधर्म्म को कैसे रोका जाय? भगवान् कहते हैं **"आत्मवान्-भव"**। हमारे अन्तरात्मा में त्रैलोक्य की विभूति विद्यमान है। केवल अस्मितादोषवश आत्मा का प्रातिस्विकवैभव तिरोहित हो रहा है। इसीलिए कर्मात्मा योगक्षेम की चिन्ता में पड़ा रहता है फिर यह भी निर्विवाद है कि जो व्यक्तिसर्वभूतहितरति को अपना उद्देश्य बनाता हुआ वैयक्तिक स्वार्थ को छोडकर निःस्वार्थ बुद्धि से समाज के कल्याण के लिए निष्कामबुद्धया कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, उसके योग-क्षेम की चिन्ता समाज को रहती है। उसे कभी किसी भी प्रकार की कमी नहीं रहती। भोजन जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं है। हम अन्न के लिए उत्पन्न नहीं हुए हैं, अन्न हमारे लिए उत्पन्न हुआ है। सब हमारा ही तो है। सब हमही तो हैं। इस आत्मभावना से अभ्यास द्वारा कालान्तर में निर्योग-क्षेमवृत्ति का उदय होता है। इस वृत्ति से नित्य-सत्त्व में प्रतिष्ठा हो जाती है। नित्य-सत्त्व के प्रभाव से द्वन्द्व एवं तन्मूलक त्रैगुण्य स्वतः निवृत्त हो जाता है। बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है।

॥ ४ ॥

५-यावानर्थ उदपाने०—

निस्त्रैगुण्य बनो, तदर्थं निर्द्वन्द्व बनो, तदर्थं नित्यसत्त्वस्थ बनो, तदर्थं निर्योगक्षेमवान् बनो, एवं तदर्थं आत्मवान् बनो, तब बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होगी, यह कहा जा चुका है। योगक्षेम में प्रवृत्त रहने वाला कर्म्मणा विविध प्रकार के भोगैश्वर्य प्राप्त करता है। इन्हीं फलों के उपलालन से वह कर्म्म में प्रवृत्त भी होता है। यदि वह इन फलों को छोड देता है तो एक प्रकार से कर्म्म के प्रति इसकी अरति हो जाती है। लोक में हम देखते हैं कि एक साधारण मनुष्य भी निष्फल कर्म्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार मनोविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार भगवान् के उक्त आदेश में सन्देह ही बना रहता है। कौन बुद्धिमान् फलाशा को छोडकर स्थाणुवत् अन्धपरम्परया कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होगा? यह ठीक है

कि फलाशा में क्षोभ है, परन्तु वहां भोगैश्वर्य की प्राप्ति भी तो है। दूध देती गाय की तो लात भी सही जा सकती है। परन्तु जो गाय दूध नहीं देती, उसे कौन चारा डालेगा। **"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते"**। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करने लिए भगवान् को–**"यावानर्थ उदपाने"** यह कहना पड़ा है।

भगवान् कहते हैं, तुमने पुत्र, कलत्र, धन, धान्य, शरीरस्वास्थ्य, स्वर्गसुख आदि फलों की कामना से कर्म्म किया, कर्म्म की कृपा से तुम्हें अभिलषित फल भी मिल गया, परन्तु इस से हुआ क्या? एक बकरी को दूध पिलाओ, परन्तु उसके सामने शेर खड़ा करदो, उस का यह पानफल क्या वास्तव में फल कहलावेगा? यह तो आप किसी भी दशा में अस्वीकार न करेंगे कि सांसारिक, किंवा पारलौकिक सुख सदा एक से नहीं रहते। प्रत्येक लौकिक सुख में दुःख अनुस्यूत रहता है। देखिए! इस सम्बन्ध में वैराग्यलक्षणबुद्धियोग के आचार्य भगवान् भर्तृहरि क्या कहते हैं—

भोगे रोगभयं, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद्भयम्।
मौने दैन्यभयं, बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥

शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥ (वैराग्यशतक-३५)

पहले तो अभिलषित फल का मिलना ही संदिग्ध है, क्यों कि फलाशा पर दृष्टि रखने से कर्म्म-शक्ति क्षीण हो जाती है, साध्य कर्म्म की सिद्धि के लिए जितना साधन कर्म्म अपेक्षित है, वह फल की ओर बटजाने से साध्य कर्म्म को सर्वात्मना पूर्ण नहीं कर सकता। यदि यथाकथंचित् फल मिल भी गया तो आत्मदृष्ट्या उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कारण **"यो वै भूमा तत् सुखं–नाल्पे सुखमस्ति"** इस सर्वमान्य, एवं सर्वानुभूत सिद्धान्त के अनुसार निःसीम आनन्द ही आनन्द है। अल्पता में आनन्द का आभास मात्र है। आपको विश्वास करना चाहिए कि जितना आनन्द एक झोपड़ी में रहने वाले एक मजदूर को है, ठीक उतना ही आनन्द उस सम्राट् को है, जिसके पास आनन्द के सब साधन प्रस्तुत हैं। हम तो यह तक कहने में संकोच नहीं करते कि बहुविषयात्मक सम्राट् की अपेक्षा स्वल्पपरिग्रह रखने वाला मजदूर कहीं अधिक सुखी है। तृष्णा एक महाःदुख है। इसका कभी अन्त नहीं है। फलतः सतृष्ण विषय कभी शाश्वत आनन्द का कारण नहीं बन सकते। एक व्यक्ति को कहीं से १० सहस्र रुपये मिल गए, क्षणभर के लिए उसमें उछाल पैदा होगी, फिर वही कल की बात। हम नहीं समझते इस क्षणिक उछाल में तुमने क्या पुरुषार्थ समझ रक्खा है?

मार्ग में एक उदपान (खेली) बना हुआ है। वह ऊपर तक जल से परिपूर्ण है। प्यासे पशु उधर से निकलते हैं, खेली में मुंह लगाकर पेटभर पानी-पीते हुए संतोष की आह लेलेते हैं। अवश्य ही पशुओं की प्यास थोडी देर के लिए खेली के जल से शान्त हो जाती है। बस ठीक यही दशा उन

कर्म्मठों की है, जो त्रैगुण्यभाव से युक्त रहते हुए फलाशापूर्वक वैदिककर्म्म में प्रवृत्त होते हैं। थोड़ी देर के लिए इनकी भी इन फलों से तृप्ति हो जाती है। एक ओर महासमुद्र, एक ओर गन्दी खेली। एक ओर असीम शाश्वत आनन्द, दूसरी ओर असीम विषयानन्द। दोनों में कौन अधिक महत्त्व रखता है, इसका निर्णय अपनी बुद्धि से ही करना चाहिए। बुद्धियोगनिष्ठ विज्ञानवान् एक ब्राह्मण की दृष्टि में जो महत्त्व एक गन्दी खेली का है, ठीक वही महत्त्व सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीय इस प्रवृत्तिमूलक त्रैगुण्यभावापन्न इस काम्यवैदिक कर्म्मकलाप का है। वैदिक कर्म्मकलाप कामनाओं का समुद्र है। ऐसी कोई लौकिक विभूति नहीं, जो वैदिक कर्म्मकाण्ड से सिद्ध नहीं हो सकती। फिर भी इस का महत्त्व आत्मसमुद्र के सामने एक खेली जितना ही है। इस सम्बन्ध में भिन्न व्याख्याताओं के भिन्न-भिन्न मत हैं। सांख्यनिष्ठा के अभिनिवेश में निविष्ट इन व्याख्याताओं की लीला का भी निरीक्षण कर लीजिए।

१–वापी, कूप, तड़ाग, पुष्करिणी, नद, नदी आदि भेद से अनेक छोटे बड़े उदपान (जलाशय) हैं। इन उदपानों में तृषानिवृत्ति, स्नान आदि जो फल मिलता है, वही फल चारों ओर से परिपूर्ण समुद्र में मिलता है। अर्थात् एक जलाशय भी हमारे स्नानादि प्रयोजन को ही सिद्ध करता है, एवं एक समुद्र भी इससे अधिक उपकार नहीं कर सकता। एवमेव क्षुद्र जलाशय स्थानीय वैदिक यज्ञ-दान-अध्ययन-व्रत-तप आदि से जो आनन्दरूप फल मिलता है, वही आनन्द सर्वज्ञ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को मिलता है। आत्मानन्द समुद्रस्थानीय है, कर्म्मानन्द जलाशयस्थानीय है। दोनों में फल की समानता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि जलाशयों का क्षय हो सकता है, समुद्र का क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्म्मानन्द नाशवान् है, आत्मानन्द अक्षय है। जब फलांश में दोनों समान हैं, साथही में आत्मानन्दरूप में अक्षयभाव की विशेषता है तो ऐसी स्थिति में आत्मानन्द की ओर ही प्रवृत्त रहना चाहिए।

अथवा-भूमि में जहाँ-जहाँ वापी, कूप, तड़ाग, नद, नदी आदि उदपानरूप जलप्रदेश हैं, उन सब में जलरूप अर्थ जितनी मात्रा में विद्यमान है, वह उस सर्वतः संप्लुतोदक महासमुद्र के एक कोने में समाया हुआ है। अर्थात् पृथिवी पर के सब जलाशय एक ओर, समुद्र एक ओर फिर भी दोनों की बराबरी नहीं की जा सकती। कारण, सम्पूर्ण जलाशयों में जितना जल है, वह उस महासमुद्र के एक कोने में समा रहा है। साथही में जलाशय जिस जल की महत्ता से महत्त्वशाली बन रहे हैं, यह महत्ता भी वस्तुतः समुद्र की ही है। उसी के प्रत्यंशों को लेकर जलाशय-जलाशय बन रहे हैं–"**सर्वं पदं हस्तिपदे-निमग्नम्**"। ठीक यही दशा यहाँ समझिए। अनेक शाखाभेदभिन्न वैदिक असंख्य कर्म्म छोटे बड़े जलाशय हैं। इन सब की अपेक्षा महा-महा आत्मानन्द सर्वतः संप्लुतोदक समुद्र है। **एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति**" के अनुसार सब विषयानन्द, किंवा कर्म्मानन्द इस आनन्दसमुद्र के ही प्रत्यंश हैं। आत्मानन्द बिम्बानन्द है, विषयानन्द प्रतिबिम्बानन्द है। यह अल्प है, वह महान् है। इस महान् फल को छोड़कर कौन बुद्धिमान् बहुप्रयाससाध्य उस अल्पफलरूप कर्म्ममार्ग पर आरूढ रहेगा। अतः मुमुक्षु को कर्म्म का एकान्ततः परित्याग ही कर देना चाहिए। आत्मानन्द की अपेक्षा कर्म्मानन्द छोटा भी है, साथ ही में विजातीय भी है। इधर आत्मानन्द को लेने भी कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता, साथही में तृप्ति भी असीम है–"**अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्**" (शंकरानन्दस्वामी)

२–क्षुद्रजलाशय में स्नानपानादि जो प्रयोजन सिद्ध होता है, वह प्रयोजन तो चहुंओर से परिपूर्ण महासमुद्र में भी सिद्ध हो ही जाता है। पर्वत-निर्झर चारों ओर से पृथक्-पृथक् धार बनाकर पृथक्-पृथक् बहते हुए किसी एक स्थान में पुनः मिल जाते हैं। इनमें प्रत्येक धारा में स्नानपानादिलक्षण जो प्रयोजन सिद्ध होता है, वही प्रयोजन उस समुदित जल से भी सिद्ध है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदों का धारारूप जो काम्यकर्म्म-फल है, वह ब्रह्मानन्द में भी ज्यों का त्यों है ही। कारण, क्षुद्रानन्द ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं, फलतः क्षुद्रानन्दों का ब्रह्मानन्द में स्वतएव अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि निष्काम कर्म्मों से जब आत्मज्ञान का उदय हो जाता है तो परमानन्द प्राप्ति हो जाती है। इस परमानन्द से जब इतर सम्पूर्ण आनन्द अपने आप गतार्थ हो जाते हैं तो क्षुद्रानन्द प्राप्ति के प्रतिबन्ध रूप काम्यकर्म्मों के परित्याग से मन में जो व्यग्रता उत्पन्न होती है, उस को अवकाश नहीं मिलता। इसलिए परमानन्दसाधक तत्त्वज्ञान के लिए निष्काम कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। इस अर्थ का निष्कर्ष यही हुआ कि फलत्याग की विभीषिका से यदि कोई काम्यकर्म्म छोड़ना पसन्द नहीं करता तो वह गलती करता है। कारण, निष्काम कर्म्म से उदित ज्ञानयोग के प्रभाव से जो आत्मानन्द मिलेगा, उसमें काम्य-कर्म्मजनित सब फलानन्द विद्यमान हैं। (मधुसूदन सरस्वती)

———०———

३–चारों ओर से जल से परिपूर्ण एक बडे भारी सरोवर में एक पुरुष के स्नानपानादि जो प्रयोजन एक घटमात्र के जल से सिद्ध हो जाता है, वह प्रयोजन सम्पूर्ण वेदों में से घटस्थानीय एकमात्र उपनिषत्श्रवण से भी आत्मज्ञानी सिद्ध कर लेता है। तात्पर्य्य यह है कि परिपूर्ण सरोवर का साराजल हमारे प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता, अपितु अपने घट-कलशादि पात्र में जितना सा पानी हम अपने घर ले आते हैं, वही हमारे स्नानपानादि प्रयोजन में उपयुक्त होता है। कारण, सम्पूर्ण जल का उपयोग किसी अवस्था में नहीं किया जा सकता। एवमेव सम्पूर्ण वेदार्थ का इस थोड़े से जीवन में अनुष्ठान कर लेना असम्भव है। ऐसी स्थिति में जन्मान्तर अथवा ऐहिक जपादि से चित्त शुद्ध हो जाने पर वेद के एक भागरूप उपनिषत्श्रवण से ही निस्त्रैगुण्यता प्राप्त की जाती है। सम्पूर्ण वेद सर्वतः संप्लुतोदक महा जलाशय है। वेद का उपनिषत्भाग उस सरोवर का प्रत्यंशरूप घटस्थानीय जल है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि कर्म्मकाण्ड प्रधान, एवं भक्तिकाण्डप्रधान वेद के इतर भाग से कोई प्रयोजन न रखकर ज्ञानकाण्डप्रधान उपनिषद्रूप वेदान्त का ही अनुगमन करना चाहिए। (नीलकण्ठ)

———•———

४–सर्वतः संप्लुतोदक स्थानीय आत्मज्ञान में पुरुष के वे सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, जो कि प्रयोजन एक कर्म्मठ अनेक कूपस्थानीय वैदिक काम्यकर्म्मों से सिद्ध करना चाहता है। (वृद्धाः)

———०———

उक्त मतों की समालोचना करने की न तो हम आवश्यकता ही समझते हैं, एवं न इन व्यर्थ के सारशून्य वितण्डावादों से कोई प्रयोजन ही निकलता है। इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त

होगा कि उक्त सभी मत प्रौढिवाद मात्र है। कहीं **"यावानर्थ उदपाने-सर्वतः संप्लुतोदके"** दोनों को भिन्न-भिन्न मानकर-यथा-तथा पदों का अध्याहार किया जा रहा है, कहीं **"सर्वतः"** इत्यादि को **"उदपाने"** का विशेषण माना जा रहा है। कहीं उदपान को महासरोवर बतलाया जा रहा है, कहीं उदपान को क्षुद्रजलाशय बतलाया जा रहा है। कहीं वापी-कूप-तडागादि यच्चयावत् जलाशयों के संग्रह के लिए जाति में एक वचन माना जा रहा है। इस प्रकार कर्म्मपरित्यागलक्षण काल्पनिक सांख्यनिष्ठा के रंग में रंगे हुए व्याख्याता शब्दमर्य्यादा का सर्वथा उल्लंघन करते हुए ऋजुअर्थ का अनर्थ करने में ही अपनी विद्वत्ता समझ रहें हैं।

स्वतन्त्रदृष्टि से उदपान शब्दार्थ का विचार कीजिए। **"जिससे पानी पिया जाय"** वही जलाशय **"उदपाने"** है। योंतो कूप-वापी-तड़ाग-नद-नदी सभी से पानी पीया जा सकता है, परन्तु इनके लिए अन्य साधन अपेक्षित हैं। कूप से रज्जू द्वारा पानी निकालकर पीया जाता है। वापी से रज्जु द्वारा लोटे से अथवा अञ्जलि से पानी पीया जाता है। यही दशा तड़ागादि की है। उदपानशब्द की मर्य्यादा इस अर्थ को व्यक्त कर रही है कि जिसमें बिना किसी (रज्जू-लोटा-अञ्जली) साधन के योंही पानी पी लिया जाय। ऐसी प्रक्रिया केवल मुंह से पानी पीने से ही सम्बन्ध रखती है। मनुष्यसम्प्रदाय में जलाशय में मुंह लगाकर पानी पीने की प्रथा का अभाव है। यह तो विशुद्ध पशुधर्म्म है। पशु ही मुंह लगाकर पानी पीया करते हैं। तो बस उदपानशब्द मर्यादा के अनुसार हमें इस निश्चय पर पहुंचना पड़ा कि रस्ते चलते पशु जिस छोटे जलाशयों में मुंह लगाकर पानी पीते हुए अपनी प्यास बुझाते हैं, वही उदपान है। वस्तुतस्तु उदपान-उदपान ही है, इसे जलाशय भी नहीं कहा जा सकता। वापी-कूप के समीप पशुओं के पानी पीने के लिए एक स्वतन्त्र जलस्थान बना दिया जाता है। प्रान्तीयभाषा में इसे ही **"खेली"** कहते हैं। इस खेली के लिए ही प्रकृत में **"उदपान"** शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसमें एक साथ कई पशु पानी पीते हैं, अतएव कोशकार ने-**"उदकं पिबन्त्यस्मिन्"** यह व्युत्पत्ति की है। जब खेली ऊपर तक भरी रहती है, तभी पशु इसमें आसानी से पानी पी सकते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् ने-**सर्वतः संप्लुतोदके** यह कहा है।

"वेदवादरताः पार्थ०" इत्यादि में भगवान् ने त्रैगुण्यभाववादियों को अविपश्चित् कहा है। मूर्ख मनुष्य को लोक में पशु कहा जाता है। पशु ही खेली के पानी से तृप्ति का अनुभव करते हैं। इस प्रकार इन पशुतुल्य फलकामुकों की तृप्ति के सम्बन्ध में उदपानरूप खेली के पानी से तृप्त होने वाला दृष्टान्त सर्वात्मना अन्वर्थ बन जाता है। प्रकरण के आरम्भ में हमने इसी अर्थ को प्रधानता दी है।

यदि महाभाग नीलकण्ठ के मतानुसार उदपान का अर्थ बडा भारी सरोवर भी मान लिया जाता है, तब भी उनके-**"उदपानस्थानीय वेद के एकदेशरूप उपनिषत्-श्रवण से ही त्रैगुण्य हट जाता है।"** इस कथन में तो हमारी जरा भी श्रद्धा नहीं है। उदपान को महासरोवर मानते हुए निम्नलिखित रूप से भी यथाकथञ्चित् श्लोकार्थ का समन्वय किया जा सकता है।

काम्यकर्म्मानुयायी-कर्म्मठ फलों के लिए क्यों लालायित रहता है ? इसका उत्तर है-फलों का अभाव । वह जो चाहता है, वह उसके पास नहीं है । इसी कमी की पूर्ति के लिए वह फलों की ओर प्रवृत्त होता है । यदि कोई ऐसा उपाय निकल आवे कि जिससे यह कर्म्म में भी प्रवृत्त रहै, साथ ही में फल पर इसकी दृष्टि भी न जाय तो उत्तम हो । ऐसा उपाय है **"विजानन्"** वृत्तिलक्षण बुद्धियोग । जानन् मनःप्रधाना वृत्ति है । विजानन् बुद्धिप्रधाना वृत्ति है । बुद्धियोग की दृष्टि आत्मा पर ही रहती है । आत्मा एक ऐसा विशाल सरोवर है, जो ऊपर तक चारों ओर से आनन्दरस से परिपूर्ण है । जब तक उत्तम भोजन नहीं मिलता, तभी तक मनुष्य सामान्य भोजन में आसक्त रहता है । साथ ही में यह भी मनोविज्ञान का एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जो वस्तु जिस मनुष्य के पास प्रभूत मात्रा में रहती है, उसकी ओर उसकी कामना नहीं रहती । जिस आम्रफल के लिए हम मारवाड़ी लालायित रहते हैं, एक बिहारी के लिए वही आम्रफल कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता । जो अङ्गूर हम भारत-वासियों के लिए विशेष कामना की वस्तु है, सम्भवतः काबुलवालों की दृष्टि में उसका कोई विशेष महत्त्व न होगा । अप्राप्त अथवा कष्ट से प्राप्तव्य वस्तु के लिए ही उत्थाप्याकांक्षा का उदय होता है । मरुभूमि वाले जहाँ मेघ से वृष्टि की प्रार्थना किया करते हैं, वहाँ अनूपभूमि (मिथिलाबंगाल) वाले वृष्टि-निरोध की प्रार्थना किया करते हैं । यदि हमें सर्वतः संप्लुतोदक किसी सरोवर के किनारे छोड दिया जाय तो कभी जल के लिए उत्थाप्याकांक्षा न हो । जब प्यास लगी, पी लिया । यह स्वाभाविक अतएव सर्वथा अबन्धनात्मिका उत्थिताकांक्षा ही शेष रह जाय । फलकामुक को फल के बगीचे में छोड़ दीजिए, तत्काल उसकी बन्धनमूला उत्थाप्याकांक्षा शान्त हो जाएगी । ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए । बुद्धियोगी जब आत्मवान् बन जाता है तो वह सर्वानन्दघनसमुद्र में प्रविष्ट हो जाता है । वह समुद्र परिपूर्ण है । वहाँ-**"यं यं कामयते तं तमाप्नोति"** का साम्राज्य है । आनन्दसमुद्र में जाते ही उसकी फलैषणा शान्त हो जाती है । वे वैदिक कर्म्मजनितफल उसकी दृष्टि में वही महत्त्व रखते हैं, जो कि महत्त्व सरोवर के सन्निकट रहने वाले मनुष्य की दृष्टि में तृषाशान्त करने वाले चुल्लूभर पानी का है । जब तक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं होती, जब तक तल्लक्षण पूर्णानन्द का विकास नहीं होता, तभी तक हमारी दृष्टि में वैदिक काम्यकर्म्म फलमहत्त्व की वस्तु बने रहते हैं । ऐसी दशा में निष्काम कर्म्मयोगी के उदासीन भाव का अणुमात्र भी अवसर नहीं है । निष्कर्ष यह हुआ कि जलपूर्ण सरोवर के किनारे, अथवा मध्य में प्रतिष्ठित एक मनुष्य की दृष्टि में तृषा का कोई मूल्य नहीं है, तथैव बुद्धियोगलक्षण आनन्द-समुद्र में प्रतिष्ठित विजानन् ब्राह्मण की दृष्टि में तृषास्थानीय वैदिक काम्यकर्म्म फलों का कोई महत्त्व नहीं हैं । फल का महत्त्व नहीं है, कर्म्म का अवश्य ही महत्त्व है । कारण, कर्म्म तो आत्मा का स्वरूप है । क्या सरोवर में रहने वाला व्यक्ति पानी नहीं पीता ? पीएगा, परन्तु इसकी इस पानेच्छा का आत्मकामना से सम्बन्ध है । ऐसी इच्छा कभी बन्धनमूला-आसक्ति की जननी नहीं बनती । एवमेव फलासक्तिविरहित बुद्धियोगी वैदिक कर्म्म अवश्य करेगा । बिना कर्म्म के तो आत्मा का स्वरूप ही सुरक्षित नहीं रह सकता । यही बुद्धियोग की विशेषता है ।

।। इति द्वितीयोयनिषदि द्वितीयोपदेशः ।।

द्वितीयोपदेशनिष्कर्ष

फलकामासक्ति से वैदिक कर्म्म त्रिगुणभावमय बन जाते हैं। त्रिगुणभाव बुद्धियोग का विघातक है। अतः बुद्धियोगनिष्ठयोगी को फलकामासक्ति छोड़कर ही स्वाधिकार-सिद्धकर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। यही सच्चा वैदिककर्म्म है।

।। इति द्वितीयोपनिषदि द्वितीयोपदेशनिष्कर्षः ।।

२

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषदि

३–कर्म्मयोगस्य फलासक्तित्यागोपाधिकबुद्धियोगात्मकत्वेनाभ्युपपत्तौ श्रेयस्करत्वम्

३

तृतीयोपदेशः

३–कर्म्मयोगस्य फलासक्तित्यागोपाधिकबुद्धियोगात्मकत्वेनाभ्युपपत्तौ श्रेयस्करत्वम्

१–कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्म्मणि ।। (२।४७)

२–योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वा 'समत्वं योग उच्यते' ।। (२।४८)

३–दूरेण ह्यवरं कर्म्म "बुद्धियोगाद्" धनञ्जय ।
"बुद्धौ" शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। (२।४९)

४–"बुद्धियुक्तो" जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद् 'योगाय' युज्यस्व 'योगःकर्म्मसु कौशलम्' ।। (२।५०)

५–कर्म्मजं "बुद्धियुक्ता" हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। (२।५१)

[**मूलानुवाद**] हे अर्जुन ! तेरा कर्म्म-मात्र में ही अधिकार है । (तू) फलों में कभी (आसक्तिरूपा) प्रवृत्ति मत कर । (साथ ही में तू) कर्म्मफल का कारण (भी) मत बन एवं तेरा अकर्म्म में (भी) संग (आसक्ति) न हो ।।१।। हे धनञ्जय ! योग (बुद्धियोग) में प्रतिष्ठित रहता हुआ (तू) आसक्ति छोडकर, फलसिद्धि एवं असिद्धि दोनों में समान भाव रखता हुआ कर्म्म कर । समत्व को ही योग (बुद्धियोग) कहा जाता है । हे धनञ्जय ! बुद्धियोग (लक्षण निष्काम कर्म्म) की अपेक्षा (प्रवृत्ति मूलक सकाम) कर्म्म सर्वथा तुच्छ वस्तु है । (तू) बुद्धि (बुद्धियोग) की ही शरण में जा । फल चाहने

३–कर्म्मयोग का यदि फलकामासक्ति छोडते हुए अनुष्ठान किया जाता है तो ऐसा कर्म्मयोग बुद्धियोगात्मक बनता हुआ आत्मा के श्रेयोभाव का कारण बन जाता है ।

वाले (मनुष्य–सम्पत्ति रखते हुए भी) कृपण (मूंजी) हैं ।।३।। बुद्धियुक्त मनुष्य अच्छे बुरे द्वन्द्वों को इस लोक में ही छोड देता है । इसलिए तू योग के लिए उद्योग कर । यह योग ही कर्म्मों में महा कौशल है ।।४।। विद्वान् लोग बुद्धियुक्त बनते हुए कर्म्मफल का सर्वथा परित्याग कर जन्म-मृत्यु पाश से छूटते हुए शाश्वत पद को प्राप्त हो जाते हैं ।।५।।

———०———

किं कर्म्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।[1]

[**भाष्य**] द्वितीय उपदेश में भगवान् ने अर्जुन को **त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम** एवं आत्मवान् बनने का आदेश देते हुए यह बतलाया है कि वैदिक काम्यकर्म्म कामना की कृपा से बन्धन के कारण हैं । अतः ऐसे काम्य कर्म्मों से बचने के लिए तुझे त्रिगुणातीत बन जाना चाहिए । भगवान् के उक्त आदेश से सहसा हमें यह भ्रम हो जाता है कि भगवान् का तात्पर्य्य कहीं कर्म्म त्याग की ओर तो नहीं हैं । इस भ्रम का कारण यही है कि आपिपीलिका ब्रह्मान्त सम्पूर्ण विश्व त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त है । जैसा कि भगवान् स्वयं आगे जाकर निम्नलिखित रूप से स्पष्ट करने वाले हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।[2]

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।[3]

जिस प्रकार **वात-पित्त-कफ**–ये तीन धातु स्थूल शरीर की मूल–प्रतिष्ठा हैं, बिना इनके स्थूल शरीर क्षणमात्र भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, एवमेव **सत्त्व-रज-तम**–ये तीनों गुण बुद्धि-मनः-सहकृत कर्म्मात्मा के हैं । "**त्रीन् विद्यादात्मनोगुणान्**" । बिना इनके कर्म्मात्मा क्षणमात्र भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान है, रजोगुण क्रियाप्रधान है, तमोगुण अर्थप्रधान है । ज्ञान-क्रिया-अर्थ (बलसंघातरूप अर्थ) तीनों आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं । "**पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।**" ज्ञानशक्तिमय सत्त्वगुण की विकास भूमि **मन** है, क्रियाशक्तिमय रजोगुण की विकासभूमि **प्राण** है, एवं अर्थ-शक्तिमय तमोगुण की विकासभूमि **वाक्** है । "**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**" के अनुसार सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मा मनः-प्राण-वाङ्मय बनता हुआ ज्ञान-क्रिया-अर्थ भावों से सत्व-रज-तमोमय, बना हुआ है । इस प्रकार सत्त्वादि तीनों गुण आत्मा के स्वरूपधर्म्म बन जाते हैं । स्वरूपधर्म्म ही धर्म्मी की प्रतिष्ठा है । जिस दिन धर्म्मी में से स्वरूपधर्म्म निकल जाता है, उसी क्षण धर्म्मी धर्म्मच्युत बनता हुआ अपना स्वरूप खो बैठता है–"**धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः, धर्म्मोहि जगतः प्रतिष्ठा**" । बिना तापप्रकाशलक्षणधर्म्म के क्या कभी

१ गीता ४।१६ । २ गीता १८।४० । ३ गीता ७।१३ ।

सूर्य्य जीवित रह सकता है ? बिना शैत्य-आप्यायनलक्षण धर्म्म के पानी कभी जीवित रह सकता है ? धर्म्म ही उस धर्म्मी पुरुष की प्रकृति है। प्रकृति का निरोध किसी अवस्था में नहीं किया जा सकता– **"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"–"ज्याँ का पड़्या सुभाव जासी जीवसे"**। यदि भगवान् का यह तात्पर्य्य है कि तुम त्रिगुणातीत बन कर कर्म्म करो तो थोड़ी देर के लिए हमें इस आज्ञा से सन्देह हो जाता है। आत्मा की प्राणकला के व्यापार को ही कर्म्म कहा जाता है। साथ ही में बिना ज्ञान के कर्म्म सम्भव भी नहीं है। ज्ञान से कामना का उदय होता है, कामना से यत्नरूप आभ्यन्तर प्राण व्यापार होता है, प्राण-व्यापार के अनन्तर वाङ्मय भूत-व्यापार होता है। तीनों के समन्वय से कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते ।।

इन्हीं तीनों के लिए श्रुतिमें–**"सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्"** इत्यादि रूप से क्रमशः **काम-तप-श्रम** ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कामना सत्त्वगुण से सम्बन्ध रखती है, तप रजोगुण से, एवं श्रम तमोगुण से सम्बन्ध रखता है। चाहे सकामकर्म्म हो अथवा निष्कामकर्म्म, बिना उक्त तीनों गुणों के कोई भी कर्म्म सम्भव नहीं है। चलना-सोना-खाना-पीना-हँसना-यज्ञकरना-दानदेना आदि-आदि ऐहिक आमुष्मिक जितने भी कर्म्म हैं, उन सब में तीनों गुण विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में–"हे **अर्जुन ! तू निस्त्रैगुण्य बन जा**" भगवान् के इस आदेश से थोड़ी देर के लिए हम इस निश्चय पर पहुँच जाते हैं कि भगवान् का तात्पर्य्य यहाँ **कर्म्मपरित्याग** से है। क्यों कि बिना कर्म्मपरित्याग के त्रिगुण का अभाव नहीं हो सकता। बस इसी निश्चय को परमार्थ–निश्चय मानने वाले सांख्यों ने उक्त प्रकरण को–"सर्व **कर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग**" का प्रतिपादक मान लिया है। परन्तु जब उनके सामने भगवान् का– **"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** यह प्रकरण आता है तो थोड़ी देर के लिए ये भी स्तब्ध हो जाते हैं। फिर सम्भलते है और निम्नलिखित रूप से इस आदेश की सङ्गति लगाते हुए कहने लगते है कि–**"यद्यपि निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम, आत्मवान् अतएव ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ही सर्वकर्म्मसन्यास में अधिकार रखता है तथापि शोक-मोहादि धर्म्मों से युक्त तुझमें (अर्जुन में) अभी हम सर्वकर्म्मत्यागलक्षण संन्यास की योग्यता नहीं देखते। अर्थात् तू अभी निस्त्रैगुण्य निर्द्वन्द्वादिलक्षण सन्यास के अयोग्य है। इसलिए अभी तेरा कर्म्म में ही अधिकार है। तुझे निस्त्रैगुण्यभावप्राप्ति के लिए फलाशा छोडकर अभी कर्म्म करते रहना चाहिए' इस प्रकार-मुमुक्षोस्तव श्रुतिस्मृतिभ्यां विहिते काम्यवर्जिते नित्यैनैमित्तिके च कर्म्मण्येवाधिकारः, योग्यता, नान्यत्र ज्ञाननिष्ठायां संन्यासेवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थ एवकारः"** इत्यादिरूप श्लोकस्थ **"एव"** कार को अन्ययोग का (विभिन्नमार्ग का) सूचक मानते हुए उन सांख्यवादियों ने पूर्व प्रकरण को विशुद्ध-ज्ञानपरक माना है एवं **"कर्म्मण्ये०"** इत्यादि प्रकरण को **निष्कामकर्म्मयोगपरक** माना है। ठीक इसी से मिलती-जुलती स्थिति **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि०"** इस उपनिषन्मन्त्र की है। **"ईशावास्यमिदं सर्वम्"** इत्यादि मन्त्र को पहले व्याख्याताओं ने ज्ञाननिष्ठापरक मान लिया, परन्तु जब उनके सामने **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि"** यह मन्त्र आया तो घबड़ा गए। फिर संभलकर कहने लगे,

"**अथेतरस्यानात्मज्ञानतयाऽऽत्मग्रहणाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रःकुर्वन्नेवेति**"। जो कर्म्म का परित्याग करने के अधिकारी नहीं हैं, दूसरे शब्दों में जो अभी निस्त्रैगुण्य की योग्यता नहीं रखते हैं, उन साधारण कोटि के अधिकारियों के लिए ही श्रुति ने–"**कुर्वन्नेवेह**" इत्यादि रूप से दूसरे कर्म्ममार्ग का उपदेश दिया है, यही तात्पर्य्य है। अस्तु "**कुर्वन्नेवेह०**" का क्या तात्पर्य्य है? इसका विशद समाधान **ईशोपनिषद्विज्ञान-भाष्य** में किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिए। अभी हमें गीता सङ्गति का ही विचार करना है।

अर्जुन शोकग्रस्त बनकर चुपचाप खड़ा हुआ है। उसकी आँखों में आँसू डबडबा रहे हैं। वह युद्ध कर्म्म से सर्वथा उपरत हो चुका है। अर्जुन की इस स्थिति को सम्हालने के लिए भगवान् ने गीतोपदेश की आवश्यकता समझी है। अर्जुन भगवान् के पास संन्यास की दीक्षा लेने नहीं आया है। उधर भगवान् भी अर्जुन की सम्पूर्ण परिस्थिति से परिचित हैं। ऐसे विषम अवसर पर पहले तो भगवान् कर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग का उपदेश करें, फिर यह सोच कर कि अरे! यह तो इस योग का अधिकारी नहीं है, कर्म्ममार्ग का उपदेश करें-यह सब केवल व्याख्याताओं की लीलामात्र है। भगवान् ने आरम्भ से अन्त तक एकमात्र **बुद्धियोग** का ही उपदेश दिया है। कभी उन्होंने नाना पथों का आश्रय नहीं लिया है। पहले भगवान् स्पष्ट शब्दों में '**तू निस्त्रैगुण्य बन जा**' यह आदेश करदें, फिर थोड़ी देर के बाद ही कहने लगें, अच्छा जाने दे, तू इसकी योग्यता नहीं रखता। तू तो कर्म्म ही कर। क्या इन असंगत समन्वयों का भी कोई मूल्य है? सच बात तो यह है कि न ज्ञानयोग से निस्त्रैगुण्यभाव का उदय हो सकता, न प्रवृत्तिमूलक कर्म्म योग से। ऐसा तो एकमात्र बुद्धियोग ही है, जैसा कि '**दूरेण ह्यवरं कर्म्म**' इत्यादि रूप से अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। प्रकरणारम्भ में हम कह चुके हैं कि कर्म्मसंग्रहपक्ष में त्रिगुणभाव को कथमपि नहीं हटाया जा सकता। फिर कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहने का आदेश करते हुए भगवान् ने अर्जुन को किस आधार पर निस्त्रैगुण्यभाव का उपदेश दिया? दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कामना मन की स्वाभाविक वृत्ति है। यदि कर्म्म में प्रवृत्ति है तो कामना एवं कामना से सम्बन्ध रखने वाले फल दोनों ही अनिवार्य हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने आराध्य देव से जिज्ञासा करेंगे कि भगवन्! यदि कर्म्म-करते हैं तो कामना अवश्य है, कामना है तो फलवासना भी दुर्वार है। यदि कामफल की आसक्ति है तो निस्त्रैगुण्यभाव का उदय असम्भव है। फिर आपने ऐसी असम्भव आज्ञा कैसे, किस आधार पर दी? इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए, दूसरे शब्दों में त्रैगुण्यमूलक कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए त्रैगुण्यभाव से बचे रहने का उपाय बतलाते हुए ही '**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते**' इत्यादि आदेश हमारे सामने आता है।

१–कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०

मूल विषय आरम्भ करें, इसके पहले सांख्यनिष्ठाभिमानी उन व्याख्याताओं की पूर्वोक्त संगति की निःसारता भी देख लीजिए। थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम यह मान लेते हैं कि जो त्रिगुणातीत बनने का अधिकारी नहीं है, उसके लिए भगवान् ने निष्कामकर्म्मयोग का उपदेश दिया है। परन्तु एतावता भी संगति लगा लेना हमें तो असम्भव ही प्रतीत होता है। कारण स्पष्ट है। जब तक त्रिगुणभाव का साम्राज्य है, तब तक निष्काम कर्म्म बन ही नहीं सकता। कामना का त्रिगुण-

भाव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि कामना का उच्छेद हो गया तो उनके मतानुसार कर्म्म का भी उच्छेद हो गया। कामना न रहे, कर्म्म रहे यह तो उन ज्ञानवादियों की दृष्टि में असम्भव पन्थाः है। वस्तुतस्तु–**'विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्'**[1] इस सूक्ति के अनुसार दोषदर्शक इन व्याख्याताओं के मुख से भी भगवान् का वास्तविक सिद्धान्त निकल ही गया है। अस्तु, स्वतन्त्र दृष्टि से प्रकरण संगति कर विचार कीजिए—

कामना को साथ लेते हुए भी जब हम कर्म्मवाद पर दृष्टि डालते हैं तो हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि हमारी कामना से फल का कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि रात-दिन धन की कामना रखने वाला एक धन-कामुक अहो-रात्र धनप्राप्तिकर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी दरिद्री ही बना रहता है। उधर एक व्यक्ति बिना विशेष प्रयास के ही धनिक बन जाता है। कामनामय कर्म्म से फलसिद्धि हो ही जाय यह कथमपि सम्भव नहीं है। कारण यही है कि फल के हम अधिकारी नहीं हैं। हमारा अधिकार एकमात्र कर्म्म पर है। देखिए न! हम भलेही न-न करते रहें परन्तु चक्षुरिन्द्रिय पुरोवस्थित रूपफल का ग्रहण कर ही लेती है। सर्वथा अवाञ्छित व्याधिफल को विवश हो कर हमें भोगना पड़ता है। सर्वथा इच्छा न रहते हुए भी कटु शब्द कानों पर आ ही तो जाते हैं। ऐसी दशा में हमारी इच्छा का क्या मूल्य है? इसी सहज सिद्ध नियम को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं, **'तुम कर्म्ममात्र-के अधिकारी हो। फल की कामना भूलकर भी मत करो'।**

प्रश्न होता है कि कर्म्म का मूल रजोगुण है। रजोगुण अपने सहचरबन्धु सत्व-तमोगुण से नित्य-युक्त है। जब तक यह त्रैगुण्यभाव है, तब तक कामना न हो, यह कथमपि सम्भव नहीं है। यदि त्रिगुणभाव है तो कामना अवश्य है, त्रिगुणभाव नहीं है तो कामनामूलक कर्म्मप्रवृत्ति का अभाव है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि जब तक हमारा कामना पर अधिकार है, तभी तक हम कर्म्म पर अधिकार रख सकते हैं। कर्म्म पर अधिकार हो और फल की कामना न हो–यह सर्वथा असम्भव है।

ओम्। ठीक है। यह सच है कि बिना कामना के कर्म्म में प्रवृत्ति नहीं होती। यह भी ठीक है कि कामनामय कर्म्म का फल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। फिर भी भगवान् कर्म्मकाल में फलप्रवृत्ति का निरोध कर रहे हैं, पर किसी विशेष कारण से। कर्म्म होता है इन्द्रियों से, इन्द्रियाँ संचलित हैं मन से। मन बुद्धि से युक्त होकर, इन्द्रियों के द्वारा कर्म्म मार्ग में प्रवृत्त होता है। मन की शक्ति सीमित है। उसमें उतनी ही शक्ति विद्यमान है, जिससे वह कर्म्ममात्र पूरा करले। ऐसी दशा में कर्म्मप्रवृत्तिकाल में मन को अनन्यरूप से उस कर्म्म की ओर ही लगा देना चाहिए। यदि अनन्यता न होगी तो मन की शक्ति बँट-जाएगी। परिणाम इसका यह होगा कि कर्म्म में जितनी शक्ति अपेक्षित होगी, (इधर-उधर बँटजाने से) मन उतनी शक्ति कर्म्म में न लगा सकेगा। कर्म्म सिद्ध न होगा, तज्जनित फल अपूर्ण रह जाएगा। हम एक समय में एक ज्ञान से एक ही काम ले सकते हैं। कदाचित् आप कहें कि जब हम भ्रमण के लिए निकले हैं तो अनेक कर्म्म होते रहते हैं। मार्ग में चल रहे हैं, रसासृगादि का यथाविधि संचार हो रहा है। यह एक स्वतन्त्र कर्म्म है। इसके अतिरिक्त मार्ग में जो भलेबुरे दृश्य आते है, उनमें अपनी इच्छा-अनिच्छा प्रकट करते हुए आगे चलते रहते हैं। **दृष्ट्प्रदर्शन, शब्दश्रवण, गन्धग्रहण, परिचित के साथ संभा-**

१ कुमार-संभवम् सर्ग-५।

षण आदि की समष्टि एक स्वतन्त्र कर्म्म है। इसके अतिरिक्त हम भीतर ही भीतर नई-नई कल्पनाएँ भी करते जाते हैं। आज वहाँ जाना है अमुक से मिलना है, अमुक काम करें तो बड़ा लाभ हो, इस प्रकार की एक स्वतन्त्र धारा भी प्रवाहित रहती है। यह एक स्वतन्त्र कर्म्म है। यदि इन सब के अवान्तर कर्म्म विभागों की गणना की जाती है, तब तो असंख्य कर्म्म हो जाते हैं। तथापि स्थूल दृष्टि से भी प्रधान, प्रधान तीन कर्म्मों की सत्ता तो अवश्य ही मानना ही पड़ती है। साथ ही में तीनों कर्म्म समकालिक हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि एक समय में एक ही ज्ञान एक ही कर्म्म करने में समर्थ है। एक ही मनोज्ञान प्रत्यक्ष में तीनों कर्म्मों का संचालक बन रहा है।

हम कहते हैं,—आप भूलते हैं। जिन त्रिविध कर्म्मों का आपने केवल मानस ज्ञान के साथ सम्बन्ध समझ रक्खा है, उन तीनों कर्म्मों के स्वतन्त्र तीन ही ज्ञान किंवा एक ही आत्मज्ञान की तीन स्वतन्त्र ज्ञान धाराएँ प्रवाहित हैं। वेही तीनों ज्ञानात्मा, किंवा एक ही ज्ञानात्मा के तीन विवर्त्त ज्ञानमय चिदंशग्राहक पात्रभेद से महानात्मा (महत्‌ज्ञान) विज्ञानात्मा (बौद्धज्ञान) प्रज्ञानात्मा (मानसज्ञान) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित पारमेष्ठ्य महद् अंश पर प्रतिष्ठित ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है। सौर अंश पर प्रतिष्ठित ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है। एवं चान्द्र अंश पर प्रतिष्ठित ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है। तीनों स्वस्वदृष्टि से स्वतन्त्र एवं भिन्न रहते हुए भी आत्मदृष्टि से परतन्त्र अतएव एक हैं। तभी तो गच्छामि, पश्यामि, विचारयामि तीनों कर्म्मों के साथ **'अहं'** शब्द का समान रूप से सम्बन्ध देखा जाता है। चलन-रसासृगादि का संचरण यह सब शारीरिक कर्म्म महद् ज्ञान पर निर्भर है। विचारधारारूप कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा विज्ञानज्ञान (बुद्धि) है। एवं दर्शनश्रवणादि ऐन्द्रियक कर्म्मों की मूलप्रतिष्ठा प्रज्ञान ज्ञान (मन) है। महद् ही **चित्त** नाम से प्रसिद्ध है। (विषयों के साथ सन्निकृष्टता के कारण)[1] पहली ज्ञानधारा मन है दूसरी ज्ञानधारा **बुद्धि** है और तीसरी ज्ञानधारा चित्त है। इन तीनों खण्डज्ञानों का मूलस्रोत तुरीयम त्रास्थानीय **अहंकारात्मक** ज्ञानात्मा है। इन चारों की समष्टि से आध्यात्मिक कर्म्मों का संचालन हो रहा है। मनोज्ञान सदा बहिरंग विषयों के साथ ही सम्बन्ध रखता है। बुद्धि बिना विषय के भी अपना व्यापार कर सकती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि मन पर विषय आते हैं, बुद्धि विषय पर जाती है। नवीन रचना में बुद्धि व्यापार प्रधान रहता है। नकल में मनोव्यापार की प्रधानता है। तीसरा चित्त केवल शारीरिक गति, मल-मूत्र विसर्ग आदि कर्मों का अधिष्ठाता है, जैसा कि **समत्वं योग उच्यते** में स्पष्ट होने वाला है।

उक्त तीनों ज्ञान जब तक परस्पर में एक दूसरे के उपकारक बने रहते हैं, तब तक तो तीनों ही उक्त कर्म्म यथाविधि होते रहते हैं। यदि तीनों में से एक ज्ञान प्रबल बन जाता है, तो दूसरे दोनों ज्ञान इस प्रधान ज्ञान के गर्भ में जाते हुए अपना स्वतन्त्र कर्म्म छोड़ बैठते हैं। यदि एक व्यक्ति मानस ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले किसी दृश्य विशेष पर पूर्ण बल लगा देता है तो चलते-चलते सहसा वह ठोकर खाकर गिर पड़ता है। विचार धारा स्तब्ध हो जाती है। वहीं का वहीं स्तब्ध हो कर खड़ा रह जाता है। कारण स्पष्ट है। मनोज्ञान में गतिसंचालक एवं विचारसंचालक मा हत् एवं विज्ञान दोनों डूब जाते हैं। फलतः दोनों का कर्म्म अवरुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्यन्तिक बुद्धियोगपूर्वक किसी विचार में तल्लीन

१ सम्पादक।

हो जाता है तो न उसे चलने फिरने की सुध रहती, एवं न वह अपनी इन्द्रियों से ही कोई काम ले सकता है। ऐसे व्यक्ति के सामने से कोई भी चला जाय, आजाय इसे पता न रहेगा। तोप की आवाज भी इसे सुनाई न देगी। क्यों कि इस अवस्था में महत् और मन दोनों विज्ञान में डूबते हुए अपना-अपना कर्म्म छोड़ बैठते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्यन्तिक वेग से गति को प्रधान बना लेता है तो न वह विचार कर सकता, न देख सुन सकता है। उस समय मन बुद्धि दोनों इस महत् में डूबे रहते हैं। रास्ते में कौन आया कौन गया, घर से क्या सोच कर चले थे और क्या सोच रहे हैं–इन सबका कोई ध्यान नहीं रहता। महत् की प्रधानता में बुद्धि मन का उपयोग **महत्कर्म्म** में ही होता है। विज्ञान की प्रधानता में महत्मन का उपयोग **विज्ञानकर्म्म** में ही होता है। एवं प्रज्ञान की प्रधानता में महत्-विज्ञान का उपयोग **मानस कर्म्म** में ही होता है। इस प्रकार तीनों कर्म्मों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् तीन ज्ञानधाराओं के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म्म करता है।

प्रज्ञान (मन) के सम्बन्ध में एक आपत्ति और उठाई जा सकती है। प्रज्ञान ही बहिरंग कर्म्मों की प्रवृत्ति का प्रधान कारण है। अतः-महत् विज्ञान की अपेक्षा प्रकृत कर्म्मप्रकरण में प्रज्ञान की आपत्ति विशेष महत्त्व रखती है। देखना-सुनना–स्वाद लेना गन्धग्रहण करना आदि दस मात्राओं का अधिष्ठाता प्रज्ञानमन माना गया है। जैसा कि **'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'** इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। हम देखते हैं कि एक ही मन एक ही समय में अनेक ऐन्द्रियककर्म्म करने में समर्थ है। शष्कुली (पापड़) खाते समय चाक्षुषज्ञान भी हो रहा है। हम पापड़ को आँखों से देख रहे हैं। स्वाद भी आ रहा है, इस प्रकार रसनेन्द्रिय का भी व्यापार हो रहा है। पापड़ का कर्र-कर्र शब्द भी कानों में आरहा है। पापड़ से निकलने वाले विशेष प्रकार के गन्ध का भी अनुभव हो रहा है। इस प्रकार जब एक ही मानस ज्ञान से एक ही समय में अनेक अनुभव हो रहें हैं तो फिर **'एक ज्ञान एक समय में एक ही कर्म्म कर सकता है'** यह कैसे माना जा सकता है? फलतः इस सिद्धान्त के आधार पर की गई, **'मन यदि फल की ओर बंट जाएगा तो कर्म्म अधूरा रह जाएगा'** इस प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं रहता। इस आशंका के सम्बन्ध में उचित तो यह है कि पहले प्रज्ञान का स्वरूप ही पाठकों के सामने उपस्थित किया जाय, परन्तु ऐसा करने से प्रकृत विषय से हम दूर चलेजायेंगे। इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वाले महानुभावों को **'प्रज्ञानात्मवर्णनपरक केनोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य'** देखने का आग्रह करते हुए अभी केवल यही समाधान कर देना पर्याप्त समझते हैं कि सौ कमल-पत्रों के समूह का एक सूई से जब आप वेधन करते हैं तो आप सहसा यह मान लेते हैं कि हमने एक ही काल में सब पत्तों का वेधन कर डाला। परन्तु विज्ञानदृष्टि से यह मान बैठना सर्वथा असंगत ही ठहरता है। आपको मानना पड़ेगा कि प्रत्येक पत्र का वेधनकाल पृथक्-पृथक् है। उस काल की सुसूक्ष्मता से आप उसके भेद को न पकड़ सकें-यह दूसरी बात है। ठीक यही बात यहाँ समझिए। पापड़ खाते समय मन सभी इन्द्रियों पर इतना शीघ्र अनुधावन करता है कि आप उसके इस अनुधावनसम्बन्धी कालभेद को पकड़ नहीं सकते। फलतः आप यह मान बैठते हैं कि हम एक ही काल में सब का अनुभव कर रहे हैं। और देखिए, यदि किसी एक ही कर्म्म में मन को रोक देते हैं तो इतर व्यापार तत्काल बन्द हो जाते हैं। संगीतश्रवण में मन सर्वात्मना संगीत की ओर लगता हुआ, इतर व्यापार छोड़ बैठता है। भोजनस्वाद में तल्लीन मन इतर

कर्म्मों की ओर से उदासीन बन जाता है। यदि आप पूर्ण मनोयोग के साथ किसी सुन्दर दृश्य को देखने में तल्लीन हो जाते हैं तो उस समय पास में खड़े हुए आदमी की बात आप नहीं सुनते। जब उधर से मन हटता है तो आप कहने लगते हैं, **अरे भाई ! फिर से कहना, मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, इस लिए मैं (मन) तुम्हारी बात नहीं सुन सका।**

इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"१–नहि प्रज्ञापेता, २–प्रज्ञापेतः, ३–प्रज्ञापेतं, ४–प्रज्ञापेतं, ५–प्रज्ञापेता, ६–प्रज्ञापेतौ, ७–प्रज्ञापेतं, ८–प्रज्ञापेतः, ९–प्रज्ञापेतौ, १०–प्रज्ञापेता" १–वाक्, २–प्राणः–० "अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह०"[1] इस का यह तात्पर्य्य तो नहीं है कि मन एक साथ अनेक कर्म्म करने में सर्वथा असमर्थ ही है। समर्थ है, परन्तु अनेक कर्म्मों से उसकी शक्ति अवश्य बँट जाती है। यही अन्यवृत्ति है। इस वृति की फलसिद्धि में बडा सन्देह रहता है। यदि फल मिलता भी है तो अपूर्ण, हीनाङ्ग, यातयाम। अदि आप अनन्य बनकर भोजन करेंगे तो भोजन का तृप्तिलक्षण पूर्णानन्द मिलेगा। खाते गए, बात करते गए, सोचते रहे, इधर देखा उधर देखा, इन विविध वृत्तियों से भोजनकर्म्म सर्वात्मना पूर्णाङ्ग न बनेगा। इस प्रकार पूर्व के मनोविज्ञान के आधार पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि यदि मन अनन्यता न रखता हुआ अन्यान्य फलादि की ओर दौड़ता रहेगा तो अवश्य ही मनकी शक्ति विभक्त हो जायगी। परिणाम इस फलाशा का यह होगा कि फलसाधककर्म्म में जितना मनोबल अपेक्षित है, उतना न रहेगा। कर्म्म सर्वात्मना पूर्ण न होगा। फल से या तो आप वञ्चित रह जाएँगे, अथवा अधूरा यातयाम फल मिलेगा। इसलिए कर्म्मकाल में सिवाय कर्म्म के और तरफ कभी मनोयोग नहीं करना चाहिए। यही मन की अनन्यता है। इस अनन्यता से कर्म्म अवश्य सिद्ध होगा, फलतः फल धरा ही मिलेगा। बस इस मानस-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने–"**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**"। यह हमारे मन की एक स्वाभाविक वृत्ति है कि जब तक उसे किसी कर्म्म में कोई फल प्रतीत नहीं होता, तब तक वह उस कर्म्म में प्रवृत्त ही नहीं होता। फलाशा ही कर्म्म-प्रवृत्ति का मूल द्वार है। इसलिए भगवान् ने फलत्याग का उपदेश न देकर केवल (कर्म्म-काल में) फलेच्छा त्याग का आदेश दिया है। भगवान् का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि तुम आँखमींचकर निष्फल-कर्म्म करते जाओ। भला जिस बात की सम्भावना नहीं, उस का आदेश कैसे सम्भव हो सकता है? भगवान् इस सम्बन्ध में केवल यही संशोधन चाहते हैं कि तुम कर्म्म-काल में फल की इच्छामयी चर्वणा न करो। कारण इस का यही है कि ऐसा करने से तुम्हारी शक्ति बँट जायगी, फलतः तुम्हारी फलाशा निराशा में परिणत हो जायगी। मनन करने से तुम इस निश्चय पर अपने आप पहुँच जाओगे कि हम केवल कर्म्म पर अधिकार रख सकते हैं। फल हमारे अधिकार से बाहर की वस्तु है। फल पुरुषार्थ है, कर्म्म क्रत्वर्थ है। जब तक क्रत्वर्थ-कर्म्म सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक पुरुषार्थरूप फल-कर्म्म की सिद्धि असंभव है। भोजन रूप फल का कारण तुम नहीं हो, अपितु तुम्हारा कर्म्म है। तुम्हारा कर्म्म ही फल उत्पन्न करता है,

---

१ कौ० ब्रा० उप० ३।७।

तुम फल उत्पन्न नहीं करते, नहीं कर सकते। यदि अग्निकर्म्म पर्य्याप्तमात्रा में तुमने सिद्ध कर लिया तो फलरूप भोजन का परिपाक हो ही जायगा। यदि तुमने कर्म्म में शिथिलता कर दी तो तुम्हारी फलाशा व्यर्थ हो जायगी। सोचो, खूब सोचो। बुद्धि से काम लो। तुम कर्म्म-फल के हेतु नहीं हो, तुम्हारा कर्म्म कर्म्म-फल का हेतु है। फल का हेतु बनना तुम्हारी अनधिकार, अतएव व्यर्थ चेष्टा है– **"मा कर्म्मफलहेतुर्भूः"**। फल को **कर्म्म-फल** कहा जाता है। लोक भाषा में भी **"यह हमारे कर्मों का फल है"** इत्यादि रूप से कर्म्म को ही फल का हेतु (उत्पादक) बतलाया जाता है। अब यदि तुम्हारा कर्म्म अच्छा होगा तो उसका फल भी अच्छा मिलेगा। कर्म्म-स्वस्वरूप से सदा ही अच्छा है। कर्म्म का कर्म्मत्वेन सर्वात्मना पूर्ण हो जाना ही कर्म्म का अच्छापन है, जैसा कि **"योगः कर्म्मसु कौशलम्"** में स्पष्ट होने वाला है। अब यदि तुमने कर्म्म-काल में अनधिकृत फलाशा का समावेश कर दिया तो कर्म्म के लिए एक कण्टक खड़ा करके कर्म्म का स्वरूप ही बिगाड़ डाला। कच्चे आम्रफल को तोडने से उसमें कभी मधुरिमा का उदय नहीं हो सकता। जब तक कर्म्म पूरा न हो जाय, तब तक वह कच्चा फल है। उसमें फलाशा डालना उसे काटकर मधुरिमा से वञ्चित रखना है। यही कर्म्म का बुरापन है। यह एक प्रकार का गर्भपात है, भ्रूणहत्या है, आत्महत्या है। कर्म्म आत्मा का स्वरूप है। तुमने उसे बिगाड़ डाला। ऐसे बुरे कर्म्म आत्म-सम्पत्ति से च्युत होते हुए बुरे फलों के ही प्रवर्त्तक बनते हैं।

अर्जुन को त्रैगुण्यभाव से निकल कर जब कर्म्म करने का आदेश हुआ तो उसे यह भ्रम हो गया कि ऐसे फलशून्य निरर्थक कर्म्म में कौन बुद्धिमान् प्रवृत्त होगा? इसी भ्रम का निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं, अर्जुन! तू भूलता है। पहले तो कर्म्म-फल है ही कितना सा–**"यावानर्थ उदपाने० तावान् वेदेषु"**। फिर तैने यह समझ भी कैसे लिया कि फलाशा छोड़कर जो कर्म्म किया जायगा, निष्फल हो जायगा। सम्भवतः तेरे विचार से फलाशा ही फल की जननी होगी। भूलता है। फलाशा फल की जननी नहीं है। सभी मनुष्य विद्वान्, धनिक, ऐश्वर्य आदि फलों की लम्बी चौड़ी आशा किया करते हैं। परन्तु इन फलाशाओं से तो हमने इन आशावादियों को क्लान्त ही रहते देखा है। ऐसे ही व्यक्ति तो मूढ कहे जाते हैं। देखिए! बादरायण इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥२॥

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥३॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥४॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥५॥

परं क्षिपति दोषेण वर्त्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥६॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्म्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥७॥[1]

फलाशा रखने वाले केवल मूढबुद्धि के सम्बन्ध में कृष्णद्वैपायन का उक्त कथन अक्षरशः चरितार्थ हो रहा है । सर्वथा विद्याशून्य रहता हुआ भी जो बडे अभिमान के साथ ऊँचा मस्तक करके चलता है, घर में पेटभर भोजन नहीं हैं, परन्तु बातें बडी उदारता की करता है, हाथ पैर बिना हिलाए ही जो फलों की कामना किया करता है, विद्वान् उसे ही मूढ कहते हैं ॥१॥

अयोग्यतावश अपने पास का सब कुछ खो कर जो दूसरों के अर्थ पर जीवित रहता है, साथ ही में उन रक्षक मित्रों के साथ छल किया करता है, वही मूढ कहलाता है ॥२॥

"हमें यह मिल जाय, हमें वह मिल जाय, हम उसका धन हडप कर जायँ, उसे लूट लें"—इस प्रकार से जो व्यक्ति अपने कल्पना के प्राङ्गण में फलाशाओं के कुचक्र में पड़ा रहता है, उसकी पहिली एवं प्रधान वृत्ति होती है, अमित्र को मित्र बनाना, मित्र के साथ द्वेष करना, उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करना । स्वयं तो पुरुषार्थ कर्म्म करता नहीं, आशाएं बड़ी-लम्बी चौडी रखता है । फलतः आशापाशबद्ध यह हतधी अपने रासभस्वरूप को व्याघ्रचर्म्म से आच्छादित कर अथवा हृदय से लोलुपव्याघ्र यह लुब्धक गौमुख लगाकर भोले-भाले व्यवहार–शून्य किन्तु सम्पन्न व्यक्तियों के सामने अपना सुनहरी जाल बिछा-कर उनसे कृत्रिम मित्रता का नाता जोड़ता है । साथ ही हितचिन्तक मित्रों के सत्परामर्श को अपनी लुब्धकवृत्ति में प्रतिबन्धक समझता हुआ उनके साथ शत्रुता करने लगता है । साथ ही में जिनके साथ यह पामर कृत्रिम मित्रता करता है, कालान्तर में जब इसका वास्तविक स्वरूप समझते हुए वे भी जब इसका तिरस्कार कर देते हैं तो यह उनका भी शत्रु बन बैठता है । फिर नया रास्ता टटोलता है । इस प्रकार यह कर्म्महीन मोहपाशलक्षण आशापाश में बद्ध होकर कभी किसी को मित्र बनाता है, कभी किसी को शत्रु बनाता है । फलाशा पूरी होती नहीं । फलतः इसकी पूर्त्ति के लिए यह बडे-बडे बीभत्स कर्म्मों (छल–धोखा–चोरी–डाका) में प्रवृत्त होता रहता है । ऐसे ही फलाशी को मूढचेताः कहा जाता है ॥३॥

वस्तुतः यह कोई अच्छा कर्म्म नहीं करता । परन्तु भोली जनता को धोखा देने के लिए वह अपने कुकृत्यों को भी सुकृत्यों का बाना पहिनाकर संसार में उसका डिण्डिमघोष किया करता है ।

---

१ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अ०, गणपती-कृष्णाजी संस्करण शाके १७८५ ।

"अजी ! मैंने उसे धनिक बना दिया, उसका यह उपकार कर दिया, उसको उस से मिला दिया, क्या करूं वह मेरे कहने में नहीं चला, नहीं तो उसे न मालूम मैं क्या का क्या बना देता ? तुम भी एक बार हमारे बुद्धिवैभव की परीक्षा करो, देखो तुम क्या के क्या बन जाते हो"–इस प्रकार के प्रलोभनों से यह पामर स्वयं लक्ष्यच्युत बनता हुआ अबोधजनों को भी पतन की ओर अग्रसर करता रहता है। साथ ही में आप स्वयं किसी बात पर विश्वास भी नहीं करता। स्वयं तो सबका विश्वासपात्र बनना चाहता है, परन्तु स्वयं सर्वत्र विचिकित्सा करता रहता है। एक साधारण से काम में बड़ी व्यग्रता दिखलाता हुआ, साथ ही में चिरकाल तक उसी में लगा हुआ कहा करता है कि अजी ! क्या यह मामूली काम है ? बडे-बडे इसमें हतोत्साह हो गए हैं। यह तो मेरी ही हिम्मत थी, जो आजतक इसके पीछे पड़ा हुआ हूँ, देखना जब यह पूरा हो जाय तब क्या होता है ? तब लोगों को विदित होगा कि आखिर था कोई पुरुषार्थी। हे **भरतर्षभ** ! ऐसे ही व्यक्ति मूढ कहलाते हैं ।।४।।

जहाँ कहीं सभ्यपुरुषसमुदाय होगा वहाँ बिना बुलाए ही यह पहुँच जायंगे। वहाँ जाकर भी चुप न रहेंगे, किन्तु अपने आप ही अन्ट-सन्ट अनर्गल प्रलाप करने लगेंगे। एक दो बार नहीं, "**बहुभाषते**" जब तक बैठे रहेंगे, कुछ न कुछ बोले ही जाएंगे। बैठेंगे भी उस स्थान पर जो सबसे उच्च एवं श्रेष्ठ होगा। अपनी इस वृत्ति से यह यही लाभ उठाना चाहता है कि साधारण मनुष्य इन्हें भी बडा आदमी समझने लगें, फलतः यह अपने इस झूंठे बाने से अपनी फलाशा पूरी करने में सफलता का अभिमान करते रहें। साथ ही में विश्वास करने योग्य व्यक्तियों में तो यह सदा अविश्वास करते हैं एवं अविश्वस्तधूर्त्त लम्पटों के साथ इनकी खूब पटती है। तभी तो यह मूढचेत्ता नराधम कहलाते हैं ।।५।।

ये मूढधी मनुष्य स्वयं रात-दिन दुराचारों में लिप्त रहते हुए भी अपने आपको साधु पुरुष प्रसिद्ध करने के लिए दूसरे के जरा-जरा से दोषों को महाभारतस्वरूप दिया करते हैं। साथ ही में सर्वथा अकर्म्मण्य एवं कुछ भी करने में सर्वथा असमर्थ ये जड़ जरा-जरा सी बात में आग बबूला बनते हुए–"उसने मुझे ऐसा कहा, देखो तो सही मैं इन्हें कैसा मजा चखाता हूं" यह उद्‌गार प्रकट किया करते है ।।६।।

अपनी शक्ति का इन्हें अणुमात्र भी बोध नहीं है। धन–जन–विद्या आदि सब विभूतियों से शून्य इन मूढों का यद्यपि कोई व्यक्तित्त्व नहीं हैं, फिर भी ये अपने आपको सर्वसमर्थ समझने का मिथ्या अभिमान किया करते हैं। इसी अभिमान के वश होकर ये नराधम धर्म्मार्थ से सर्वथा विरहित **अलभ्य फलों की आशा** किया करते हैं। इनकी आशा भी कुत्सित ही होती है। लूट-खसोट द्वारा ही ये अपना अभ्युदय चाहा करते हैं। सदा इनकी दृष्टि बीभत्स फलों पर ही रहती है। परन्तु इन मन्दभाग्यों को यह भी तो नहीं मिलता। कारण "**नैष्कर्म्य**" बिना कर्म्म के यह फलाशा भी तो सफल नहीं हो सकती। मन के लड्डू भी क्या कभी किसी को तृप्त कर सकते हैं ।।७।।

इस प्रकार उक्त ऐतिह्य सिद्धान्त से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि केवल फलाशा कभी फल-प्राप्ति का कारण नहीं बनती। हाँ, यदि फलाशा के साथ-साथ कर्म्म भी किया जाता है तो

यथाकथंचित् फल सिद्धि हो जाती है। परन्तु इस पक्ष में भी अनेक दोष हैं। पहिला दोष तो सबसे भयङ्कर यही है कि फलाशा का कर्म्म-काल में समावेश करने से कर्म्म-बल क्षीण हो जाता है। साधन-कर्म्म के क्षीण हो जाने से साध्य-कर्म्म भी पूर्ण नहीं होता। फलतः ऐसा अधूरा-कर्म्म अधूरा फल ही उत्पन्न करता है। कभी-कभी तो यह भी देखा गया है कि यदि फलाशा कर्म्म की अपेक्षा अधिक बलवती बन जाती है तो वह कर्म्म सर्वथा निरर्थक ही हो जाता है। इस प्रकार फल-सिद्धि में सन्देह एवं फल की अपूर्णता—यह पहिला दोष है। दूसरा दोष इससे भी अधिक भयङ्कर है। फल की कामना से मन आसक्ति में फंसता हुआ संस्कारपाश से बद्ध हो जाता है। कारण इसका यही है कि कर्म्म आसक्ति का जनक नहीं है, किन्तु कर्म्म-फलेच्छा आसक्ति की जननी है। फल त्रिगुणभावापन्न है। त्रिगुणभाव असीमभाव का विघातक है। इसके आगमन से मन की प्रातिस्विक आत्मभूमा उच्छिन्न हो जाती है। दायरा छोटा हो जाता है। यह अल्पता क्षोभ का कारण बन जाती है। यदि फलमिला तब भी क्षोभ है, न मिला तब भी क्षोभ है। फल कभी स्थायी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में जिनकी फल पर दृष्टि नहीं रहती, वे तो फलसिद्धि—असिद्धि दोनों में अविचलित रहते हैं। पहिले तो कर्म्मठों को फल न मिले यह संभव ही नहीं है। यदि फल नहीं भी मिलता है तो इन्हें इस बात से सन्तोष रहता है कि हमने अवश्य ही अपने कर्म्म में कोई त्रुटि की है। फलतः यह उस त्रुटि की पूर्त्ति में लगे रहते हैं। क्षुब्ध न होकर अनन्यभाव से कर्म्ममात्र में संलग्न रहते हैं। कभी न कभी इनका यह कर्म्म अवश्य ही सफल हो जाता है। कितने ही महानुभाव यह कहा करते हैं कि कर्म्म करने पर भी यदि भाग्य में उसका फल नहीं है तो वह उद्योगकर्म्म व्यर्थ चला जाता है। हम यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते। यदि कर्म्म सर्वात्मना सम्पन्न है तो अवश्य ही वह सफल है। देखिए—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ।।[1]

श्लोक के चतुर्थ चरण का भी यह अर्थ लगाया जाता है कि "प्रयास करने पर भी यदि फल-सिद्धि नहीं होती तो इसमें उस प्रयासकर्त्ता (कर्म्मकर्त्ता) का क्या दोष है"। परन्तु यह अर्थ भी सर्वथा अनर्थ है। इसका तात्पर्य्य यही है कि यदि यत्न करने पर भी कर्म्म-सिद्धि नहीं होती तो ऐसी स्थिति में उस यत्नकर्त्ता को यह अन्वेषण करना चाहिए कि मेरे यत्न में ऐसा कौन सा दोष रह गया है, जो कर्म्म को सिद्ध नहीं होने देता। अवश्य ही कर्म्म की त्रुटि ही कर्म्मसिद्धि की विघातिका है— **"यत्ने कृतेऽपि यदि कर्म्म न सिद्धयेत्—तदा अत्र कर्म्मणि को दोषः संजातः—इति विवेचनीयम्"।**

और देखिए ! फलाशा राग-द्वेष की जननी बनती हुई बन्धन का कारण बन जाती है। आप जिस फल को चाहते हैं, उसे दूसरा भी चाहता है। इस समान कामना से आपको अपनी कामना में प्रतिबन्धन प्रतीत होने लगता है। इस कामप्रतिबन्धन से तत्काल मन में द्वेषभाव जागृत हो जाता है।

१ हितोपदेश।

द्वेष से मन ठिकाने नहीं रहता। फलतः कर्म्मकर्त्तामन कर्म्मशून्य बनता हुआ कामना सिद्धि से भी वञ्चित हो जाता है एवं क्षोभ-मूलक दुःख को भी मोल ले लेता है। यदि कामना पूरी हो गई तो फल के साथ स्नेह हो जाता है। यही राग है। फल कभी स्थायी रहता नहीं। बस इसी भीति से मन में एक प्रकार का क्षोभ बना रहता है, जैसाकि–**"ध्यायतो विषयान् पुंसः"** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इस दृष्टि से भी फलाशा का त्याग करना ही उत्तम है। फलाशा अधिकार की वस्तु नहीं, फलाशा से किसी दशा में शान्ति नहीं, फलाशा से सिवाय बन्धन के और कोई लाभ नहीं, फिर कौन बुद्धिमान् फलाशा रखता हुआ, कर्म्म करेगा? यदि फलाशा छोडकर कर्म्म किया गया तो कर्म्म-प्रबल बन जायगा, फल अवश्य मिलेगा, राग-द्वेष-मूला आसक्ति न होगी। इस प्रकार कर्म्म-फल की प्रेप्सा न रखने से फल मिलेगा, कर्म्मलेप होगा नहीं, यही तो इस बुद्धियोग की विशेषता है।

हमने पूर्व में फल को तो पुरुषार्थ कहा है, एवं फल-साधक कर्म्म को क्रत्वर्थ कहा है। क्रत्वर्थ हमारे अधिकार की वस्तु है, पुरुषार्थ क्रत्वर्थ के अधिकार की वस्तु है। यद्यपि स्थिति यही है, परन्तु कर्म्मकाल में आपको इस स्थिति का विपर्यय कर देना चाहिए। अर्थात् पुरुषार्थरूप फल को तो क्रत्वर्थ समझना चाहिए, एवं क्रत्वर्थरूप फलसाधक कर्म्म को पुरुषार्थ समझना चाहिए। **कर्म्म के लिए फल, फल के लिए कर्म्म**–दो दृष्टिएँ हैं। पहिली दृष्टि में कर्म्म प्रधान है, फल गौण है। दूसरी दृष्टि में फल प्रधान, कर्म्म गौण है। कर्म्म को उद्देश्य मानकर फल का विधान समझना एक पक्ष है, फल को उद्देश्य बनाकर कर्म्म में प्रवृत्त होना दूसरा पक्ष है। दोनों में प्रथम पक्ष ही श्रेष्ठ है। हमें कर्म्म को उद्देश्य बनाना चाहिए। फल कर्म्म के लिए है, कर्म्म फल के लिए नहीं है। **"कर्म्मफल के लिए नहीं है"** इस वाक्य का यही अर्थ है कि कर्म्म केवल अशाश्वत फलों पर ही पर्यवसित नहीं हो जाता। यह फल तो इसके आनुषङ्गिक क्षुद्र फल हैं। ऐसा विशुद्ध कर्म्म तो उस उत्कृष्ट पराशान्तिलक्षण आत्मफल का हमें अधिकारी बना देता है, जिसके सामने इन काम्यफलों का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जैसा कि–**"यावानर्थ उदपाने०"** में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

फलाशा छोडकर यदि कर्म्म किया जाता है तो ऐसे कर्म्म द्वारा सतत आक्रमण करता हुआ भी त्रैगुण्य कभी भी आत्मा पर अधिकार नहीं जमा सकता। **"न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न कर्म्मफले स्पृहा"**। कारण इसका यही है कि त्रिगुणभाव का मूलप्रवर्त्तक द्वन्द्वभाव है। ज्ञानवत् कर्म्म तो आत्मा का स्वरूप धर्म्म ही है। अतएव जब तक यह निष्काम कर्म्म है तब तक तो द्वन्द्वभाव का अवसर ही नहीं है। हाँ, जब विजातीय फलाशा का कर्म्म में प्रवेश हो जाता है तो अवश्य ही आत्मा द्वन्द्वभाव से युक्त होता हुआ त्रिगुणपाश से बद्ध हो जाता है। द्वन्द्वभाव की निवृत्ति के लिए नित्यसत्त्वस्थ बनना आवश्यक है। इसके लिए निर्योगक्षेम बनना आवश्यक है। इसके लिए आत्मवान् (केवल ज्ञानकर्म्ममय आत्मवान्) बनना आवश्यक है। इसके लिए फलाशा का परित्याग अपेक्षित है। कारण, फलाशा विजातीय होने से ज्ञान-कर्म्ममयी आत्मनिष्ठा को उसी प्रकार क्षुब्ध बना डालती है, जैसे कि एक कण्टक हमें क्षुब्ध कर देता है। जब फलाशा छोड़दी जायगी तो विशुद्ध ज्ञानकर्म्ममय आत्मा मात्र शेष रह जायगा। शान्त-पानी पत्थर फैंकने से उछल पड़ता है। पानी की स्थिरलक्षण सत्त्ववृत्ति उच्छिन्न हो जाती है। यदि पाषाणादि विजातीय पदार्थों का आक्रमण रोक दिया जाता है तो पानी स्वरूप से सर्वथा शान्त हो जाता है। ठीक

यही परिस्थिति यहाँ समझिए। फलाशात्याग से जब आत्मनिष्ठा प्राप्त हो जायगी, तो फल से सम्बन्ध रखने वाली क्षोभप्रवर्त्तिका योगक्षेमवृत्ति हट जायगी। तत्काल आत्मा में स्वाभाविक स्थिरतालक्षण नित्यसत्त्व का उदय हो जायगा। सत्त्वोदय से निर्द्वन्द्वता मिल जायगी। निर्द्वन्द्वता के होते ही त्रैगुण्य आत्मा के साथ बद्ध न होने से न होने के समान हो जायगा। इसी को **"निस्त्रैगुण्य"** कहा जायगा। निस्त्रैगुण्यादि शब्दों का यह तात्पर्य्य कभी नहीं है कि सहजसिद्ध त्रिगुण-द्वन्द्व-योगक्षेम-फल आदि का ही उच्छेद हो जाय। इसका तात्पर्य्य केवल यही है कि होगा सब कुछ, परन्तु उसका आत्मापर असर न होगा। कब? जब कि फलाशा छोड़दी जायगी। तब इसी अभिप्राय से—**"निस्त्रैगुण्योभवार्जुन०"** इत्यादि प्रकरण केअनन्तर ही **"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** यह आदेश दिया है। भगवान् कहते हैं, तू तभी इन पाप्माओं से अपने आपको सुरक्षित रख सकेगा, जबकि कर्म्ममात्र में ही अधिकार रखता हुआ फलाशा को सर्वथा छोड देगा—

फलेच्छात्यागेन—ज्ञानकर्म्ममयात्मानिष्ठावाप्तिः।

आत्मनिष्ठया—योगक्षेमचिन्तानिवृत्तिः।

चिन्तामूलकक्षोभनिवृत्तौ—नित्यसत्त्वोदयः।

सत्त्वोदये स्थिरताभावेन—निर्द्वन्द्वभावोदयः।

निर्द्वन्द्वभावेन—विद्यमानस्यपि त्रैगुण्यस्यात्मन्यसम्बन्धः।

ततश्च—शोकोच्छित्तिः

—०—

जिस कर्म्मग्रन्थि को बडे-बडे शास्त्र सुलझाने में असमर्थ रहे हैं, उस अड़चन को भगवान् ने—**"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** इस एक आदेश से दूर कर दिया है। यदि भगवान् के इस आदेश के अनुसार हम चलते हैं, अथवा चलने का अभ्यास करते हैं तो सतत कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहते हुए भी हम निस्त्रैगुण्य निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम एवं आत्मवान् बने रहते हैं। इसी रहस्य का कुछ हेर-फेर के साथ निम्नलिखित उपनिषन्मन्त्र ने स्पष्टी करण किया है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥[1]

"तुम इस लोक में रहते हुए इस जीवन में आयु के १०० वर्षों तक कर्म्म करते हुए भी जीने की इच्छा करो। ऐसा करने से कर्म्म की इच्छा रखने वाले (तुम में) कर्म्मफल से सम्बन्ध रखने वाला बन्धरूप अन्यथाभाव (पतन) न होगा। ऐसे नर में कभी कर्म्म लिप्त नहीं होता।" ध्यान रहे, उपनिषत् ने फलेच्छामात्र का विरोध किया है। कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहते हुए जीवित रहने की इच्छा का तात्पर्य्य यही है कि तुम फलेच्छा रखते हुए अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह न करो, अपितु कर्म्म की इच्छा रखते हुए जीवित रहो। इच्छा का ऋषि ने जीवन के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए कर्म्म का

१ ईशोप० २।

जो आदेश दिया है, इस द्रविडप्राणायाम में भी कुछ रहस्य है। **"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते"** इस शिक्षासिद्धान्त के अनुसार आत्मा बुद्धि से युक्त होकर मन के द्वारा अपनी इच्छा का विकास करता है। यह कामना आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। इसी आत्मप्रधान मानस कामना को ईश्वरेच्छा कहा जाता है। यही इच्छा जीवन का मूलसूत्र है। ठीक इसके विरुद्ध यदि इच्छा मनःप्रधान बन जाती है तो वह मृत्युपाश का कारण बन जाती है। विशुद्ध कर्म्मप्रवृत्ति की मूल-भूता जहाँ जीवन की इच्छा है, फलाशायुक्त कर्म्मप्रवृत्ति की मूलभूता इच्छा वहाँ मृत्यु की इच्छा है। जीवनेच्छा आत्मेच्छा किंवा ईश्वरेच्छा है। इससे किया हुआ कर्म्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। इससे आत्मा का कभी अन्यथाभाव (विकृति) भी नहीं होता एवं ऐसी इच्छा से किया हुआ कर्म्म लेप का कारण भी नहीं बनता। उधर मृत्युमयी इच्छा मनोमयी इच्छा, किंवा जीवेच्छा है। इस में अवश्य ही फलाशा का सम्बन्ध रहता है। ऐसी इच्छा ही कर्म्मलेप का कारण बनती हुई अन्यथाभाव का कारण बनती है।

कर्म्मकलाप स्थूल-सूक्ष्म-कारणस्वरूप शरीरत्रयीभेद से तीन भागों में विभक्त हैं। स्थूलशरीरसम्बन्धी कर्म्म **सामाजिक** एवं **राजनैतिक** कर्म्म हैं। सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी कर्म्म **धार्मिक कर्म्म** हैं। कारणशरीर सम्बन्धी कर्म्म **आत्मीयकर्म्म** हैं। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के त्रिवृद्भाव से एक ही प्राणात्मक-कर्म्मतन्त्र तीन भागों में विभक्त हो जाता हैं। तीनों ही हमारे आधिकारिक कर्म्म हैं। तीनों में प्रतिष्ठित रहते हुए हम **कर्म्म-भक्ति-ज्ञान** तीनों काण्डों का यथावत् अनुष्ठान करने में समर्थ हो जाते हैं। एक व्यक्ति राज्य की ओर से वधकर्म्म में नियत है। यह इसका आधिकारिक कर्म्म है। यह अपनी इच्छा से वध नहीं करता, अपितु राजतन्त्रेच्छा वधकर्म्म का मूल है। फलतः ऐसे कर्म्म से यह कभी दण्डित नहीं माना जाता। यही अवस्था अधिकृत सामाजिक कर्म्मों की है। समाजतन्त्रेच्छाद्वारा कृत कर्म्म भी कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। चूंकि इन कर्म्मों का वाङ्मय स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध है अतएव इन कर्म्मों में अवहेलना करने वाले व्यक्ति को सामाजिक एवं राजनैतिक जो दण्ड मिलता है, उसको भौतिकस्थूलशरीरसम्बन्धी दण्ड का ही भोक्ता बनना पड़ता है। धार्मिककर्म्म नित्य-नैमित्तिक-काम्य भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। कामना हटाने से काम्य कर्म्म भी नित्य-नैमित्तक कर्म्मों में ही समाविष्ट मान लिए जाते हैं। ये ही कामनाशून्य धार्मिक-कर्म्म आधिकारिक कर्म्म है। इनमें कामना रखने से, अथवा न करने से–प्राणमयसूक्ष्मशरीर का ही अन्यथाभाव होता है। कर्म्मत्वेन वर्णाश्रमानुसार कर्म्ममात्र आत्मीय कर्म्म हैं। इनमें गड़-बड़ करने से मनोमयकारण शरीर का ही अन्यथाभाव होता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण उक्त मन्त्र के तीन अर्थ हो जाते हैं, जिनका कि विशद निरूपण **ईशविज्ञान-भाष्य** में किया जा चुका है। आधिकारिक कर्म्म ही शास्त्रसिद्ध होने से **आदिष्टकर्म्म** कहलाते हैं। आ का अर्थ है समन्तात्, सर्वात्मना, दिष्टम् का अर्थ है दिखलाया हुआ। जो कर्म्म चारों ओर से खूब देखभाल कर विहित हुआ है, वही "आदिष्ट-कर्म्म है। दिष्ट ही ड्यूटी है। जो प्राकृतिक-कर्म्म हमारे आत्मस्वरूप में प्रविष्ट हैं, वे अवश्य ही हमारे लिए आदिष्ट हैं। इन्हें यथाविधि करना हमारा फर्ज है, ड्यूटी है। आदिष्ट ऑर्डर (आदेश) कर्म्म हैं। इन्हें न करने से अवश्य ही हानि है। यदि हम फल की चर्वणा में रह गए तो ड्यूटी से गिर जाएंगे, सुफल न मिलेगा, सजा और मिलेगी। इस दृष्टि से **नित्य-नैमित्तिक-काम्य** तीनों को **आदिष्ट** एवं **ऐच्छिक** भेद से दो भागों में विभक्त माना जा सकता है।

फलाशात्यागसहकृत, बुद्धियोगसहकृत शास्त्रविहित नित्य-नैमितक कर्म्म ही आदिष्ट कर्म्म हैं। एवं बुद्धियोगासहकृत, फलाशासहकृत यथेच्छाविहित काम्य कर्म्म ही ऐच्छिक कर्म्म हैं। इच्छापूर्वक कृतकर्म्म फलाशा का संग्राहक बनता हुआ अवश्य ही बन्धन का कारण है।

योगो द्विविधः

१–बुद्धियोगसहकृतकर्म्मयोगः—आदिष्टंकर्म्म (शास्त्रविहिते नित्यनैमित्तिके)

२–बुद्धियोगनिरपेक्षकर्म्मयोगः—ऐच्छिककर्म्म (यथेच्छाविहितं काम्यम्)

प्रथमे— कर्म्मणि–अपेक्षा,
फले–उपेक्षा

—०—

द्वितीये—फले–अपेक्षा
कर्म्मणि–उपेक्षा

—०—

"फलाशा न रखकर कर्म्म करने से रहता हुआ भी त्रिगुणभाव आत्मा का अनिष्ट नहीं कर सकता" यह सिद्धान्त बडा सुन्दर है। परन्तु प्रश्न यह है कि जिस सिद्धान्तवाद की आदर्शता केवल शब्दों पर ही निर्भर हो, उस सिद्धान्त को अपनाकर भी हम क्या करें? फलाशा छोडते हुए हम प्रसन्नतापूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त हो जायँ तो सचमुच हमारा कल्याण हो जाय। परन्तु ऐसे कर्म्म में प्रवृत्ति हो कैसे? यह एक बडी जटिल समस्या है। फलतः भगवान् के–**"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"** यह आदेश हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता। दूसरी बात कामना को आसक्ति की जननी बतलाया गया है एवं आसक्ति बन्धन का कारण है। बिना इच्छा के कर्म्म हो ही नहीं सकता। इच्छा है तो तन्मूला आसक्ति भी अवश्य है। आसक्ति है तो बन्धन दुर्निवार है। फलतः फिर हमें घूमफिर कर **सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणसंन्यास** का ही आश्रय सर्वोत्तम मानना पड़ता है। इस सांख्यमार्ग में भी एक बडी जटिल समस्या है। वह यही है कि जब तक इन्द्रियाँ रहेंगी, तब तक इन्द्रियों का अधिष्ठाता चञ्चल मन स्वस्वरूप से सुरक्षित रहेगा, तब तक कर्म्म कभी नहीं रोका जा सकता। इसी जटिल समस्या को दूर करने के लिए परमकारुणिक सांख्यनिष्ठ विद्वानों ने एक उपाय हमारे सामने रक्खा है। वह उपाय है–सुप्रसिद्ध **"अमनस्कयोग"**। यही योग **"लययोग"** नाम से प्रसिद्ध है। इस लययोग को सिद्ध करने के लिए पहिले क्रमशः **मन्त्रयोग-राजयोग-हठयोग** इन तीनों योगों को सिद्ध करना पड़ता है। जपादि से पहिले मन में आंशिकरूप से स्थिरता का उदय होता है। यही मन्त्रयोग है। जब चित्त में कुछ स्थिरता आ जाती है तो आहार-विहार को विशेषरूप से नियमित बनाया जाता है। सांसारिक कर्म्म होते हैं। परन्तु बडी मर्य्यादा के साथ, उदासीनता पूर्वक। यही राजयोग है। राजयोग के प्रभाव से जब सांसारिक कर्म्मों से सर्वथा विरक्ति हो जाती है तो अध्यात्मसंस्था की शुद्धिपर ध्यान जाता है। कड़े उपवास, अग्नि के सामने अहोरात्र बैठना, वर्षा-शीत-आतप में निरावरण प्रान्त में वर्षों बैठे रहना किसी से न बोलना, **नेति-धोति-वज्रोलि** आदि दुःखद क्रियाओं से शरीर के मलमूत्रों का बलात्कार से

मार्जन करना, ये सब हठयोग में अन्तर्भूत हैं। इस योग से मन आत्यन्तिकरूप से उदासीन बन जाता है। किसी ने कुछ देदिया तो ठीक, न दिया तो ठीक। खालिया तो ठीक, न खाया तो ठीक। जो दशा एक प्रमत्त की रहती है, वही दशा इस हठयोगी की हो जाती है। इसके अनन्तर यह आहार छोड़ने लगता हैं। पहिले अन्न छोड़ता है, केवल दूधपर, दूध से फलों पर, फलों से पत्तों पर, पत्तों से पानी पर, पानी से वायु पर आ जाता है। इस वायव्यदशा में आकर अन्न के आधार से जीवित रहने वाला मन सर्वथा मर जाता है। सम्पूर्ण ऐन्द्रियक विषय परावर्तित हो जाते हैं। यही लययोग, किंवा अमनस्कयोग है। मन के लीन हो जाने से मनःसम्बन्धी कर्म्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही ज्ञानयोग-निष्ठाप्राप्ति का उपयुक्त समय है। इस प्रकार सांख्य ने लययोग द्वारा प्राप्त सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग को ही अनुशोकनिवृत्ति का अन्यतम एवं सर्वश्रेष्ठ उपाय माना है। सांख्य की दृष्टि में कर्म्म को बिना छोडे मुक्ति की सम्भावना ही नहीं है–**"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"**–**"नास्त्यकृतः कृतेन"**–**"त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"** चलिए इतिश्री हो गई। सब आपत्तियों से पीछा छूटा। यदि कर्म्म करोगे तो दुःख अवश्य होगा, शाश्वतशान्ति चाहोगे तो कर्म्म अवश्य छोडना पड़ेगा। अर्जुन अपने घर जाय, भगवान् बन्शी बजावें। व्यासदेव गीता लिखने का कष्ट न करें। परन्तु क्या करें, श्रीमय आत्मा अपनी श्री की इति होने भी तो नहीं देता। वह बार-बार यह प्रेरणा कर रहा है कि तुम यहीं इतिश्री मत समझो। सांख्यसिद्धान्त पर ही विश्राम मत करो। तुम बुद्धियोगाचार्य भगवान् की शरण में चलो। वहाँ जाते ही तुम्हारे कर्णकुहरों में–**"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच०"** यह अमृतवाणी प्रवेश करेगी। भगवान् तुम्हें निराश न करेंगे। भगवान् तुम्हें अमनस्कयोगलक्षण आत्महत्या से बचावेंगे। भगवान् कर्म्ममार्ग में सुरक्षित रखते हुए तुम्हें मुक्ति का रहस्य बतलावेंगे। सांख्यशास्त्र का सर्वकर्म्मपरित्याग एवं लययोग दोनों–ही गीता की दृष्टि से नितान्त अशुद्ध हैं। इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने भी पहिले तो महासमारम्भ से सांख्य का खण्डन किया है, फिर आगे जाकर **"एतेन योगः प्रत्युक्तः"**[1] से योग प्रक्रिया का खण्डन किया है।

सांख्योक्त योग–प्रक्रिया में कर्म्म का अभाव है। कर्म्माभाव से इन्द्रियों का एवं मन का उच्छेद है। यही अध्यात्मसंस्था की जड़ता है। **"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।"** इत्यादि आप्त सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रिय एवं ऐन्द्रियक कर्म्म ही तो जड़चेतनभेदक के व्यवस्थापक हैं। जब इन्द्रियाँ अवरुद्ध हो गई, मन-मर गया, कर्म्म बन्द हो गया तो जो स्थिति एक लोष्ठ की होती है, वही हमारी हो गई। यही तो धर्म्मशास्त्रों में आत्महत्या बतलाई गई। हम चेतन से अचेतन बनगए, मनुष्य से पत्थर बन गए, इससे क्या पुरुषार्थ सिद्धि हुई, क्या लाभ हुआ? यह उन सांख्याभिमानियों से ही पूछना चाहिए। सचमुच यह एक घृणित मार्ग है। ऐसे कर्म्मशून्य को तो हमारी प्रान्तीयभाषा में **"करम फूटा"** (कर्म्महीन-भाग्यहीन-मन्दभागी) ही कहा जाता है। वस्तुतस्तु इस योग में न इन्द्रियाँ मरती हैं, न मन-मरता है। केवल इनका स्तम्भनमात्र हो जाता है। **"नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः"** इस गीतासिद्धान्त के अनुसार मन-इन्द्रियाँ सब सत् हैं। इनका, साथ ही में इनके व्यापार

१ शारीरक सूत्र २।१।२।३।

का सात्त्विक दृष्टि से कभी अभाव नहीं है। मद्य-पान से जैसे एक मद्यपी इनके स्तब्ध हो जाने से अपना स्वरूप भूल जाता है, बेहोश हो जाता है, ठीक वही दशा यहाँ होती है। क्या इसी का नाम ज्ञानयोग है? हमें आश्चर्य्य तो यह होता है कि जिन भगवान् ने–**"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि"** यह कहते हुए कर्म्ममार्ग को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है, साथ ही में अपने जीवन में जिस महापुरुष ने सतत कर्म्मानुष्ठान किया है, जिसने यज्ञादिशास्त्रविहित कर्म्मों में अपना जीवन व्यतीत किया है–उन्हीं भगवान् के आदेशों को द्रविडप्राणायाम से कर्म्मपरित्यागपरक लगाने की व्यर्थचेष्टा की जाती है। ऐसे ज्ञानयोग से न माया का उच्छेद होगा, न मन मरेगा। आत्मा में केवल जड़ता आ जाएगी, यों ही मरते रहोगे, जन्म लेते रहेगो–**"माया मरी न मन मरा सो मर-मर गया शरीर"**। इसीलिए तो भगवान् इस कल्पितयोग को **"मिथ्याचार"** कहने वाले हैं।

इस प्रकार भगवान् की दृष्टि में लययोगमूलक कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का तो कोई मूल्य है नहीं। ऐसी दशा में वही कामनासम्बन्धी पूर्वपक्ष पुनः हमारे सामने उपस्थित होता है। फलाशा के बिना कर्म्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती, यह बात किसी अंश तक ठीक है। इसकी निवृत्ति का एक ही उपाय है। वह है, केवल कर्म्म पर दृष्टि रखना। थोड़े से बुद्धियोग से हमें यह मान लेना पड़ता है कि फलाशा फल की जननी नहीं है, कर्म्म ही फल का जनक है। इस विचार से अपने आप फल पर से हमारी दृष्टि हट जायगी, केवल कर्म्म पर दृष्टि रह जायगी। इस दृष्टि के लिए तत्त्वविवेक और अभ्यास को ही प्रधानता दी गई है। कर्म्म-रहस्य का अन्वेषण करो, सोचो, विचारो, शास्त्र के अन्तः-स्तल में प्रवेश करो, नियतेन्द्रिय बनो, नियम से कर्म्म करो, सत्यबोलो, हिंसा से बचो, राग-द्वेष कम करने का प्रयास करो, कालान्तर में अपने आप फलपर से दृष्टि हट जायगी, कर्म्ममात्र पर दृष्टि रह जायगी। दूसरी आशंका थी कामना की। फलकामना छोडदी, परन्तु कर्म्मकामना तो नहीं छोड़ी जा सकती। बिना कामना के कर्म्म ही नहीं हो सकता। यदि कामना है तो आसक्ति अवश्य है। इसके उत्तर में हम **स्वाभाविक** एवं **कृत्रिम** इन दो इच्छाओं को ही आपके सामने रक्खेंगे। स्वाभाविक इच्छा **कामना** किंवा **काम** कहलाती है, कृत्रिम कामना **"इच्छा"** कहलाती है। इच्छा और कामना दोनों पर्य्याय नहीं हैं, अपितु दोनों स्वतन्त्र अर्थों से सम्बन्ध रखती हैं। फल की इच्छा से स्वाभाविक कामना भी इच्छा रूप में परिणत हो जाती है एवं फलाशापरित्याग से मन की इच्छा भी कामनारूप में परिणत हो जाती है। स्वाभाविक कामना को मन की इच्छा के आधीन बनाते हुए जो कामना की जाती है, वही बन्धन का, किंवा आसक्ति का कारण बनती है।

"काम" आनन्द का जनक है, **इच्छा मोह** की जननी है। शब्दसंकेतविद्या के अनुसार **अकार** मन का वाचक है, **"कम्"** सुख का वाचक है। काम शब्द में **"क्-अ-म्-अ"** यह स्थिति है। अकार कम् के उदर में भी है, कम् के बाहर भी है। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि अकाररूप मन कमात्मक सुख के गर्भ में भी है, बाहर भी है। इसी स्थिति का इन शब्दों से भी अभिनय किया जा सकता है कि मन के भीतर भी आनन्द है, बाहर भी आनन्द है। यही सम्बन्ध **"ओतप्रोतभाव"** नाम से प्रसिद्ध है–**"सुखे ओतप्रोतं मनः"** ही **"काम"** है। सांसारिक भौतिक विषय **"इट्"** (अन्न) हैं। इनमें फँस कर

मन अपना आत्मप्रकाश खो बैठता है। यही मन की सुषुप्ति है। **"इट्-अन्नं-तत्र शेते-मनः"** ही **"इच्छा"** है। यही मोह है। अपनापन भूल जाना ही तो मोह है। जब तक मन विशुद्ध कर्म्म पर आरूढ रहता है तब तक विशुद्ध आत्मवान् बनता हुआ यह प्रसादगुण से (नित्यसत्त्वगुण से) युक्त रहता है। कर्म्मप्रवृतिमूला कामना मनकी अपनी कामना नहीं है, अपितु यह आत्मा की स्वाभाविक कामना है। इसको दार्शनिक **"उत्थिताकांक्षा"** (अपने आप उठी हुई इच्छा) कहा करते हैं। यह कामना फलमयी नहीं, अपितु कर्म्ममयी है। कर्म्म आत्मा का स्वरूप है। आत्मा असंग है। अतः असंग आत्मीय कर्म्म की मूलभूता आत्मकामना भी सर्वथा असंग ही है। तभी तो कामना आनन्द की विकास भूमि है। यह काम और कर्म्म परमार्थदृष्टया एक वस्तु हैं। इसीलिए लोक में कर्म्म को **"काम करो-काम करो"** इत्यादिरूप से काम शब्द से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। काम जब तक विशुद्ध काम है, तब तक बन्धन का अभाव है। यदि काम के साथ काज (फल) लगा दिया तो वही काम इच्छा बनता हुआ सबन्धन है। फलाशा रखने वालों के मुख से-**"काम काज करते हैं"** यही अक्षर निकला करते हैं। फल के सम्बन्ध से वही आत्मकामना मन की कामना बन जाती है। इसी को इच्छा कहा जाता है। दार्शनिक भाषा में इसे ही-**"उत्थाप्याकांक्षा"** (उठाई हुई इच्छा) कहा जाता है। यही कृत्रिम इच्छा है। ऐसी इच्छा से जो कर्म्म किया जाता है, वह अवश्य ही बन्धन का कारण बन जाता है। यह आपको स्मरण रखना चाहिए कि कर्म्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता, इच्छा बन्धन का कारण बनती है। कर्म्ममूला कामना भी पूर्वकथनानुसार कर्म्ममयी ही है। अतः वह भी बन्धन का कारण नहीं बनती। इसीलिए ऐसी कामना से किया हुआ कर्म्म निष्काम मान लिया जाता है। फलमयी कामना इच्छा है। इच्छाकृतकर्म्म ही बन्धन का मूल है। अतएव सकाम कर्म्म को बन्धन का मूल माना जाता है। जब कर्म्मकामना कामना ही नहीं तो बन्धन कैसा? फलकामना अकामना ही नहीं तो विमोक कैसा? हमारे अन्तर्जगत् में उक्त कामना एवं इच्छा दोनों के व्यापार होते रहते हैं। विचार करने से हमें इस निश्चय पर पहुँच जाना पड़ता है कि कामना (आत्मेच्छा), किंवा उत्थिताकांक्षा से हम जो कर्म्म करते है, वह कभी आसक्तिमय संस्कार का कारण नहीं बनता एवं इच्छा (मन की इच्छा) किंवा उत्थाप्याकांक्षा से जो कर्म्म करते हैं, वे अवश्य ही आसक्ति का कारण बन जाते हैं। हम रात-दिन अपने मकान की सिढ्ढियों पर चढते उतरते हैं। यह निश्चित है कि यह व्यापार बहुत सोच समझ कर होता है। एक-एक सीढी पर बडी सावधानी से आँखों से देख-देख कर पैर रखते हैं। अच्छा बतलाइए तो सही आपके मकान में कितनी सीढिएँ हैं। हमारे विचार से उस व्यक्ति के अलावा जो कि आसक्ति पूर्वक सीढिएँ गिना करता है, कोई भी व्यक्ति अपने मकान की सीढियों की संख्या नहीं बतला सकता। कारण इसका यही है कि यहाँ केवल कर्म्मपर दृष्टि है। फलतः कर्म्ममूला कामना उन सीढियों का मन में संस्कार उत्पन्न नहीं करती। आप बाजार जाते हैं। रास्ते में भले बुरे मकान, पशु, पक्षि, मोटर, ताँगा, गाड़ी, साइकल सैंकड़ों मनुष्य मिलते है। सबको आप देखते जाते है। देखना कर्म्म है। इसका मूल कामना है परन्तु क्या आप बतला सकते हैं कि हमने आज अमुक-अमुक वस्तुएँ देखीं थीं। कभी नहीं। वापस घर आते हुए ज्यों-ज्यों आगे निकलते जाते हैं, आगत विषयसंस्कार हटते जाते हैं। विषय हैं, उनके संस्कार भी हैं। संस्कार की मूलप्रवर्त्तिका कामना भी है। संस्कारग्राहक मन भी है।

संस्कारग्रहणसाधक इन्द्रियाँ भी है । परन्तु आश्चर्य ! फिर भी संस्कार का मन के साथ लेप नहीं, बन्धन नहीं । क्यों ? उत्थिताकांक्षा की कृपा । हाँ, यदि मार्ग में किसी वस्तु पर आप मन गडा देते हैं, तो तत्काल उत्थाप्याकांक्षा जागृत हो जाती है । संस्कार दृढमूल बन जाता है । बाग में हजारों पुष्पों को देखते हैं । किसी का संस्कार नहीं होता । जिस पर इच्छा का अभिनिवेश करते हो, उसी का संस्कार होता है । और बातें जाने दीजिए । स्वाभाविक अतएव कर्म्ममयी कामना से सम्बन्ध रखने वाले-दैनिक स्वाभाविक प्रकृत्यनुकल भोग्यपदार्थ आपको दूसरे दिन भी याद नहीं रहते । बैठे-बैठे थक जाते हैं । पैर लम्बे करलेते हैं । चल पड़ते है । चलते-चलते थक जाते हैं । बैठ जाते हैं । यह सब स्वाभाविक कर्म्म उस आत्मकामना से अपने आप होते रहते है । इनके लिए आप प्रयास नहीं करते । भूख जगती है, खा लेते हैं । प्यास लगती है, पानी पीलेते हैं । रात होती है, सोजाते हैं । उबासी आती है, लेलेते हैं । इन सब कर्म्मों का मन की इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं हैं । आत्मकामना ही इन का मूलाधार है । आत्मकामना मन में जैसी प्रेरणा करती है, मन वैसा-वैसा करता रहता है । आत्मकामना जब असंग है तो उसके साथ उन कर्म्मजनित संस्कारों का बन्धन कैसे सम्भव है ? इन्हीं कर्म्मों को भगवान ने- **"सहज कर्म्म"** कहा है ।

नियत समय पर भोजन करके आप ऑफिस पहुँच जाते हैं । अब यदि आप दिनभर कुछ नहीं खाएँगे तो शरीरयात्रा में कोई बन्धन उपस्थित न होगा । चाटवाला आवाज लगाता हुआ निकलता है । आप सुनते हैं । आत्मा को भूख नहीं हैं । परन्तु मन दौड़ पड़ता है । यही अपनी उठाई हुई इच्छा है । इस इच्छा के वश आवश्यकता न रहने पर भी आप चाट खालेते हैं । यही इच्छा आसक्ति की जननी बनती है । इस प्रकार आप अपनी जीवनयात्रा में देखेंगे कि कितनी ही इच्छाएँ आसक्ति उत्पन्न करती है । कितनी ही नहीं करती । आसक्ति उत्पन्न करने वाली इच्छा मनःप्रधाना है । मन भार्गव होने से स्नेहगुणक है । ससंग है । अतः इसकी इच्छा से जो कर्म्मजनित संस्कार उत्पन्न होता है, वह स्नेहगुण के कारण मन के साथ चिपक जाता है । यही कर्म्मलेप है । मन की इच्छा का निरोध करने का एकमात्र उपाय है-फलाशा का परित्याग एवं केवल कर्म्मपर दृष्टि । कर्म्मपर दृष्टि आते ही मन की स्वतन्त्रेच्छा उच्छिन्न हो जाती है, आत्मकामना शेष रह जाती है । पूर्वकथनानुसार यह बन्धन का कारण बनती नहीं । इसी आधार पर-हम कह सकते है कि कर्म्ममयी आत्मकामना से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्म बन्धन का कारण नहीं बनता, अपितु मनोमयी स्नेहगुणात्मिका इच्छा ही बन्धन का कारण है । आत्मेच्छा अन्तर्य्यामी की इच्छा है, वह हमारी इच्छा नहीं है । वह जैसा चाहता है, मैं करता रहता हूँ । फलतः न मैं चाहता, न करता-**"न करोति न लिप्यते"** । इसी अधिकृत कर्म्म-रहस्य को लक्ष्य में रखकर **"केनापि देवेन हृदिस्थितोऽहं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"** यह कहा जाता है । इच्छा दूसरे की, बन्धन मन पर कैसे हो ? वह केवल कर्म्म का अधिकारी है । देखिए न ! यदि किसी निरपराध व्यक्ति का राजा की इच्छा से एक वधिक वध कर डालता है तो पार्लियामेन्ट उस जल्लाद को कुछ न कह कर राजा से ही जवाब तलब करती है । कारण यही है कि वधिक ने वधकर्म्म अवश्य किया है । साथ ही में इस वधकर्म्म में इसकी इच्छा भी है । परन्तु इसकी यह इच्छा राजाज्ञामयी इच्छा से संचालित होती हुई व्यर्थ है । इसीलिए इस पर कोई आपत्ति नहीं होती । बस इन्हीं सारे कर्म्मरहस्यों को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं--

"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" । (गीता २।४७)

फल हमारे अधिकार की वस्तु नहीं है । हम फल के हेतु नहीं हैं, कर्म्म ही फल का हेतु है । इसी का स्पष्टीकरण भगवान् आगे जाकर करते हैं—

"मा कर्म्मफलहेतुर्भूः" । (गीता २।४७)

जब कर्म्मफल की इच्छा न रहेगी तो ऐसे निष्फल कर्म्म में कौन प्रवृत्त होगा ? इस कुशङ्का का निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं सावधान ! हमारा यह तात्पर्य्य कभी नहीं है कि फलाशा के साथ कर्म्म भी छोड दिया जाय । अकर्म्म में कभी तेरा संग नहीं होना चाहिए । फल में संग रखना बुरा है, फलसाधक कर्म्म में संग न करना बुरा है । कर्म्म तो आत्मा की महाविभूति है । यदि तू इससे संग न करेगा तो कहीं का भी न रहेगा । तू फल की इच्छा छोड, कर्म्म की इच्छा कर, यही तात्पर्य्य है । कर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञान पहिला अकर्म्म है । कर्म्मत्याग के लिए जो व्यर्थ का प्रयत्न किया जाता है, वह निरर्थक बनता हुआ दूसरा अकर्म्म है । कामासक्तिफलमय कर्म्म आत्मा की कर्म्मविभूति को आवृत करता हुआ तीसरा कर्म्म है । शास्त्रनिषिद्ध सुरापान–भ्रूणहत्या, गुरुतल्पगमन, अगम्यागमन यह सब कर्म्म चौथा अकर्म्म है । शास्त्राप्रतिषिद्धविहित जलताड़न, कराघात, व्यर्थ में घूमते रहना, आदि कर्म्म पाँचवा अकर्म्म है । आलस्य से आक्रान्त होकर बिना हाथ पैर हिलाए केवल उदरम्भरी बने रहना, छठा अकर्म्म है । इन छओं अकर्म्मों के साथ जो संग करता है, वह अवश्य ही पतन के गर्त में गिरता है । सब का परिणाम है–आत्मा की वास्तविक कर्म्मविभूति का आवरण ।

१ कितने ही मनुष्य आलस्यवश सदा अकर्मण्य बने रहते हैं । इन्हें अपने शरीर का भी बोझा लगता है । यदि इनके मुख में कोई दूसरा व्यक्ति ग्रास देदेता है तो यह उसका उपकार मानते हैं । इन आलसियों के केवल दो ही कर्म्म हैं । रात-दिन सोते रहना, जब जगेंगे तो हर एक से झगडते रहना ही इन का परमपुरुषार्थ है । तीसरा कर्म्म इनका है दुर्व्यसन । भंग पीना, सुलफा पीना, गाँजा पीना ये सब दुर्व्यसन है । ऐसे व्यक्ति नितान्त मूर्ख हैं–**"व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा"** । घर से बाहर जाएँगे तो या तो दुर्व्यसन करेंगे, अथवा रस्ते चलते लड़ाई मोल लेंगे । घर आवेंगे तो या तो सो जाएँगें अथवा घर वालों पर कोपवृष्टि करेंगे । इनका यह कर्म्म सर्वथा अकर्म्म है । कारण, ऐसे कर्म्मों से आत्मा का स्वाभाविक कर्म्म तिरोहित हो जाता है ।

२–कितने ही व्यक्ति काम तो करते हैं, परन्तु निरर्थक । जिन कर्म्मों की न तो शास्त्र आज्ञा देता, न विधान करता है । वे सब कर्म्म निरर्थक कर्म्म कहलाते हैं । बुहारी ले कर घर की सफाई करते रहना, बाल बच्चों के कपड़े धोते रहना, बैठे-बैठे कुछ गुन गुनाते रहना, सारशून्य जातीय कलहों में आगे बढ़ कर भाग लेते रहना, सर्दी में अँगीठी की ही उपासना करते रहना, गर्मी में तालाबों की सैर करते रहना, चौमासों में गोठों में संलग्न रहना, निरुद्देश बाजारों बाग-बगीचों में घूमते रहना–करते रहते हैं, परन्तु व्यर्थ । इन कर्म्मों से आत्म-कर्म्म का कोई उपकार नहीं होता ।

३–कितने ही व्यक्ति शास्त्रनिषिद्ध कर्म्मों में ही अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं। दुर्जनों में जा कर सुरापान करना, पराई स्त्रियों के सतीत्व पर आक्रमण करना झूंठ, जाल साज़ी दगाबाजी से धन बटोरने में व्यस्त रहना, अपने आश्रितों को दुःख पहुँचाते रहना, देव-द्विज-गुरु-शास्त्रों की निन्दा करते रहना, ये सब शास्त्रनिषिद्ध कर्म्म हैं। इनसे भी आत्मा का सात्त्विक कर्म्म आवृत हो जाता है।

४–एक दल ऐसा भी है जो शास्त्रसिद्ध कर्म्म अवश्य करते हैं। नित्य स्नान संध्या, श्राद्ध, देव पूजन, ब्राह्मण भोजन, यज्ञ, दान सब कुछ करते हैं, परन्तु फलाशा रखते हुए। साथ ही में दान देंगे उसे, जो अहरहः इनका यशोगान करता रहता है। उस ब्राह्मण को भोजन कराएंगे जो इनकी स्तुति करता रहता है। जरा सा काम करेंगे, सर्वत्र डिण्डिम घोष करेंगे। ये सब कामनामय कर्म्म की आसक्ति के जनक बनते हुए आत्मकर्म्म के प्रतिबन्धक ही हैं।

५–कितने ही मूढधी ज्ञानयोग का वास्तविक स्वरूप न समझते हुए शास्त्रसिद्ध कर्म्मों को छोडने का प्रयास करते हुए, इस प्रयासरूपकर्म्म में व्यस्त रहते हैं। कुछ होता नहीं, निरर्थक में कर्म्मजनित संस्कारबन्धन और मोल ले लेते हैं।

६–छठे वे महापुरुष हैं, सब कुछ छोडछाडकर इन्द्रिय-मन प्राणादि का स्तम्भनकर शून्य पर्वत कन्दराओं में निश्चेष्ट पड़े रह कर अपने जीवन के उद्देश्य को व्यर्थ बना रहे हैं।

इस प्रकार अकर्म्म की व्याप्ति छ स्थानों में उपलब्ध होती है। भगवान् कहते हैं कि उक्त छओं ही आत्म कर्म्म के एवं लोकसंग्रह के विरोधी बनते हुए अकर्म्मकोटि में ही प्रविष्ट हैं। इन अकर्म्मों के साथ तुझे भूल कर भी संग नहीं करना चाहिए।

"मा ते संगोऽस्त्वकर्म्मणि"

॥ १ ॥

२-योगस्थः कुरु कर्म्माणि०

प्रथम श्लोक से भगवान् ने निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम, आत्मवान् बनने के साधनभूत फलाशा रहित, अतएव निष्कामकर्म्मलक्षणबुद्धियोगसम्बन्धी कर्म्म का रहस्य बतलाया है। उक्त श्लोक से भगवान्, को, 'तेरा **कर्म्म में ही अधिकार है, तू फल की इच्छा मत कर, तू कर्म्मफल का हेतु मत बन, तेरा अकर्म्म में संग न हो।**–'इस प्रकार तटस्थभाव से ही बुद्धियोग का स्वरूप अर्जुन के सामने रखना है। अब स्पष्टरूप से योगारूढ बनने की प्रेरणा करते हुए भगवान् कहते हैं कि, **हे अर्जुन! तू बुद्धियोग में प्रतिष्ठित हो कर, आसक्ति छोडकर, फलाफल की ओर से उदासीन बनकर, समानभावापन्न होकर कर्म्म कर। समत्व को ही तो बुद्धियोग कहा जाता है।** प्रकृत श्लोक से भगवान् ने अर्जुन को बुद्धियोग सापेक्ष कर्म्म करने का ही आदेश दिया है। जब तक फलाशा है, तब तक बुद्धिका आत्मा के साथ योग न हो कर मन के साथ योग है। फलाशापरित्याग से बुद्धि का आत्मा के साथ योग (अनुकूल योग) है।

इस प्रकार फलकामनापरित्याग से बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। इसी अवस्था के लिए भगवान् ने **'योगस्थः'** कहा है। इस योग की रक्षा का उपाय है-संग छोड़ते हुए कर्म्म करना। मान लीजिए अभ्यासवश फलत्यागलक्षण बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो गई। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि बुद्धियोगी की कर्म्म की ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक धर्म्म है। ऐसी स्थिति में बुद्धियोगी का यह कर्तव्य हो जाता है कि प्रयास से प्राप्त बुद्धियोग की रक्षा के लिए यह अपने कर्म्मप्रवृत्तिकाल में भी सर्वथा असंग ही रहे। यदि इसने बुद्धियोग की अपरिपक्व दशा में कभी फल के साथ संग कर लिया तो बुद्धि-योगनिष्ठा बिगड़ जाएगी। प्राप्तबुद्धियोग की रक्षा का यही उपाय बतलाने के लिए भगवान् ने, **'योगस्थः कुरुकर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय'** यह कहा है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब एक बार बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो गई तो फिर जो भी कर्म्म किए जाएँगे, उसमें फलाशा का स्वत एव अभाव रहेगा। फिर भगवान् ने योगस्थ को संगरहित बन कर कर्म्म करने का उपदेश क्यों दिया ? **'योगस्थः कर्म कुरु'** यह आदेश ही पर्याप्त था। क्यों कि योग में स्थिति ही तब उत्पन्न होती है, जब कि संग छूट जाता है। इस प्रश्न का एक तो यह समाधान हो सकता है कि, **'योगस्थः कुरु कर्म्माणि'** इस वाक्य की स्वयं भगवान् ही अपने मुख से **'संगं त्यक्त्वा धनंजय'** इत्यादि रूप से व्याख्या करते हैं। दूसरे शब्दों में उत्तर वाक्य से भगवान् पूर्व वाक्यका ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इस स्थिति में सम्पूर्ण वाक्य का, **'योगे स्थितः सन् यदा त्वं कर्म्म करिष्यसि, तदा स्वयमेव त्यक्तसंगो भविष्यसि,'** किंवा-**'योगे स्थित्वाकर्म्मकरणे मानवस्त्यक्तसंगो जायते'** इस प्रकार समन्वय करना पड़ेगा ! हे धनंजय ! संगं त्यक्त्वा, **'ततश्च 'योगस्थो भूत्वा कर्म्माणि कुरु'** यह वाक्यसंगति लगानी पड़ेगी। **'हे अर्जुन ! तू संग छोड़कर योग में प्रतिष्ठित होता हुआ कर्म्म कर।'**- इस समन्वय से पूर्व आशंका का कोई मूल्य नहीं रहता। अथवा थोड़ी देर के लिए दोनों वाक्यों को ज्यों का त्यों रखते हुए, **'तू योगस्थ बन कर संग छोड कर कर्म्म कर'** यही अर्थ कीजिए। इस पक्ष में अवश्य ही उक्त पुनरावृत्ति दोष आता है। इसका एक समाधान किया जा चुका है। यह ठीक है कि बुद्धियोग में प्रतिष्ठित होने के बाद संग नहीं रहता, फिर भी अपरिपक्व दशा में संग की आशंका बनी रहती है। बुद्धियोग प्राप्त होने के पश्चात् कहीं संग हो गया तो **'पुनस्तत्रैवालम्बितो वेतालः।'** इस लिए संगत्याग को' **'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'** इत्यादिरूप से दृढमूल बनाने के लिए ही भगवान् ने **'संगं त्यक्त्वा धनंजय'** यह कहा है। इसके अतिरिक्त एक तीसरा समाधान और है। उसी का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने **सिद्धयसिद्धयोःसमो भूत्वा** यह कहा है।

बुद्धियोगनिष्ठा से जिस अनासक्ति भाव का उदय होगा, उसके बल पर आगे होने वाले संस्कारों का भी लेप न होगा। साथ ही में संचितकर्म्मसंस्कारलेप भी हट जाएगा। परन्तु बिना भोग के प्रारब्ध कर्म्मों का क्षय किसी भी उपाय से सम्भव नहीं है। जैसा कि **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** इत्यादि में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन प्रारब्ध कर्म्मों की कृपा से इस बुद्धियोगी पर भी फलसिद्धि, फला-सिद्धिमूलक हर्ष-शोक का उदय होता रहता है। जब तक बुद्धियोगनिष्ठा प्रबल नहीं बन जाती तब तक कुछ समय के लिए बुद्धियोगी भी प्रारब्ध कर्म्मों के कारण क्षुब्ध हो सकता है। ऐसी स्थिति में भगवान् को यह कहना पड़ा है कि प्रारब्धकर्म्मवश प्राप्त होने वाले फलाफल की ओर से भी तुम्हें असंग ही रहना

चाहिए। यदि इनसे जरा भी घबरा गए तो तुम योगभ्रष्ट बन जाओगे। हम देखते हैं कि बडे बडे महात्माओं को भी कभी-कभी प्रारब्धकर्म्मवश शारीरिक कष्ट भोगना पड़ता है। परन्तु वे सर्वथा उदासीन ही रहते हैं। सुनते हैं, कर्म्मनिष्ठ स्वामी रामकृष्ण अन्तिम समय में महारुग्ण हो गए थे। उस समय उनके प्रियशिष्य स्वामी **विवेकानन्द** ने यह इच्छा प्रगट की थी कि यदि आप आज्ञा दें तो योग-द्वारा आपका कष्ट दूर करदूं। उस समय रामकृष्ण ने यही उत्तर दिया था कि नहीं, यह तो प्रारब्ध कर्म्म का फल है। इसे अभी रोक लिया जायगा तो इसी के भोग के लिए पुनः जन्म लेना रड़ेगा। सच बात तो यह है कि न हमें आगामी संस्कार विचलित करते हैं न संचित संस्कार विचलित करते हैं। क्षोभ का अनुभव तो हमें प्रारब्ध सांस्कारिक कर्म्म से ही होता है। यदि बुद्धियोगनिष्ठा ने इन्हें सहन की शक्ति प्रदान न की तो क्या किया ? बुद्धियोग का वास्तविक फल तो यही है कि प्रारब्ध कर्म्मसम्बन्धिनी सिद्धि-असिद्धि में भी एक रस रहते हुए, असंग बन कर अपने आधिकारिक कर्म्म में प्रवृत्त रहे। समता ही तो बुद्धियोग का वैलक्षण्य है। यदि समता नहीं है तो बुद्धियोग व्यर्थ है। व्यर्थ क्या है, वह योग योग ही नहीं है। समत्व ही तो बुद्धियोग कहा जाता है। बुद्धियोगनिष्ठ सतत सांसारिक कर्म्मों में लिप्त रहता है। वह विवाह करता है, उसके सन्तान होती है। वह अपनी आँखों से सन्तान की मृत्यु भी देखता है। बन्धुवर्ग को कष्ट से संत्रस्त देखता है। स्वयं पर भी रोगादि का आक्रमण होता रहताहै। हमारे ज्ञानयोगी अवश्य ही ऐसे अवसरों से विचलित होकर दूर भाग खड़े होते हैं। परन्तु एक बुद्धियोगी इन झंझावातों के रहते भी कम्पित नहीं होता। सब में लिप्त रहता हुआ भी वह एक रस रहता हुआ अपने कर्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहता है। सचमुच ऐसे योगी धन्य हैं। भगवान् कृष्ण भी तो इस प्रारब्ध कर्म्मभोग से नहीं बचे हैं। भला भगवान् के पैर में एक भील बाण मारे। परन्तु क्या हुआ ? भगवान् के जीवन पर आप दृष्टि डालिए। वे बच्चों के साथ खेले, गाएँ चराई, कंस के साथ प्रतिद्वन्द्विता की, गोपियों के साथ रासविहार किया, बच्चे बन कर सान्दीपन से विद्याअध्ययन किया, विवाह किया सन्तानें उत्पन्न कीं, दूत बने, सारथी बने, मित्र बने, शत्रु बने, सभी कुछ तो किया। परन्तु समत्वयोग का आचार्य यह महापुरुष कभी कर्तव्य-कर्म्म से विचलित होना न देखा गया। तभी तो हम सनातनधर्म्मी उसे, मनुष्य होते हुए भी अलौकिक पुरुष मान रहे हैं। योगमायावच्छिन्न होने पर भी मायीमहेश्वर मान रहे हैं। भगवान् जीवनभर जिस योग में प्रतिष्ठित रहे उसी का अर्जुन को उपदेश दिया। संसार-नौका का खेवैया वही सारथी आज उस भाग्यशाली अर्जुन का सारथी बनता हुआ बुद्धियोगरूपी पतवार से अर्जुन का शोकसमुद्र से संतरण करवा रहा है।

भगवान् का अभिप्राय यही है कि जब तक समता का उदय नहीं होता तब तक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो ही नहीं सकती। साथ ही में यह भी निश्चित है कि जब तक फलाशा का परित्याग नहीं कर दिया जाता तब तक समता का भी उदय नहीं हो सकता। **केन्द्रानु**गामिनी बुद्धि **समत्वलक्षणा** है, **प्रध्यनु**-गामिनी बुद्धि **विषमत्वलक्षणा** है। **सत्यानु**गामिनी बुद्धि सम० है, **ऋता**नुगामिनी बुद्धि विष० है। **एकत्वानु**गामिनी बुद्धि सम० है, **अनेकत्वा**नुगामिनी बुद्धि विष० है। **आत्मा**नुगामिनी बुद्धि सम० है, **मनो**ऽनुगामिनी बुद्धिविष० है। समता शान्तिलक्षणा है। विषमता अशान्तिलक्षणा है। समता में आत्मा का प्रसाद है, विषमता में आत्मा का क्षोभ है। समता में अभयभाव है, विषमता में भयभाव है। क्यों ? कैसे ? कब तक ? सुनिए !

दुःख का कारण शोक है, सुख का कारण हर्ष है। जैसा कि भूमिकाप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। शोक-हर्ष का कारण भय है। भय का कारण विषमता है। अपने स्थान से च्युत हो जाना ही भय है। किंचिच्चलन का ही नाम भय है। स्वस्थान पर स्थित रहते हुए आत्मा का हृदय यदि कम्पित हो जाता है तो तत्काल भय का उदय हो जाता है! दूसरे शब्दों में यों कहिए कि हृत्कम्प का ही नाम भय है। रागासक्ति सुखरूपा विषमता है, द्वेषशक्ति दुःखरूपा विषमता है। राग-द्वेष से आसक्ति संस्कार का मन के साथ ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। इस विजातीय संस्कार के प्रवेश से मन चञ्चल हो पड़ता है। यही मन का वक्रीभाव है, विषमता है। मन के विषम बनते ही तत् प्रतिष्ठा बुद्धि उसी प्रकार कम्पित हो जाती है, जैसे कि पानी के हिलते ही प्रतिविम्ब हिल पड़ता है। यही बुद्धि का वक्रीभाव किंवा विषमता है। आत्मसम्बन्धिनी बुद्धि सहृदया होने से सत्य है। विषमता से बुद्धि का केन्द्र विचाली हो जाता है। यही बुद्धि का क्षोभ किंवा भय है। यही अशान्ति है। **अशान्तस्य कुतः सुखम्।** बात असल में यह है कि अहृदय अशरीरतत्त्व को विज्ञानभाषा में **'ऋत'** कहा जाता है। सहृदय सशरीरतत्त्व को सत्य कहा जाता है। इन लक्षणों के अनुसार अंगिरात्रयी (अग्नि, यम, आदित्य) सत्य है, भृगुत्रयी (आप, वायु, सोम) ऋत है। बुद्धि का सौर अग्नि से सम्बन्ध है, अतएव बुद्धि सत्य है। मन का चान्द्रसोम से सम्बन्ध है, अतएव मन ऋत है। ऋत का अपना कोई प्रातिस्विक आकार नहीं होता। वह जिस वस्तु के साथ योग करता है तदाकाराकारित बन जाता है। जैसा कि **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यही कारण है कि यह ऋत मन हाथी के संस्कार को लेकर हाथी जितना बन जाता है, तिल का संस्कार ले कर तिल जितना बन जाता है। इस ऋत मन के साथ यदि (फलासक्ति की कृपा से) सत्य बुद्धि का ग्रन्थिबन्धन हो जाता है तो बुद्धि भी अपना सत्यभाव छोड़ती हुई ऋत-भाव में परिणत हो जाती है। मन का प्रज्ञाभाग ऋत है, वह जब तक सत्यबुद्धि के अधिकार में रहता है तब तक ऋतप्रज्ञा भी-सत्यभाव से पूर्ण बनती हुई सत्या बन जाती है, ऐसी स्थिर प्रज्ञा को ही **'ऋतम्भराप्रज्ञा'** कहा–जाता है। बुद्धि जब मनोऽनुगामिनी बन जाती है तो हृदयभाव से च्युत होती हुई वह खण्ड-खण्ड रूप में परिणत हो जाती है। जैसा कि, **'व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस विषमता का परिणाम यह होता है कि बुद्धि से संलग्न कर्मात्मा की स्वाभाविक स्थिरता उच्छिन्न हो जाती है। यही क्षोभमूला अशान्ति है। विषयजनित सुख भी आत्मा में उछाल पैदा कराता है। दुख भी उछाल पैदा कराता है। सम्पत्ति के आगमन से सचमुच आत्मा में उछाल का अनुभव होता है। इसी प्रकार वियोग में भी उछाल विद्यमान है। विषय की ओर हृदय का झुक जाना समृद्धानन्द है, विषय को छोड़कर हृदय का पीछे हट जाना दुःख है। ख (इन्द्रियों) का विषय शून्य बन जाना दुःख है, विषययुक्त बन जाना सुख है। एक में चढाव है, एक में उतार है। दोनों में हृदयविच्युतिलक्षण विषमता विद्यमान है। आत्मा को स्थायी शान्ति तभी मिल सकती है कि वह न इधर आवे न उधर जाय, अपितु केन्द्र में प्रतिष्ठित रहे। यही भी सम्भव है जब कि आत्मप्रतिष्ठालक्षणबुद्धि स्थिर रहे, एक रूप रहे, सत्यानुगामिनी रहे, हृदयानुगामिनी रहे। यह तभी सम्भव है जब कि बुद्धिप्रतिष्ठाभूत मन (मन की प्रज्ञा) स्थिर रहे। यह तभी सम्भव है जब कि मन विषमताप्रवर्तक सिद्धि-असिद्धिमय फलसंस्कारों से बद्ध न हो। यह तभी सम्भव है जब कि फलाशा का पूर्वप्रदर्शित

क्रमानुसार परित्याग कर दिया जाय। तभी तो योग में स्थिति होगी, तभी तो समता का उदय होगा, तभी तो भय की आत्यन्तिक निवृत्ति होगी। तभी तो शाश्वत शान्ति का उदय होगा। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते"।

हमारी आध्यात्मिक संस्था में समता का अभाव हो, यह बात तो नहीं है। पूर्वश्लोकभाष्य में यह बताया जा चुका है कि अध्यात्मसंस्था में जहाँ कितने एक कर्म्म मन की इच्छा से सम्बन्ध रखते हुए आसक्ति के कारण बनते हैं, वहाँ कितने एक कर्म्म आत्मकामना से सम्बन्ध रखते हुए सर्वथा अबन्धन रहते हैं। इस प्रकार इस संस्था में दोनों की प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है। इनमें आत्मकामनासम्बन्धी जितने भी कर्म्म हैं, सब समतामूलक हैं। सच पूछिए तो इन्हीं कर्म्मों से हम कुछ दिन जी भी लेते हैं। सोते समय हम शरीरयष्टि को किसी एक स्थिति में रखते हैं। नींद आ जाती है। इन्द्रियप्राणों को अपने गर्भ में लीन कर स्वयं मन भी संस्कारों को समेटता हुआ बुद्धि के साथ जब पुरीतति नाडी में चला जाता है, तभी सुषुप्ति का उदय होता है। इस समय फलकामना रखने वाली इन्द्रियसाधनाधीना मन की इच्छा का नितान्त अभाव है। परन्तु हम देखते हैं कि घोरनिद्रा में निमग्न मनुष्य भी श्वास प्रश्वास लिया करता है। श्वास प्रश्वास कर्म्म है। कर्म्म बिना कामना के सम्भव नहीं है। इसीलिए मानना पड़ता है कि इस अवस्था में नित्य जागृत-आत्मकामना की कृपा से ही उक्त कर्म्म हो रहा है। इसी आत्मज्ञान के आधार पर सोते उठने पर 'सुखमहमस्वाप्सी:' (आज बडे आराम से सोए) यह अक्षर मुँह से निकलते हैं। आत्मकामना से सम्बन्ध रखने वाला यह श्वास प्रश्वास कर्म्मबन्धन की कौन कहे, उलटा शान्ति का कारण-बनता है। उस समय की कामना विशुद्ध आत्मकामना है। अतएव इसका स्वतन्त्र कर्म्म तृप्ति का ही कारण बनता है। ठीक इसके विपरीत जाग्रदवस्था में मन की इच्छा के समावेश से वही कर्म्म अशान्ति का कारण बन जाता है। जब अशान्ति पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, मन थक जाता है, शरीरयष्टि गिरने लगती है तो आत्मदेवता इसे अपने अंचल में लेकर उक्त निष्काम कर्म्म द्वारा बल प्रदान कर देता है। यदि आत्मा का यह अनुग्रह न हो तो थोड़े ही समय में शरीर का निधन हो जाय।

और देखिए। सुषुप्ति में हम करवट बदलते रहते हैं। एक करवट थक जाती है, दूसरी बदल जाती है। कभी लम्बे पैर सिकुड़ जाते हैं, कभी सिकुड़े पैर लम्बे हो जाते हैं। कभी मुँह उघाड़ लेते हैं कभी ढक लेते हैं। यह सब कर्म्म अपने आप आत्मकामना से होते रहते हैं। जो-जो विषमताएँ आती हैं आत्मकामना उन-उन विषमताओं को दूर करता हुआ समता किया करता है। हमें खबर नहीं, सब कुछ अपने आप हो जाता है। सुषुप्ति में ही क्यों, जाग्रदवस्था को ही लीजिए। एक आसन के थक जाने पर अपने आप दूसरा आसन हो जाता है। गरमी लगती है, पंखी पर हाथ चला जाता है। प्यास लगती है पानी पर दृष्टि चली जाती है। थक जाते हैं, विश्रामेच्छा का उदय हो जाता है। कहीं कण्डू (खाज) चलती है, हाथ फौरन उस स्थान पर पहुँच जाता है। मन को सोचने का अवसर पीछे मिलता है, आत्मदेवता समता के लिए पहले दौड़ पड़ते हैं। यह तो हुई अन्तःकरण की समता। अब धातुओं की समता

का विचार कीजिए। आग, पानी, हवा, मिट्टी, आकाश की समष्टि शरीर हैं। पाँचों विरोधी हैं; परन्तु पाँचों उसी आत्मकामना से समता के प्रवर्तक बनते हुए शरीररक्षा के कारण बन रहे हैं। सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र इसी समत्वयोग का उपदेश देता है। वात, पित्त, कफ की समता ही जीवन का मूल कारण है। आहार-विहार के अतियोग-अयोग मिथ्या योगों से समता उखड़ जाती है और विषमता आ जाती है। इस के योगात्मक समत्वयोगमूलक युक्ताहारविहार ही अपेक्षित है। इसी लिए भगवान् आगे जाकर कहने वाले हैं कि जो अधिक खाता है, वह भी योग का अधिकारी नहीं है। हित-मित योग से ही समत्वयोग है। काय, वाक्, मन तीनों जब तक हित-मित भाव से युक्त, रहते हैं, तभी तक अध्यात्म संस्था में शान्ति रहती है।

एक पानी ठण्डा है, एक पानी अत्यन्त उष्ण है। दोनों ही सीमा से अधिक गरम-ठण्डे हैं। अतएव दोनों विषम हैं। दोनों को मिला दीजिए। गरम पानी की गरमी ठण्डे पानी के शैत्य को शान्त कर देगी। ठण्डे पानी का शैत्य गरम पानी की गर्मी शान्त कर देगा। दोनों की उग्रता जाती रहेगी। जो पानी हाथ से छूए नहीं जाते थे वे ही मृदुस्पर्शधर्म्मा बन जाएँगे। इसी का तो नाम समत्वयोग है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र त्रैलोक्य को डुबो देना चाहता है, उधर सहस्रांशु सूर्य्य संसार को भस्मसात् कर डालना चाहता है। परन्तु समत्वयोगाधिष्ठाता प्रजापति (ईश्वर) ने पारमेष्ट्य समुद्र की गहराई में उस अग्निमय सूर्य्य को प्रतिष्ठित कर दोनों की समता कर रक्खी है। पानी के शैत्यगुण को लेकर सौर अग्नि शान्त हो रहा है, सौर-रश्मियों के अपानत्-प्राणता व्यापार से त्रैलोक्य जलप्लवन से बचा हुआ है। गरमी आती है। गरमी जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो वर्षा का आगमन होता है। वर्षा के बाद शीत, शीत के अनन्तर गरमी फिर चौमासा यह समत्वयोगक्रम निरन्तर चलता रहता है। पत्तों का काँट-छाँट देखिए, फलों का सुडौल भाव देखिए, मेघों का गर्ज्जन सुनिए, मलयपवन का गन्ध सूँघिए। प्राकृतिक शोभा निहारिए। उस विशाल तारामय नभोमण्डल पर दृष्टि डालिए। पृथिवी का नियत परिभ्रमण देखिए। आपको बिन्दु-बिन्दु पर समत्व योग के दर्शन होंगे। ऐसा प्रतीत होगा, मानों ईश्वरप्रजापति समत्वयोगात्मक बुद्धियोग का बाना पहिन कर हमारे सामने खड़ा है। समत्वयोग के प्रभाव से ही तो वह विश्वकर्ता अकर्ता कहला रहा है। सूर्य्य को देखिए न। वह एक वेदनिष्ठब्राह्मण पर भी अपना प्रकाश डालता है, उधर एक चाण्डाल पर भी उसका समान अनुग्रह है। जो सूर्य्य उत्तम भोज्यपदार्थों पर विभूतिसम्बन्ध से व्याप्त है, वही विष्ठा का भी अनुग्राहक बन रहा है। चमत्कार तो यह है कि समत्वयोग के प्रभाव से विष्ठा के दोष का तो सूर्य्य पर तो कोई प्रभाव नहीं होता, अपितु विष्ठा का दोष हट जाता है। इसी आधार पर गीता का, **'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। एक स्त्री कूप पर पानी भरने जाती है। दो घट ऊपर नीचे करके मस्तक पर रख लेती है। उस पर दृष्टि डालिए। आप देखेंगे, बिना हाथ का सहारा लगाए दोनों हाथ को हिलाते हुए, साथ ही में अपने सहेलियों से हास्य विनोद करती हुई बडी शान्ति से चली आ रही हैं। घट में जरा भी तो कम्प नहीं है। कारण, वही समत्व योग। घट भार इस समय समतुलित बनता हुआ हृदयरूप अभय पर प्रतिष्ठित है। बेलेन्स सधा हुआ है। जब साइकल का बेलेन्स ठीक हो जाता है तो केन्द्र पकड़ में आ जाता है। पतन का भय जाता रहता है। समत्वयोग सिद्ध हो जाता है। ऐसा व्यक्ति दोनों हाथ छोड़ कर भी निर्भय सायकल दौड़ा ले जाता है। जिस योग से बेलेन्स

ठीक हो जाता है, भार समतुलित हो जाता है, वही तो समत्वयोग है। समीक्रिया ही शान्ति है। शान्ति ही आत्मा का प्रसाद है।

इस प्रकार अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत–तीनों संस्थाओं में आप समत्त्वयोग का अनुभव कर रहे हैं। यह समत्त्व तीनों का प्रातिस्विक धर्म्म है। जो मनुष्य अपने प्रज्ञापराध से विषयो में आसक्त होकर प्रज्ञा में विषमता उत्पन्न कर लेता है, उसकी समता बिगड़जाती है। विषमता ही कार्य-हानि की मूलप्रवर्त्तिका है। जो मनुष्य समता नहीं रखता, नहीं रख सकता, उस क्षिप्रकारी का सम्पूर्ण वैभव नष्ट हो जाता है। आपको यह सुनकर आश्चर्य करना पड़ेगा कि समत्त्वयोगलक्षण इस कर्म्मभूमि भारतवर्ष के हृत्पटल पर आज तक भी उस समत्त्वयोग की छाप लगी हुई है। जब कोई व्यक्ति कर्म्म में क्षोभ प्रकट करता है, जल्दबाजी करता है तो उस समय आप्त पुरुष कहा करते हैं–**"अरे भाई समता तो रख, उतावला क्यों बनता है?"** इसी प्रकार जब मनुष्य शोक से व्याकुल हो जाता है तो उस समय उसे भी–**"समता रक्खो भाई, यों कैसे कब तक काम चलेगा।"** जयपुरीय भाषा का–**"समता राखो, सब चोखो होलो।"** यह वाक्य आज भी हमें भगवान् के उस समत्त्वयोग की याद दिलाता है। बस प्रकृत श्लोक इसी समत्त्वयोग–रहस्य का स्पष्टीकरण करता है।

॥२॥

३–"दूरेण ह्यवरं कर्म्म०"

निष्कामकर्म्मवादी भगवान् की दृष्टि में सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग का तो कोई महत्त्व है ही नहीं, परन्तु साथ ही में प्रवृत्तिमूलक, अतएव आसक्तिजनक कामनामय कर्म्मयोग का भी कोई महत्त्व नहीं है। भगवान् की दृष्टि में बुद्धियोग ही सर्वश्रेष्ठ है। बुद्धियोग की इसी श्रेष्ठता का, साथ ही में बुद्धियोगप्राप्ति का उपाय बतलाने वाला एवं बुद्धियोगशून्य कर्म्मवादियों की निन्दा करता हुआ ही प्रकृत आदेश हमारे सामने आता है। हमारे सारग्राही पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि प्रकृत प्रकरण का **"योग"** शब्द **"बुद्धियोग"** का ही वाचक है। एवं वह योग निष्कामकर्म्मलक्षण है। साथ ही में उन्हें इस विषय में भी कोई सन्देह न रहा होगा कि–**"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०"** इत्यादि में फलाशा त्यागलक्षण जिस **१–"कर्म्म"** का भगवान् ने आदेश दिया है, **"योगस्थःकुरुकर्म्माणि"** इत्यादि से जिस **२–"योग"** का उल्लेख किया है, **"दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय"** इत्यादि से जिस **३–"बुद्धियोग"** को श्रेष्ठ बतलाया है, एवं **"बुद्धियुक्तो जहातीह"** इत्यादि में जिस **४–"योग"** को सुकृत–दुष्कृत से अतीत बतलाया है, वह **कर्म्म, योग, बुद्धियोग, योग** चारों एक ही वस्तु हैं। निष्काम कर्म्म ही योग है, यही बुद्धियोग है। **"बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः"** इस वाक्य से तो भगवान् ने यह सर्वथा ही स्पष्ट कर दिया है कि फलाशा रख कर जो कर्म्म किया जाता है, वह बुद्धिशून्य बनता हुआ पतन का कारण है। बुद्धि की शरण में जाकर बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करते हुए फलाशात्यागपूर्वक जो कर्म्म किया जाता है, वही अबन्धन है। इस प्रकार प्रकृत प्रकरण का बुद्धियोगशब्द बिना किसी द्रविड़ प्राणायाम के, बिना खैंचातानी के बडे ही ऋजुमार्ग से निष्काम कर्म्म का सूचक बन रहा है। परन्तु हमारे व्याख्याताओं को इससे सन्तोष नहीं होता। कभी तो वे यह कहते हैं कि शोकाकुल अर्जुन

कर्म्मत्यागलक्षरण सन्यास का अधिकारी नहीं है, इसलिए भगवान् अनुग्रह कर–**"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** इस दूसरे निष्कामकर्म्मयोग का उपदेश देते हैं। परन्तु **"दूरेण ह्यवरं कर्म्म"** यहाँ आकर वे फिर बहक जाते हैं। यहाँ के बुद्धियोग का अर्थ पुनः वे काल्पनिक कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग ही मानने लगते हैं। देखिए, व्याख्याता प्रकृत श्लोक की किस प्रकार संगति लगाते हैं ? "फल की अपेक्षा न रखते हुए मोक्ष की इच्छा से ही समबुद्धि द्वारा नित्य नैमित्तिकर्म्म करते हुए जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो फिर कर्म्म इनके फल, फलों के भोग ये सब तुच्छ बन जाते हैं। उस अवस्था में निकृष्टफलप्रदान करने वाले कर्म्म में सर्वथा उपेक्षा कर ज्ञानयोग का ही आदर करना चाहिए, **"दूरेण ह्यवरं०"** इत्यादि से भगवान् यही सूचित करते हैं।

मोक्षहेतुभूत बुद्धियोग नामक ज्ञानयोग की अपेक्षा बहुसाधनसाध्य, क्लेशजनक होने से असाङ्ग फलवैगुण्य से साङ्ग, जन्मादि दुःखों का बीज होने से सर्वथा हेय, प्रत्यवाय उत्पन्न करने के कारण पतन का कारण, अतएव सर्वथा निकृष्ट कर्म्मयोग में कभी आस्था नहीं रखनी चाहिए। श्लोकस्थ **"हि"** शब्द वेदोक्त कर्म्म की निकृष्टता ही बतला रहा है। कदाचित् कहो कि यदि कर्म्मयोग सर्वथा निकृष्ट ही है तो फिर बहुत से मनुष्य क्यों कर्म्मयोग में प्रवृत्त होते हैं ? **"कृपणाः फलहेतवः"** से भगवान् ने इसी प्रश्न का समाधान किया है। कर्म्मजन्य स्वर्गरूप फल एवं ऐहिक भोगादि सुख की इच्छा रखने वाले कर्म्मफल प्रार्थी कामी ही कृपण हैं, ये अधम हैं, नीच हैं। इसलिए हे धनंजय ! सांख्यबुद्धिलक्षण चित्त प्रसाद से प्राप्त ज्ञानयोग में ही अपने मन को प्रतिष्ठित कर। उक्त कथन से भगवान् यही सूचित कर रहे हैं कि जब तक चित्तप्रसाद न हो तभी तक मुमुक्षु कर्म्म में प्रवृत्त रहे, अनन्तर ज्ञानयोग में ही प्रतिष्ठित हो जाय। ऐसी अवस्था में–**"एतद्वै जरामरान्तं यदग्निहोत्रं, जरया वा जीर्यते, मृत्युना वा शीर्य्यते"** इत्यादि वेदवचन मन्दबुद्धियों के सम्बन्ध में ही चरितार्थ समझना चाहिए। (शंकरानन्दी)।

सचमुच ये व्याख्याता दया के पात्र हैं। हम तो भगवान् से यही प्रार्थना करेंगे कि भगवान् अनुग्रह कर थोड़ा सा बुद्धियोग आप इन्हें भी क्यों नहीं दे देते, जिससे ये कृपण भी आपके बुद्धियोगशास्त्र का वास्तविकमर्म्म समझते हुए अपना उद्धार करलें। हम कह चुके हैं कि प्रकृत स्थल का बुद्धियोगशब्द विशुद्ध निष्काम कर्म्म का वाचक है। जो अर्थ–**"योगस्थः"** के योग का है, वही अर्थ **"बुद्धियोग"** का है। आगे श्लोक में भगवान् इसी बुद्धियोग के लिए **"योग"** शब्द प्रयुक्त करने वाले हैं। वहाँ भी व्याख्याताओं ने योग का ज्ञानयोग करते हुए कर्म्मत्याग का ही यशोगान किया है। ऐसी अवस्था में तो **"योगस्थः कुरुकर्म्माणि"** इस आदेश का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य ही नहीं रहता। क्यों कि उनके मतानुसार जब आत्मा योग (ज्ञानयोग) में प्रतिष्ठित होता हुआ ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेता है तो उस समय वह मुक्त हो जाता है। उनके मतानुसार ज्ञानयोगी ही तो **"योगस्थ"** कहा जा सकता है। ज्ञानयोगी मुमुक्षु नहीं है, मुक्त है। फिर उसके लिए कर्म्मविधान कैसा ? अपने इसी सिद्धान्त का अपने ही मुंह से व्याघात करते हुए इन ज्ञानाभिमानियों ने "योगस्थः" का–**"योगस्थो मोक्षैककामःसन् संगं त्यक्त्वा विहितानि क्लेशात्मकान्यपि बुद्धया कुरु-इत्यर्थः"** यह अर्थ किया है। क्या यह वदतोव्याघात नहीं है। यदि उनके कथानानुसार **"बुद्धियोगाद्धनंजय"** वाला बुद्धियोगशब्द **'योगः कर्म्मसु कौशलम्"** का **"योग"** शब्द विशुद्ध ज्ञानयोग का वाचक है तो **"एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपकारको भवति"**

इस न्याय के अनुसार "योगस्थः कुरु कर्म्माणि" का योग शब्द भी ज्ञानयोग का ही वाचक माना जायगा। उधर ज्ञानयोगी इन सांख्यों की दृष्टि में मुक्त है। वह कर्म्म की कामना ही कैसे कर सकता है ? फिर उसके लिए "मोक्षैककामःसन्" यह कैसे कहा ? एक स्थान पर योगस्थः का मोक्षैककामः, अर्थ करते हुए कर्म्म में प्रवृत्ति बतलाना दूसरे स्थानों में योगसिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् कर्म्मत्याग बतलाना, यह सभी अनर्थपरम्परा है। इनका समाधान उन्हीं से पूछना चाहिए। हम तो इस सम्बन्ध में भवभूति की "**वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता तिष्ठन्तु हुं वर्त्ततम्**" इस सूक्ति के अतिरिक्त और उत्तर देने में असमर्थ ही हैं।

वस्तुतस्तु प्रकृत श्लोक का सीधा-साधा यही तात्पर्य्य है कि बुद्धियोगसापेक्ष नित्य नैमित्तिक निष्काम कर्म्म की अपेक्षा बुद्धियोगनिरपेक्ष काम्यकर्म्म आत्यन्तिक रूप से (सर्वथा) निकृष्ट है। काम्य-कर्म्म का फलाशा से सम्बन्ध बतलाया गया है। कर्म्मफल भौतिक है। भूतप्रपञ्च क्षरप्रधान बनता हुआ मृत्युप्रधान है। अव्यक्त अक्षर से परे रहने वाला अव्यय पुरुष "**पर**" कहलाता है। अव्यक्त अक्षर से नीची कोटि में रहने वाला भूतयोनि व्यक्तक्षर "**अपर**" कहलाता है। मध्यस्थ अक्षर अपरक्षर की दृष्टि से पर, एवं पर अव्यय की दृष्टि से अवर बनता हुआ "**परावर**" कहलाता है। क्षर का सम्बन्ध मन से है, अक्षर का सम्बन्ध बुद्धि से है। कारण इसका यही है कि पञ्चपुण्डीरात्मक विश्व के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। सूर्य्य से ऊपर अमृतप्रधान पर अव्यय का साम्राज्य है। सूर्य्य से नीचे मृत्युप्रधान अपरक्षर का साम्राज्य है-"**तस्माद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्।**" परन्तु मध्यस्थ सूर्य्य में अमृत-मृत्यु दोनों का साम्राज्य है-"**निवेशयन्नमृतं मर्त्यंच**"। अमृतज्ञान है, मृत्यु कर्म्म है। दोनों का समन्वितरूप सूर्य्य है। यही सूर्य्य अंशात्मना अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होकर बुद्धि बना हुआ है। बुद्धि साक्षात् अक्षर है। शरीरसंपरिष्वक्त मन साक्षात् क्षर है। यदि बुद्धिरूप अक्षर क्षररूप मन का अनुगामी बन जाता है तो मृत्युप्रधान क्षर की आसक्ति के प्रभाव से वह फलमुख बनता हुआ मृत्युपाश से युक्त हो जाता है। यही काम्यकर्म्म का बन्धनभाव है। यदि बुद्धि मनको वश में कर फलाशात्याग-पूर्वक कर्म्म करती है तो अमृतमृत्यु के समत्वलक्षणयोग के प्रभाव से कर्म्मफल का लेप भी नहीं होता, साथ ही में लोकसंग्रह भी नहीं बिगड़ता। इस प्रकार परावरा बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाला बुद्धियोग (निष्काम कर्म्मयोग) हृद्ग्रन्थि का, कर्म्म (लेप) का विनाशक बनता हुआ सचमुच उस क्षरप्रधान अतएव सर्वथा अवर काम्यकर्म्म की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठकोटि की वस्तु बन जाता है। देखिए—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥[1]

ऐसी बुद्धि से कर्म्म-मार्ग में सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी यह योगी-"**ययाऽचिरात् सर्वपापंव्यपोह्य परात्परं पुरुषमुपैति विद्वान्**" इस सिद्धान्त के अनुसार उस पर अव्यय पुरुष को प्राप्त होता हुआ विदेहमुक्त बन जाता है। इस प्रकार "**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०**" इत्यादि से भगवान् ने जिस बुद्धियोग का तटस्थबुद्धि से उपदेश दिया था, "**योगस्थः कुरुकर्म्माणि**" इत्यादि से बडे अभिनिवेश के साथ जिस बुद्धियोग-प्रवृत्ति का आदेश दिया था, आज भगवान् उसी बुद्धियोग की कर्म्मयोगापेक्षया सर्वश्रेष्ठता बतलाते हुए कहते हैं—

१ मुण्ड०उप० २।२।८ ।

"दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय" । (गीता २।४६)

फलमुख काम्यकर्म्म आत्यन्तिक अवर कोटि में आता हुआ सर्वथा निष्कृष्ट है । इसकी अपेक्षा बुद्धियोग सर्वज्येष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ है । अच्छा ऐसा ही सही । हम क्या करें ? संसार में एक से एक बहुमूल्य पदार्थ विद्यमान हैं । परन्तु उनसे हमारा क्या प्रयोजन ? हमें तो अपने उसी कर्म्म से काम है, जो हमारी आवश्यकताएँ पूरी किया करता है । अच्छी वस्तु इच्छामात्र से ही तो नहीं मिल जाती । हम तो चाहते है कि बादशाह हो जाएँ, परन्तु हमारी इच्छा से क्या होगा ? बुद्धियोग श्रेष्ठ है तो रहा करे । हम उसे प्राप्त करने की व्यर्थ की लालसा क्यों करें ? भगवान् हमें इसी निराशा से बचाते हुए कहते हैं कि भूलते हो ! बुद्धियोग ऐसी अलभ्य वस्तु नहीं है जो तुम्हें मिल ही न सके । **"ददामि बुद्धियोगं तम्"** । बुद्धि तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति है । बुद्धियोग तुम्हारे आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है । बात केवल इतनी सी है कि तुमने अपने कर्म्मात्मा को भी मन के शरण में डाल रक्खा है, बुद्धि को भी मन की अनुगामिनी बना रक्खा है । इस स्थिति को बदल दो । मन को भी बुद्धि के शरण में ले जाओ, कर्म्मात्मा को भी बुद्धि का अनुगामी बना दो, फिर कर्म्म करो । यही तो बुद्धियोग है । मन विविध धर्म्मों से आक्रान्त रहता है । फलरूप अनेक धर्म्म से तुम्हारी बुद्धि अनेकचित्तविभ्रान्ता बनती हुई मोहसमाकुला बनकर अपने व्यवसायधर्म्म से च्युत होती हुई अपने वास्तविक बुद्धियोगलक्षण एक रसात्मकस्वरूप धर्म्म को भूल रही है । विविध धर्म्मों ने बुद्धि का एकत्त्व बिगाड़ रक्खा है । तुम्हें चाहिए कि बुद्धि की शरण में जाते हुए तुम एक बुद्धि के रंग से उन विविध धर्म्मों को रंग कर उन्हें भी सम बना डालो । यही तो सच्ची शरणागति है । फिर डरने की क्या बात है ?

"सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।" (गीता १८।६६)

तुम कृपण मत बनो । अपनी स्थिति को शोचनीय किंवा दयनीय मत बनाओ । मन में यह कचाई न लाओ कि अरे ! हमें बुद्धियोग कैसे मिलेगा ? हमारे जैसा साधारण मनुष्य कैसे उस अलभ्य लाभ का अधिकारी बनेगा ? यह दयनीया वृत्ति, यह आत्मपरिताप तो उन्हें होता है–जो सदा फल पर दृष्टि रखते हुए अपने कर्म्म को निर्बल बनाते हुए विभूति से वञ्चित रहते हैं । फलाशी अवश्य ही कृपण है, दयनीय है, शोचनीय है । जो फलसिद्धि, असिद्धि की कोई पर्वाह न करता हुआ बुद्धि का आश्रय लेकर (सोच समझकर) अनन्यभाव से कर्म्मनिष्ठ बना रहता है, त्रैलोक्य की सम्पत्ति अपने आप उसको शरण में पड़ी रहती हैं । याद रक्खो ! तुम जितना अधिक सम्पत्ति के पीछे पड़ोगे, वह तुम से उतनी ही अधिक दूर भागेगी । कारण, सम्पत्ति के पीछे पड़ने से सम्पत्ति नहीं मिलती, किन्तु कर्म्म के पीछे पड़ने से सम्पत्ति मिलती है । सम्पत्ति क्या मिलती है, सर्वसम्पत्ति का मूलस्रोत आत्मानन्द मिलता है । दो-दो करने से कोई नहीं देता । कर्म्मबल बलात्कार से छीन लेता है । जब तक तुम्हारा मन फल की शरण में है, तभी तक तुम कृपण हो । जिस दिन मन बुद्धि की शरण में चला जायगा, तत्काल निष्काम कर्म्म का उदय हो जायगा, आत्मसम्पत्ति का विकास हो जायगा, सारी कृपणता उच्छिन्न हो जायगी ।

कृपरा का अर्थ बतलाती हुई श्रुति कहती है–**"यो वा एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः"** । श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि जो मनुष्य अक्षर का स्वरूप नहीं पहिचानता, दूसरे शब्दों में अक्षर का आश्रय नहीं लेता, वही कृपण है । पूर्व में बतलाया गया है कि बुद्धि ही परावरात्मक अक्षर है । यह अक्षररूपा बुद्धि ही आत्मविकास की अधिष्ठात्री है । जब तक क्षर भौतिकफलों पर दृष्टि रहती है, तब तक बुद्धिरूप अक्षर का बोध नहीं होता । फलतः तब तक कृपणता बनी रहती है । जब अक्षरात्मिका बुद्धि का बोध हो जाता है तो आत्मविकास द्वारा कृपणता का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है ।

सचमुच भगवान् ने फलकामुक के लिए "कृपरा" शब्द का प्रयोग करते हुए सारी स्थिति स्पष्ट कर दी है । जिसे लोकभाषा में **"कञ्जूस"** कहा जाता हैं, उसे ही संस्कृत-साहित्य में कृपण कहा जाता है । यह स्वयं किसी पर कृपा नहीं करता, किन्तु सदा दूसरों की कृपा की अभिलाषा किया करता है । "कृप्यते-कृपाविषयीक्रियते" के अनुसार सामर्थ्यार्थिक **"कृपू"** धातु से क्युन् अथवा ल्युट् होने से कृपण शब्द निष्पन्न होता है । कृपण मनुष्य के पास पर्य्याप्त सम्पत्ति रहती है । परन्तु फिर भी अहोरात्र हाय धन, हाय धन ही किया करता है । इसकी तृष्णा कभी शान्त होती ही नहीं । ऐसे ही कृपण को **लुब्ध-लोलुप-लोलुभ** आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता हैं । रहती हुई सम्पत्ति के भी वह क्षुद्राशय दुःख पाता रहता है । न अच्छा खाता, न अच्छा पहिरता । न सत्कर्म्मों में कभी एक कपर्दिका खर्च करता । यदि दान भी देता है तो वहाँ पहिले फलाशा रखता है । यशद्वारा उपायान्तर से जहाँ सम्पत्ति लाभ प्रतीत होता है, वहीं यह परवञ्चक दानी बनते हैं । लाखों का दान देते हैं, परन्तु अन्तरंग में करोड़ों का लाभ निश्चित कर लेते हैं । ऐसे कृपणों के लिए लोक भाषा में–**"पूंजी रखकर दिवाला निकालने वाले"** यह सम्बोधन किया जाता है । सब कुछ है फिर भी कदर्य है, क्षुद्र है, किंपचान है, मितंपच है । सतृष्ट है । दुर्विध है, दीन है, दरिद्र है, दुर्गत है, अतएव दयनीय एवं शोचनीय है । ये सब कृपणवृत्तियाँ फलाशा रखकर कर्म्म करने वाले पर अक्षरशः चरितार्थ होती हैं । इसके आत्मा में त्रैलोक्य की विभूति विद्यमान है । परन्तु फिर भी यह फललिप्सु सांसारिक फलों को ओर अनुधावन करता रहता है । भला इससे अधिक कृपण और कौन होगा ? रहती आत्मसम्पत्ति के दरिद्री ही तो कृपण है । तभी यह शोचनीय है, दयनीय है । जिस दिन बुद्धि का आश्रय ले लिया जाता है, आत्म-सम्पत्ति का उदय हो जाता है । भगवान् कहते हैं–तुम यदि कृपणवृत्ति से पीछा छुडाना चाहते हो तो फलाशा का परित्याग करो । इसके लिए बुद्धि से काम लो, बुद्धिपूर्वक कर्म्म करो । कर्म्मप्रवृत्ति में से मन की प्रधानता हटाओ, बुद्धि को प्रधान बनाओ । इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः" । (गीता २।४६)

॥ ३ ॥

४-"बुद्धियुक्तो जहातीह०"

प्रथम श्लोक से बुद्धियोग का स्वरूप बतलाया, द्वितीय श्लोक से बुद्धियोग का उपदेश दिया, तृतीय श्लोक से बुद्धियोगप्राप्ति का उपाय बतलाया । अब केवल एक प्रश्न बच जाता है । वह यही

कि बुद्धियोगकर्म्म में यद्यपि फलाशा नहीं है, फिर भी कर्म्म अपनी प्रातिस्विक मर्य्यादा के अनुसार कभी निष्फल नहीं जाता। ऐसी स्थिति में हम जिज्ञासा कर सकते हैं कि बुद्धियोगलक्षण इस निष्काम कर्म्म का क्या फल है? यदि स्वर्गादिपारलौकिक सुख एवं भोजनपानादि ऐहलौकिक सुख ही इस बुद्धियोग का फल है तब तो कर्म्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग में कोई विशेषता नहीं है। यदि और कुछ विशिष्ट फल है तो वह विजिज्ञास्य है। बस प्रकृत चतुर्थ श्लोक इसी जिज्ञासा को शान्त करता है। हम फलप्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए जो शास्त्रसिद्ध आधिकारिककर्म्म करते हैं, उनसे ऐहलौकिक-पारलौकिक सुख तो अवश्य मिलता है, परन्तु यह सुख अभ्युदय के साथ-साथ दुःखमूलक प्रत्यवाय से भी संश्लिष्ट रहता है, जैसाकि **"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। फलतः फलासक्तिमूलक कर्म्म से प्राप्त सुख दुःखसभिन्न होता हुआ शाश्वत शान्ति का कारण नहीं बनता, पहिला दोष। फलकामना से महादुःखद जन्मकर्म्मफलरूप चक्र का परिवर्त्तन-दूसरा दोष। हर्ष-शोकावसरों पर आत्मा की शाश्वत शान्ति का भंग-तीसरा दोष। फलकाम से उत्पन्न राग-द्वेषजनित क्षोभमूला अशान्ति-चौथा दोष। फलदृष्टिमय कर्म्म की अपूर्णता से सम्बन्ध रखने वाली फल की अपूर्णता-पाँचवां दोष। फल कृपा से वैयक्तिक स्वार्थोदय द्वारा लोकसंग्रहमंगलक्षरण-छठा दोष। मानवसुलभ असावधानी से कभी कर्म्म में त्रुटि हो गई तो अनिष्टाक्रमणलक्षण-सातवां दोष। कहाँ तक गिनावें। इस फलाशामार्ग में अथ से इति तक दोष ही दोष भरे पडे हैं। उधर हमारी बुद्धियोगनिष्ठा में दोष का स्पर्श भी नहीं है। कर्म्म व्यर्थ नहीं जाता इसलिए तो ऐहलौकिक-पारलौकिक अभ्युदय होगा, आसक्ति नहीं है, इसलिए प्रत्यवाय का सम्बन्ध नहीं। निष्कामना से आत्मशान्ति का पूर्ण उदय है। संचित सुकृत-दुष्कृत कर्म्मों का (कर्म्मरूप संस्कारों का) क्षय है। आगामी सुकृत-दुष्कृत संस्कारों का विरोध है। प्रारब्ध-सुकृत-दुष्कृत संस्कारों में हर्ष-शोकजनित रहता हुआ भी क्षोभ हमें क्षुब्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार फलाशा से जो नहीं मिल सकता था, वह आत्मानन्द भी यहाँ मिला, फलाशा जिस सुकृत-दुष्कृत को छुड़ाने में समर्थ थी, वे भी यहाँ छूट गए। फलाशा जिन अभ्युदय फलों की जननी थी, वे भी यहाँ मिल गए। फलाशा में जो बन्धन होता था, वह यहाँ रहा नहीं। कैसा उत्तम मार्ग! अर्जुन! इसलिए तो मैं तुझे बार-बार आग्रह करता हूँ कि तू इस योग के लिए (समत्त्वयोगलक्षण बुद्धियोग के लिए) बुद्धि के साथ मन का योग करदे। सचमुच यह योग सम्पूर्ण कर्म्मों में एक खूबी की चीज है।

"योगः कर्म्मसु कौशलम्" इस वाक्य का अनेक प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। पहिले व्युत्पत्तिशास्त्र (व्याकरण) की दृष्टि से विचार कीजिए। **कुशल** शब्द से ही **कौशल** का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। कुपूर्वक चलन-संवरणार्थक **शल** (शल चलने संवरणे च भ्वा० आ० से) से **अच्** (पचाद्यच्) प्रत्यय होने पर **"कुशलम्"** शब्द निष्पन्न हुआ है। जो कर्म्म कुत्सित भाव का संवरण कर लेता है, कुत्सित वृत्ति को विचाली बना डालता है, वही कुशल है। कुत्सित वृत्ति के निकल जाने से आत्मा स्वस्थ दशा में आ जाता है, अतएव लोकभाषा में क्षेमभाव के सम्बन्ध में-**"कहिए कुशल तो है?"** इस वाक्य का प्रयोग होता है। अथवा **"कुः पापेषदर्थयोः"** के अनुसार कु शब्द पाप एवं अल्पता का सूचक है। जो व्यापार पाप से एवं अल्पता से बुद्धिवैभवद्वारा हमें दूर कर देता है, वही-**"कोः पापात् शलति बुद्धिवैभवात्"** के अनुसार कुशल व्यापार है। **"पर्य्याप्तिक्षेमपुण्येषु कुशलं शिक्षिते त्रिषु"** इत्यादि कोश

प्रामाण्य के अनुसार **पर्य्याप्तभाव, क्षेम, पुण्य, शिक्षित** (विद्वान्) चारों के लिए कुशल शब्द प्रयुक्त होता है। इनमें अमरकार के मतानुसार तो चारों ही भावों के सूचक कुशल शब्द तीनों लिङ्गों से सम्बन्ध रखता है, परन्तु विश्वकोशकार एवं मेदिनीकार के मतानुसार "**कुशलः शिक्षिते त्रिषु,-क्षेमे सुकृते चापि पर्य्याप्ते च नपुंसकम्**" के अनुसार शिक्षितभाव का समर्थक कुशल शब्द तो तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता होता है, शेष तीनों के लिए "**कुशलम्**" का ही प्रयोग होता है। प्रकृत का कुशल शब्द क्षेम, पर्य्याप्ति, सुकृत-तीनों भावों का सूचक है। कर्म्म अवश्य ही फल का प्रवर्त्तक है। फल अच्छा भी होता है, बुरा भी होता है। आसक्तकर्म्म के अच्छे फल में भी प्रत्यवायरूप बुराफल रहता है। अतः काम्यकर्म्म फल को कभी सुकृत नहीं कहा जा सकता। साथ ही में उसमें शान्तिलक्षण क्षेम का भी अभाव है, पूर्णतालक्षण तृप्ति का भी अभाव है। इस प्रकार तीनों भावों से वञ्चित काम्यकर्म्ममात्र कुशलता से वञ्चित है। परन्तु बुद्धियोग एक अद्भुत योग है। कर्म्म होता हुआ भी यह दुष्कृत-अपर्य्याप्ति अक्षेम का कारण न बनकर विशुद्ध सुकृत, क्षेम, पर्य्याप्ति का कारण बनता हुआ कुशलभावापन्न बनकर- "**कौशल**" है। जिस भाव के लिए खासियत, खूबी ब्यूटीफुल आदि शब्द प्रयुक्त होते है, उसी भाव में यहाँ "**कौशल**" शब्द प्रयुक्त हुआ है। यही तो बुद्धियोग की खासियत है। अथवा यह खासियत ही तो बुद्धियोग का वैशिष्ट्य है।

॥ ४ ॥

५-"कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि०"

फल की आशा नहीं की, कर्म्म किया। परन्तु जैसा कि पूर्व में अनेक बार कहा जा चुका है- कर्म्म कभी निष्फल नही जाता। साथ ही में उस फल का मन के साथ सम्बन्ध भी होता है। कर्म्म करें फल उत्पन्न हों, उस का भोग करें-तीनों ही नियम शाश्वत हैं। फलका मन के साथ युक्त होना ही तो क्षोभ का कारण है। क्यों कि-"**संयोगा विप्रयोगान्ताः**" इस प्राकृत नियम के अनुसार फल का योग हुआ है तो कभी न कभी उसका वियोग भी अवश्य होगा। इस प्रकार बुद्धियोगनिष्ठा में भी आगमापायी कर्म्मफलों के सम्बन्ध से अवश्य ही क्षोभ रहेगा। ऐसी स्थिति में जिस अनामयपद की प्राप्ति के लिए फलाशा का परित्याग कर बुद्धियोगलक्षण कर्म्म में प्रवृत्त हुए थे, वह प्रयोजन तो फिर भी सिद्ध न हो सका। प्रकृत पाँचवें श्लोक से भगवान् इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं।

भगवान् कहते हैं-बुद्धियोगलक्षण निष्काम कर्म्म भी अवश्य ही कर्म्म है। कर्म्मत्त्वेन यह फल भी अवश्य ही उत्पन्न करता है। इस कर्म्मजफल का मन के साथ सम्बन्ध भी अवश्य ही होता है। यह सब कुछ ठीक है। फिर भी बन्धन नहीं है, यही तो इस कर्म्म का महाकौशल है। महार्घ्यविभूति के प्राप्त होने पर कोई भी समझदार स्वल्पमूल्य की वस्तु का समादर नहीं करता। फलाशापरित्याग से जब बुद्धि का आत्मविभूति के साथ योग हो जाता है तो उस अवस्था में कृत कर्म्मों से जो फल उत्पन्न होता है, उस पर इन बुद्धियोगियों की दृष्टि ही नहीं जाती। बुद्धियोगी को लाख रुपए दे दीजिए तब भी वह स्पृहा प्रकट नहीं करेगा, पास का कुछ छीन लीजिए, तब भी क्षोभ नहीं है "**समदुःखसुखी धीरः**" "**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः**" फल आवेंगे, आकर प्राप्तकाल बनकर लौट जाएंगे। आने के

समय जब दृष्टि ही नहीं तो जाते समय क्षोभ होगा ही कैसे ? निष्कर्ष यह हुआ कि न फलबन्धन का कारण है, न कर्म्मबन्धन का कारण है। बन्धन का कारण है, मन की स्नेहगुणमयी कामना। इसका उच्छेद ही बुद्धियोग है। बुद्धियुक्त विद्वान् कर्म्मफलों को यों ही लेते रहते है, यों ही छोडते रहते है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि कर्म्मजफल आते हुए भी न आने के समान ही रहते हैं। फलत्यागपूर्वक फल का आगमन, फल-अभोगलक्षण भोग ही तो इस भोग का महाकौशल है। यह स्थिति तो केवल प्रारब्ध कर्म्मफलों की है। रही संचित एवं आगामी फलसंस्कारों की कथा। उनका तो बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होते ही उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार यह विशुद्धयोगी आत्ममुक्तिप्रतिबन्धक संचित, आगामी प्रारब्ध–तीनों कर्म्मजफलों से दर्पणवत् असंस्पृष्ट रहता हुआ इसी जन्म में भविष्य के जन्मबन्धनों से, आत्यन्तिकरूप से विनिर्मुक्त होता हुआ उस निर्विकार-नीरोग-सदास्वस्थ अव्यय पद को प्राप्त हुआ विदेह मुक्त बन जाता है। इस प्रकार जिस निर्वाणपद का ज्ञानयोगी घण्टाघोष किया करते हैं, वह भी इस बुद्धियोगनिष्ठा में सिद्ध है, साथ ही में लोकसंग्रह की भी रक्षा है।

॥ ५ ॥

तृतीयोपदेशनिष्कर्ष—

"तुम्हें फलाशा छोडकर अपने अधिकारसिद्ध कर्म्म ही में यावज्जीवन प्रवृत्त रहना चाहिए। इस प्रकार योग में प्रतिष्ठित रह कर कर्म्म करने से न बन्धन होगा, न लोकसंग्रह बिगड़ेगा। न परिताप होगा। इसलिए हे अर्जुन ! तू यदि शोक की निवृत्ति चाहता है तो निष्कामबुद्धया आत्मवान् बनकर अधिकार सिद्ध कर्म्म कर।"

॥ इति द्वितीयोपनिषदि–तृतीयोपदेशः ॥

३

———

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषदि

४-मोहव्यतितीर्णायाः स्थितप्रज्ञताया बुद्धियोगसिद्ध्युपायत्वम् ।

अज्ञानावृतज्ञानजनिताया उत्थाप्याकाङ्क्षाया मनसि निर्वेदस्य बुद्धियोगसिद्ध्युपायत्वम् ॥

४

द्वितीयायामुपनिषदि—

चतुर्थोपदेशः

४—मोहव्यतितीर्णायाः स्थितप्रज्ञताया बुद्धियोगसिद्ध्युपायत्वम् । अज्ञानावृतज्ञानजनिताया उत्थाप्याकांक्षाया मनसि निर्वेदस्य बुद्धियोगसिद्ध्युपायत्वम् ॥*

१—यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गीता २।५२)

२—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला "बुद्धि"स्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (गीता२।५३।)

[मूलानुवाद] "हे अर्जुन ! जब तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल से निकल जाएगी तब तू सुनने के योग्य एवं सुने हुए के प्रति अनासक्त बन जाएगा । हे अर्जुन ! श्रुति से डाँवाडोल बनी हुई तेरी बुद्धि निश्चल बनती हुई जब समाधि में अचल हो जाएगी, तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा ।

[भाष्य]—

१—यदा ते मोहकालिलं—

बुद्धियोग के सम्बन्ध में भगवान् को जो कुछ वक्तव्य था, कह दिया । अब इस सम्बन्ध में केवल एक प्रश्न बच जाता है । भगवान् ने आदेश दिया कि अर्जुन ! यदि तू शोक से बचना चाहता है तो बुद्धियोग में प्रतिष्ठित होकर, फलासक्ति छोडकर सिद्धि-असिद्धि में सम बनकर कर्म्म कर ।

* जब प्रज्ञानमन के प्रज्ञानभाग से मोह हट जाता है तो मोहसम्बन्ध से चञ्चल बनी हुई प्रज्ञा स्थिर बन जाती है । प्रज्ञा के स्थिर होते ही उस पर प्रतिबिम्बित बुद्धि स्थिर होती हुई आत्मा के साथ योग कर लेती है ।

अज्ञान से ढके हुए ज्ञानलक्षणमोह से उत्थाप्याकांक्षा का उदय होता है । जब तक मन में उत्थाप्याकांक्षा रहती है, तब तक मन में कभी अनासक्तिभाव का उदय नहीं हो सकता । फलतः तब तक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती । इसके लिए मन में से पहिले उत्थाप्याकांक्षा को हटाना पड़ेगा, तभी बुद्धियोग सिद्ध होगा ।

आदेश बडा ही सुन्दर है। परन्तु आश्चर्य है कि अहोरात्र ऐसे आदेशों को सुनते रहने पर भी, रात दिन गीता का परायण करते रहने पर भी शोकावसरों पर शोक का एवं हर्षावसरों पर हर्ष का आक्रमण हो ही जाता है। साथ ही में बुरा समझते हुए भी, शोक और हर्ष दोनों ही आत्मक्षोभ के कारण बनते हुए अशान्ति के कारण हैं–यह अनुभव करते हुए भी, फलेप्सा हो ही जाती है। इसका क्या कारण? क्यों नहीं आत्मा में बुद्धियोगनिष्ठा का उदय होता? अथवा यह ऐसा कौनसा उपाय है जिससे हम बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करते हुए सदा के लिए इन झञ्झटों से पीछा छुडाने में समर्थ हो जाएँ। प्रकृत प्रकरण में भगवान् इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण कर रहे हैं। यद्यपि **"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"** इत्यादिरूप से भगवान् ने बुद्धियोगप्राप्ति का उपाय बतलाया है। परन्तु वह उपाय एक प्रकार से पूर्णसंतोष का कारण नहीं दिखलाई देता। **फल की आकांक्षा रखने वाले कृपण होते हैं, तू बुद्धि से काम ले, मनःप्रधानता हटा दे, अपने आप सिद्धि-असिद्धि में समता का उदय हो जाएगा**– यह तो एक प्रकार का आदेश ही है। प्रश्न तो यह है कि इस आदेश के पालन की योग्यता ही हमारे में नहीं है। हम तो अपनी जान में कर्म्म में बहुत सोच समझकर ही कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु देखते है कि मन फिर भी फल की तरफ दौड़ ही तो जाता है। हमारे न न करने से होता ही क्या है? हम तो परवश हैं। मन हमारा कहना नहीं मानता। यदि बुद्धि उसे कहती है कि देख भाई! यह काम अच्छा काम नहीं है, तो तुरन्त मन कहने लगता है–अच्छा! आज-आज तो ऐसा कर लेतें हैं, फिर ऐसा न करेंगे। मन का यह आज कभी समाप्त ही नहीं होता। अपितु उत्तरोत्तर इसी "आज-आज" की परम्परा दृढमूल ही बनती जाती है। ऐसा क्यों होता है? एवं इस क्यों की चिकित्सा क्या है? प्रकृत प्रकरण के दोनों श्लोक इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हैं। पहिले यह विचार कीजिए कि आदेश सुनने पर भी मन हमारे वश में क्यों नहीं आता? विचार करने पर हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि सत्त्व-रज-तमोगुण की समष्टिरूपभूतभाग का अनुग्राहक, स्वभावतः प्रबल **मोह** नाम का **एक** भयावह यन्त्र ही हमें परवश बनाए रखता है। आत्मा के स्वाभाविकज्ञान को आवृत करने वाला त्रैगुण्यमूर्ति तमोभाव ही मोह है। कहने को तो यह तुच्छ (निकृष्ट) है परन्तु **आभू** जैसे आत्मा को भी आवृत करता हुआ यह सब को नचा रहा है–**तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्।** जन्ममृत्युचक्ररूप कर्म्माश्वत्थ में लिप्त हम (जीवात्मा) अथ से इति पर्य्यन्त इसी भयानक शत्रु के पञ्जे में फंसे रहते हैं। एक स्थान पर भगवान् ने रागजनित काम, द्वेषजनित क्रोध को हमारा भयानक शत्रु कहा है। परन्तु हम देखते हैं कि राग-द्वेषजनित कामक्रोधात्मिका आसक्ति से भी कहीं अधिक भयंकर अज्ञानजनित अविद्यात्मक यह **मोह** है। आसक्ति राग-द्वेष से होती है। परन्तु राग-द्वेष का मूल मोह है। मोहवश ही हम किसी के साथ राग करते हुए प्रेमासक्ति खरीद लेते हैं। किसी के साथ द्वेष करते हुए द्वेषासक्ति के भोक्ता बन जाते हैं। राग-द्वेष हटे तब आसक्ति हटे, मोह हटे तब राग-द्वेष हटे। अब बताइए, राग-द्वेष जनित आसक्ति भयंकर हुई अथवा अज्ञानजनित मोह अधिक भयंकर हुआ।

आप स्थावरजङ्गमात्मक (जड़चेतनात्मक) जितने भी पदार्थ देखते हैं, वे सब मोहकलिल में डूबे हुए है। हाँ, यह बात अवश्य है कि किसी पदार्थ पर मोह की विशेष कृपा है, किसी पर कम अनुग्रह है। सच पूछिए तो परिच्छिन्न पदार्थों की उत्पत्ति ही मोह की कृपा से होती है। जिस प्रकार लोह में

जंग उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार तमोगुण से शमलरूप कषाय (मैल) उत्पन्न होता रहता है। इसी को विज्ञानभाषा में **"अञ्जन"** (कज्जल) कहा जाता है। इस अञ्जन की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है, त्यों-त्यों आत्मप्रकाश अधिकाधिक तिरोहित होता जाता है। इस प्रकार वही निरञ्जन इस अञ्जनरूप मोह से कालान्तर में साञ्जन बन जाता है। जीवसृष्टि **ससंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, असंज्ञ** भेद से तीन भागों में विभक्त है। **पाषाण-लोष्ठ** आदि जड़ पदार्थ असंज्ञ जीव हैं। **वृक्षवर्ग** अन्तःसंज्ञ जीव हैं। **कृमि-कीट-पशु-पक्षि-मनुष्य इन** पाँचों की समष्टि ससंज्ञजीव हैं। जब तम का आत्यन्तिक आवरण हो जाता है तो इन्द्रियों का विकास भी दब जाता है। इसी अवस्था का नाम जड़ता किंवा अचेतनता है। वृक्षादि में पाषाणादिधातुओं की अपेक्षा तम कुछ कम है। इसीलिए इनमें एक त्वगिन्द्रिय का विकास हो जाता है। यही **अन्तःसंज्ञसर्ग है**। इन दोनों सर्गों को सांख्य ने **तमोविशाल** सर्ग कहा है। उक्त ससंज्ञ जीवों में तम के साथ रजोगुण भी जागृत है। अतएव इस मध्यमसर्ग को सांख्य ने **रजोविशालसर्ग** कहा है। ससंज्ञवर्ग में ही में **अष्टविध देवयोनि** का एक वर्ग और है। इसमें सत्त्वगुण प्रधान रहता है, अतएव इसे **सत्त्वविशाल सर्ग** कहा गया है। सत्त्वविशाल जीवों के अवान्तर आठवर्गों में भी त्रैगुण्य का तारतम्य है। रजोविशाल जीवों के अवान्तर पाँचवर्गों में एवं तमोविशालवर्ग में भी इसी प्रकार तारतम्य समझना चाहिए। इन सब सर्गों में प्रकृत में हमारा लक्ष्यस्थान रजोविशाल मनुष्य सर्ग ही है। शुक्र-शोणित में मल भाग है, औपपातिक कर्म्मात्मा के सञ्चित संस्कार मलरूप हैं। इन अनेक मलों से आवृत कर्म्मात्मा स्थूलशरीर धारण करता है। जैसाकि "नासतो विद्यते भावो" इत्यादि में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस प्रकार उत्पत्ति का अधिठाता भी कषायरूप मोह ही बना हुआ है। उत्पन्न होने के अनन्तर इसी सांस्कारिक मोहावरण से सजातीयाकर्षण से भौतिकविषयसंस्कारों का लेप और होता रहता है। इस प्रकार उत्पन्न होने के अनन्तर भी मोह का आक्रमण धारावाहिक रूप से प्रवाहित रहता है। **सारासाराविवेकता, अविमृश्यकारिता, अननुसंधानात्मकता** अदिलक्षण बुद्धि के जितने भी व्यामोह हैं, सब की प्रतिष्ठा एक मात्र मोह ही है। अज्ञानावृत ज्ञान ही मोह है। दूसरे शब्दों में अर्द्धज्ञान ही मोह है। **अज्ञान** उसी किट्ट का नाम है, जो फलाशामयी आसक्तिरूप है। आसक्तिमय संस्कार ही तो ज्ञान के आवरक बनते हैं। ज्ञान को आवृत करने के कारण ही तो इन आसक्तिमय तमःप्रधान संस्कारों को **"अज्ञान"** शब्द से व्यवहृत किया है। कितने ही महानुभाव अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव करते हैं। कहना नहीं होगा कि अर्थ उक्त विज्ञानमर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत ही है। अज्ञान यदि अभाव का वाचक होता तो भगवान्—**"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"** यह कभी न कहते। भगवान् कहते हैं—अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है। भला अभाव भी क्या किसी को आवृत कर सकता है? फलतः अज्ञान का पदार्थत्त्व सिद्ध हो जाता है। संस्कारों में ज्ञान बिल्कुल दबा हुआ है, केवल कर्म्म ही प्रधान बन रहा है। अतएव इस ज्ञानगर्भित कर्म्मसंस्कारपुञ्ज को **"अज्ञान"** कहा जाता है। यही **"मोह"** है। अज्ञान से मन का प्रज्ञाभाग चञ्चल हो जाता है। इसी चाञ्चल्य का नाम मोह है। अज्ञान भी मोह है, इसकी कृपा से उत्पन्न चाञ्चल्य भी तद्रूप बनता हुआ मोह ही है।

मोह करता क्या है? सुनिए। मोहरूप संस्कारों के आगमन से प्रज्ञाभाग चञ्चल बन जाता है, यह मोह का पहिला कर्म्म है। प्रज्ञा के चञ्चल बनते ही तत्प्रतिष्ठा बुद्धि भी चञ्चल बन जाती है।

बुद्धि के चञ्चल बनते ही अनुसन्धानात्मक सत्त्वमूर्ति चित्त चञ्चल बन जाता है। चित्त डांवाडोल हो जाता है। ऐसा चित्त कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। निश्चयात्मक ज्ञान के हेतुभूत अनुसन्धान के लिए चित्त की स्थिरता अपेक्षित है। इसके लिए बुद्धि का मोहकलिल से पृथक् रहना आवश्यक है। इसके लिए मन की प्रज्ञा का स्थिर होना आवश्यक है। इसके लिए मोहरूप संस्कारों की आसक्ति हटाना आवश्यक है। इसके लिए फलाशात्यागलक्षण निष्काम कर्म्मयोग का अनुष्ठान अपेक्षित है। बात बडी विलक्षण है। पहिले मन स्थिर हो जाय, तब तो निष्काम कर्म्म का उदय हो; एवं निष्काम कर्म्म का उदय हो जाय तब मन स्थिर बनें–**"अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते"**। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का एकमात्र उपाय यही है कि आरम्भ दशा में बुद्धि में थोड़ा संयम (मजबूती) लाते हुए फलाशात्याग का अभ्यास करते हुए कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। सञ्चित संस्कारों की कृपा से, साथ ही में प्रारब्ध संस्कारों की कृपा से कुछ दिन अवश्य ही हर्षशोकादिद्वन्द्व आक्रमण करेंगे। परन्तु ज्यों-ज्यों निष्काम-कर्म्म अभ्यासवश दृढ बनता जाएगा, त्यों-त्यों प्रज्ञा में स्थिरता आती जायगी। ज्यों-ज्यों प्रज्ञा अधिकाधिक स्थिर होती जायगी, त्यों-त्यों सञ्चितकर्म्मसंस्कारग्रन्थि खुलती जायगी, आगामी संस्कारों की ग्रन्थि को अवकाश नहीं मिलेगा, प्रारब्धसंस्कारजनित-हर्ष-शोक का आक्रमण आत्मा को विचलित न करेगा। जब तक बुद्धि में से आत्यन्तिकरूप से मोह न निकल जायगा, तब तक तो हमें धक्के सहने ही पड़ेंगे। आत्यन्तिक निर्वेद के लिए तो मोह की आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपेक्षित होगी। परन्तु क्या किया जाय? इस की निवृत्ति का उपाय भी तो निष्काम कर्म्म ही है। अभ्यास पर आरूढव्यक्ति के निष्कामकर्म्म में मोह हो ही नहीं–यह तो सम्भव नहीं है। मोह होगा, चित्त आकुल भी होगा, बुद्धिव्यामोह भी होगा, सुख-दुःख से उद्विग्नमना, भी बनेगा, परन्तु इन सब आक्रमणों को सहते हुए बुद्धिबल से आगे बढते रहना चाहिए। **"तत्स्वयंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनि विन्दति"** के अनुसार इस आत्मनिर्भरता से कालान्तर में सर्वात्मना अवश्य ही बुद्धियोगनिष्ठा का उदय हो जायगा। इससे बढ़कर दूसरा उपाय और हो भी क्या सकता है?

जिसे लोकभाषा में **"कादा-कींच"** कहा जाता है, जिस अवस्था के लिए श्रुति ने–**"काल्वालीकृत"** शब्द का प्रयोग किया है, ठीक उसी अवस्था के लिए प्रकृत में–**"कलिल"** शब्द प्रयुक्त हुआ है। मोह स्वयं एक प्रकार का कर्दम है, पङ्क है। इसी दलदल में फँसकर बुद्धि अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठती है। दलदल के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है, प्रसिद्ध ही क्यों? प्रत्यक्षदृष्ट, एवं कितने ही मनुष्यों द्वारा अनुभूत है कि जब आदमी दल-दल में फँस जाता है तो उसका चित्त डांवाडोल हो जाता है–शोकग्रस्त बन जाता है। दलदल से पीछा छुडाने के लिए व्याकुल हो जाता है। फलतः वह बलप्रयोग करता है। परन्तु होता यह है कि ज्यों-ज्यों वह ऊपर निकलने की चेष्टा करता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक गहराई में फँसता जाता है। बस ठीक यही दशा हमारे इस मोहरूप दलदल की समझिए। आप मोहात्मिका इन सांसारिक आपत्तियों से जितना दूर भागने का प्रयास करेंगे, उतने ही अधिक आप अधिक मोहगर्त्त में फँसते जाएगें। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि आप मोहजनक कर्म्मों से ज्यों-ज्यों पीछे हटेंगे, त्यों-त्यों आत्मा में मोहजनित जड़ता बढती जायगी। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? वृद्धपुरुषों का कहना है कि जब तुम दलदल में फँस जाओ तो घबराओ मत। साथ ही में इससे निकलने के लिए कोई

प्रयास न करते हुए थोड़े से बलप्रयोग से सीधे लेट जाओ। बस इस ऋजुभाव से केन्द्र समत्त्वभाव में परिणत हो जायगा। तुम दलदल से निकल कर उसके ऊपर आ जाओगे। उस समय अन्य व्यक्ति रज्जु आदि किसी के सहारे से तुम्हें किनारे पर ले आवेगा, प्राणरक्षा हो जायगी। ठीक यही उपदेश यहाँ चरितार्थ होता है। यदि तुम मोहकलिल (मोहके दलदल) में फँसे हुए हो तो घबड़ाओ मत। जरा बुद्धि से काम लो–"**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**"। मोह से भागने में तुम जो प्रयास करते हो–वह प्रयास बुद्धि में खर्च करो। बुद्धि के सहारे तुम ऋजुभाव उत्पन्न करने का प्रयास करो। इस अभ्यासरूप प्रयास से जब तुम्हारी प्रज्ञा हृदयानुगामिनी बनती हुई स्थिर हो जायगी, दूसरे शब्दों में जब तुम मोहकलिल से तरण करके ऊपर आजाओगे तो उस समय इस स्थिरता से स्थिरभाव में परिणत वह आत्मदेवता अपने आप तुम्हारा उद्धार कर देगा। मोहकलिल से घबड़ाकर क्षुब्ध हो जाना, किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाना, उससे दूर भागने का प्रयास करना, मोहमूलक कर्म्मों से पीछे हटना–ये सब उपाय तो अधिकाधिक हमें मोह में फँसाते हैं। इसके लिए क्या करना चाहिए, वैसा करने से क्या होगा? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

१–अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ (गीता ८।८)

२–संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ (गीता ६।२४)

३–शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (गीता ६।२५)

४–यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ (गीता ६।२६)

५–प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ (गीता ६।२७)

६–युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ (गीता ६।२८)

७–असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता ६।३५)

८—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (गीता ६।३६)

९—तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थमय्यावेशितचेतसाम् ॥ (गीता १२।७)

अर्जुन युद्ध से क्यों विमुख हुआ ? इसका एकमात्र कारण मोह ही था । **"कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्"** (१८।६०) । इसी मोह से भगवान् अर्जुन का उद्धार करने के लिए बुद्धियोग का उपदेश देते हैं । उसी समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपदेश सुनने मात्र से मोह नहीं हट जाता । इस प्रश्न के समाधान में भगवान् को **'यदा ते मोहकलिलम्"** यह कहना पड़ा है । प्रयास करो, धैर्य्य रक्खो, क्रमशः संयम बढाते हुए कर्म्म करते जाओ, आपत्तियों से मत घबड़ाओ, मानापमान, स्तुति-निन्दा, लाभ अलाभ, जय-पराजय, शोक-हर्षादिद्वन्द्वभाव आते हैं तो आने दो, कर्म्म का अभ्यास मत छोडो । कालान्तर में कर्म्म सर्वात्मना तम से उत्पन्न अज्ञानरूप मोह का उच्छेद कर देगा । उस समय हमारे मन में आत्यन्तिक निर्वेद उत्पन्न हो जायगा । परिस्थिति यह है कि अर्जुन को मोह हुआ, मोह से रागासक्ति का उदय हुआ । इसके निराकरण के लिए भगवान् ने बुद्धियोग का उपदेश दिया । परन्तु उपदेशमात्र से ही तत्काल ही तो अर्जुन का शोक हटना सम्भव नहीं है । इसलिए भगवान् को यह कहना पड़ा कि भाई ! तू चाहे कि अभी इसीक्षण तेरे मन में निर्वेद पैदा हो जाय, सो तो सम्भव नहीं हैं । हाँ, कालान्तर में अवश्य ही निर्वेद भाव का अधिकारी बन जायगा । अभी तो तेरे अधिकार में केवल कर्म्म है । सहसा मोह हटाना तेरे अधिकार में नहीं, शोक में बैठे रहना व्यर्थ । इससे सिवाय हानि के और कोई लाभ नहीं । शोक करते रहो, शोक बढेगा, घटेगा नहीं । इस अवस्था में एक बुद्धिमान् का यही कर्त्तव्य रह जाता है कि वह उस शोक की तितिक्षा करता हुआ अपने अधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्त रहे । ऐसा करने से वह शोक भूल जायगा । प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि जब एक व्यक्ति चुपचाप बैठा रहता है तो उसे अनेक चिन्ताएँ घेरे रहती हैं । परन्तु जब वह काम करता रहता है तो उस कर्म्मप्रवृत्तिदशा में वह सब कुछ भूल जाता है । कर्म्म में संलग्न मन को चिन्ता करने का अवसर ही नहीं मिलता है । एक लाभ, दूसरा लाभ—मोह की क्रमशः निवृत्ति । अनन्यभाव से कर्म्म करते जाओ, जिन शोकादिद्वन्द्वों का आक्रमण होता रहे, उन्हें बुद्धि की धृति से (धैर्य्य-पूर्वक, बर्दाश्त करते जाओ । कालान्तर में मोह कलिल सर्वथा हट जायगा । जीवन्मुक्त बन जाओगे ।

बुद्धि स्थिर है, मन चञ्चल है । मन के चाञ्चल्य से स्थिर बुद्धि भी चञ्चल बन जाती है । जब तक बुद्धि मोहकलिल से युक्त रहती है, तब तक वह स्वयं भी चञ्चल रहती है एवं मन भी चञ्चल रहता है । जिस प्रकार बुद्धि स्वस्वरूप से सर्वथा अदुष्टा है, एवमेव मन भी अपने प्रातिस्विक रूप से सर्वथा अदुष्ट ही है । मोहकलितमन ही दोषावह है, मोहकलिलदोषावहमन ही बुद्धिदोष का कारण है । मोह की कृपा से अस्थिर बने हुए मन का जब स्थिरबुद्धि से योग हो जाता है तो बुद्धि में भी पिब्दभाव (थोथापन—अस्थिरता—डांवाडोलपना) उत्पन्न हो जाता है । परिणाम इसका यह होता है कि

श्रोतव्य और श्रुत दोनों में ही एक प्रकार की आसक्ति हो जाती है। पूर्व के **"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** इत्यादि प्रकरण में कामना और इच्छा रूप से इच्छा के उत्थित-उत्थाप्य भेद से दो रूप बतलाए हैं। आत्मकामनामयी कर्म्मकामना उत्थिताकांक्षा है एवं फलकामनामयी मन की कामना उत्थाप्याकांक्षा है। दोनों ही कामनामयी हैं। अन्तर दोनों में केवल यही है कि आत्मकामना का श्रुतभाव से सम्बन्ध है, फलकामना का श्रोतव्यभाव से सम्बन्ध है। श्रुति का अर्थ है–दृष्टि। दृष्टि का अर्थ है–पदार्थभोग। आत्मकामना से कृत कर्म्म भी दृष्टिरूप पदार्थभोग के कारण हैं। ये भोग स्वाभाविक हैं। इनसे भी संस्कार होता है। एवं मन की इच्छा से कृत कर्म्म श्रोतव्यकोटि में प्रविष्ट है। अपनी पसन्द से मन जिन अर्थों को दृष्टि के योग्य समझता है, फलाशामय वे ही विषय श्रोतव्य हैं। इनसे भी संस्कार होता है। जब तक फलकामना प्रधान बनी रहती है, तब तक श्रोतव्यलक्षण उत्थाप्याकांक्षासम्बन्धी संस्कार प्रधान बने रहते हैं। ऐसी दशा में श्रुतलक्षण उत्थिताकांक्षासम्बन्धी संस्कार गौण बनते हुए श्रोतव्य संस्कारों के रंग से रंग कर आसक्तिमय से बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्व प्रकरण में हमने आत्मकामनाजनित कर्म्मफलों को अबन्धन बतलाया था। परन्तु यह तभी सम्भव है, जबकि मन की कामना का (फलकामना का) दमन कर दिया जाय। अन्यथा आत्मकामना का दमन हो जाता है। फलतः श्रुत भी श्रोतव्यरूप में परिणत हो जाता है। आत्मा कहता है–शराब मत पीओ, मन कहता है–पीवेंगे। यदि मन प्रबल है तो आत्मकामना निर्बल बनती हुई अपनी श्रुतवृत्ति को मन की श्रोतव्यवृत्ति को सौंप देती है। यही श्रुत का श्रोतव्यरूप में परिणत होना है। इस प्रकार फलकामनादशा में अधिकांश में श्रुत और श्रोतव्य दोनों ही आसक्ति का कारण बन जाते हैं। यदि मोह हटा दिया जाता है तो मन का श्रोतव्यभाव उच्छिन्न हो जाता है। श्रोतव्य की ओर से मन निर्वेदभाव (उपेक्षाबुद्धिभाव) को तो प्राप्त हो ही जाता है, साथ ही में आत्मकामना से सम्बन्ध रखने वाला श्रुतरूप जो फल है, उसमें भी आसक्ति नहीं रहती। इस दशा में तो केवल कर्म्ममात्र ही दृष्टि का विषय रहता है।

प्रकारान्तर से श्रोतव्य-श्रुत का समन्वय कीजिए। मोह दशा में बुद्धिमोहकलिला बनती हुई अस्थिर बन जाती है। आत्मनिर्भरता जाती रहती है। व्यवसायवृत्ति तिरोहित हो जाती है। **'इदमित्थमेव'** यह निश्चिय भाव उत्क्रान्त हो जाता है। **'कथं भविष्यति'** 'किंभविष्यति' (कैसे होगा क्या होगा, कैसे करेंगे) इस प्रकार की कार्य-कारणभाव जिज्ञासा ही 'श्रोतव्य' है। '**कथं जातम्, किंजातंम्** (कैसे हो गया क्या हो गया, कैसे कर लिया क्या कर लिया) इस वृत्तिका ही नाम 'श्रुत' है। दोनों में ही क्षोभ है। जब तक मोह है तब तक मन किंवा मनोनुगामिनी बुद्धि इन्हीं द्वन्द्व भावों से आक्रन्त रहती हुई अशान्ति का कारण बनी रहती है। जब मोह हट जाता है तो प्रज्ञा स्थिर हो जाती है और कलिलता जाती रहती है। किंवा उच्छेद हो जाता है। क्या करें, क्या न करें, क्या होगा, क्या कैसे करेंगे, क्या करेंगे क्या हो गया, क्या कर लिया इन सब द्वैध वृत्तियों का उन्मूलन हो जाता है। केवल आधिकारिक कर्म्म पर निष्ठा हो जाती है। यही मन का निर्वेद है, उपेक्षाभाव है।

अपि च—मोह से एक बडा भारी दोष और उपस्थित होता है। मोहरूप आवरण बुद्धि के स्वाभाविक स्थिर प्रकाश को विचलित कर देता है। परिणाम यह होता है कि वर्तमान कर्म्म की ओर निर्वेद उत्पन्न हो जाता है। हमारी जीवनधारा भूत भविष्यत् वर्तमान–इन तीन भागों में बँटी हुई है।

कुछ कर्म्म हम कर चुके हैं, कुछ कर्म्म हम करने वाले हैं। कुछ कर रहे हैं। कुछ जान चुके हैं, कुछ जानने वाले हैं, कुछ जान रहे हैं। मोह की प्रबलता से हम सदा भूत-भविष्यत् की चिन्ता में ही निमग्न रहते हैं। हमने क्या कर लिया, क्या हो गया, आगे मालूम नहीं, क्या करेंगे—इसी उधेड़बुन में बैठे रहते हैं। इस चर्वणा का भयंकर परिणाम यह होता है कि जिस कर्म्म का अनुष्ठान हमें करना चाहिए उसकी ओर से हमें निर्वेद (उपेक्षा) हो जाता है। भूत भविष्यत् का अपेक्षाभाव ही वर्तमान की उपेक्षा का कारण है। किसी ने कह दिया तुम अमुक वर्ष में दरिद्री बन जाओगे। इस विभीषिका का परिणाम यह होगा कि तुम हतोत्साह बन कर वर्तमान का कर्म्म छोड बैठोगे। मान लीजिए, किसी व्यक्ति ने अतीत में कोई महा निन्दनीय कर्म्म कर डाला है। अब यदि यह उसी चिन्ता में बैठा रहेगा तो उसका वर्त्तमान अन्धकारपूर्ण हो जाएगा। यही अवस्था उत्तम कर्म्मों की समझिए। हमारा तो भाग्योदय अमुक समय में होगा, हमें तो जो यश प्राप्त करना था कर चुके—इन दोनों भावनाओं से आक्रान्त व्यक्ति वर्तमान दशा में अकर्म्मण्य बनता हुआ दोनों ही विभूतियों से वञ्चित हो जाता है। वर्तमान में मन का निर्वेद, भूत-भविष्यत् में मन की आसक्ति सचमुच अवनति का मूल कारण है। जो वर्तमान को भुला देता है, उसके भूत, भविष्यत् दोनों बिगड़ जाते हैं। जो व्यक्ति वर्तमान को सम्हाल लेता है, उसके भूत, भविष्यत् दोनों सम्हल जाते हैं। किसी मार्मिक का कहना है—

शानदार था भूत भविष्यत् भी महान् है।
अगर संभालें आप उसे जो वर्तमान है॥

हमारे पुराने ऐसे थे, लम्बे थे, चौड़े थे, हमारा भूतकाल सर्वोन्नत था—यह अपेक्षा भी हमारा कोई उपकार नहीं कर सकती। सत्युग में फिर हम ऐसे ही हो जाएंगे—इस फलाशा का भी कोई महत्त्व नहीं है। स्वतन्त्रता रूप परमानन्द का मूल कारण है, कल्पित कलि युग की भ्रान्ति का परित्याग करते हुए वर्तमान में कर्मठ बनना। भगवान् कहते हैं, तुम भूतरूप श्रुत एवं भविष्यत् रूप श्रोतव्य से निर्वेद करो, वर्तमान की अपेक्षा रक्खो। क्या हो गया, क्या होगा को छोडो। जो हो गया सो हो गया। जो होना होगा सो हो जाएगा। तुम अपने वर्तमान को संभालो। यह तभी सम्भव है जब कि तुम्हारी बुद्धि मोह छोड देगी। इसके लिए तुम्हें धैर्यपूर्वक कर्म्म-मार्ग पर ही आरूढ रहना पड़ेगा।

अपिच कर्म्मठ मनुष्य के कर्म्म में अनेक विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। विचित्र भावाक्रान्त द्वन्द्वमूर्त्ति विश्व किसी अवस्था में चैन नहीं लेने देता। जब तुम कर्म्म में अनन्यभाव से प्रवृत्त होगे तो संसार निन्दा स्तुति करेगा। कोई अच्छा कहेगा, कोई बुरा कहेगा। कोई दम्भी बतलावेगा, कोई ढोंगी कहेगा। कोई अपमान करेगा, कोई आदर करेगा। कभी भलाई होगी, कभी बुराई होगी। **'श्रेयांसि बहु-विघ्नानि'**। कर्म्म में रहते हुए जो भलाबुरा तुम सुन चुके हो, अथवा भविष्य में सुनने वाले हो यदि तुम इन झञ्झावातों के झपेटों में आगए तो सर्वनाश है। यदि आत्मबल को अपनाए हुए, श्रुत-श्रोतव्य भले बुरे की कोई पर्वाह न करते हुए, अनन्यभाव से कर्तव्य कर्म्म पर आरूढ रहे तो वही संसार एक दिन तुम्हारे सामने अपना मस्तक झुका देगा। परन्तु यह वृत्ति प्राप्त तभी होगी, जब तुम अभ्यासमूलक कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहते हुए मोह को छोडते हुए आगे बढ़ते जाओगे। यदि श्रुत कीर्ति के, अथवा

भविष्य की कीर्ति के अभिमान में पड़ गए तो कर्म्म निर्बल बन जाएगा। श्रोतव्य, श्रुत, दृष्टव्य, दृष्ट, ज्ञातव्य, ज्ञात, गृहीत, ग्राह्य, इन द्वन्द्वों का निर्वेद ही पराशान्ति का मूल कारण है। निर्वेदलक्षण बुद्धि-योग की प्राप्ति का उपाय मोह का परित्याग ही है। तदर्थ धीरतापूर्वक कर्म्मप्रवृत्ति ही अपेक्षित है। ध्यान रहे, भगवान् ने यहाँ केवल तटस्थरूप से ही बुद्धियोगसिद्धि का उपाय बतलाया है। **मोह हटाओ** यह एक प्रकार से तटस्थ उपाय है। इस सम्बन्ध में भी **कैसे हटावें**–यह जिज्ञासा बनी रहती है। राजर्षि विद्या की आठवीं उपनिषत् में **योगी युञ्जीत सततम्** इत्यादिरूप से बुद्धियोगसिद्ध्युपायभूत योगाभ्यास-साधनलक्षण उसी उपाय का विस्तार से निरूपण करने वाले हैं।

॥ १ ॥

—०—

२-श्रुतिविप्रतिपन्ना ते०—

जब तक बुद्धि मोहकलिला रहेगी, तब तक श्रोतव्य एवं श्रुत के प्रति मन का निर्वेद न होगा। जब बुद्धि मोहकलिल का तरण कर जाएगी, तभी मन श्रोतव्य और श्रुत के प्रति उदासीनवत् आसीन रहता हुआ आधिकारिककर्म्म में प्रवृत्त होगा-यह बतलाया गया। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्धि कब मोहकलिल का तरण करेगी, बुद्धि में यह सामर्थ्य कब उत्पन्न होगा? बस प्रकृत श्लोक इसी प्रश्न का समाधान करता है। अभी हो क्या रहा है? यह विचार कीजिए। **आत्मकामनासम्बन्धी अतएव सर्वथा अबन्धन यज्ञकर्मों को हमने फलकामासक्ति का बाना पहिनाते हुए उन निष्काम कर्म्मों को काम्य-कर्म्म मान रक्खा है। परिणाम इस फलकामना का यह हो रहा है कि फल में मन प्रबल बन रहा है। फलकामुक किंवा फलसंस्कारग्रन्थि से बद्ध मन का चाञ्चल्य ही इसकी प्रबलता है। मन के प्राबल्य से स्वस्वरूप से सर्वथा अचला भी बुद्धि मन के वश में पड़कर चञ्चल बनती हुई श्रुति के वास्तविक तात्पर्य्य से विपरीत पथ पर जा रही है। यही बुद्धि की श्रुतिविप्रतिपन्ना वृत्ति है। श्रौत-आदेशना-वाक्यों का आत्मकामनासम्बन्धी वास्तविक मर्म्म न समझती हुई बुद्धि उन कामनामय श्रुति-वचनों का केवल यही तात्पर्य्य समझ रही है कि ये यज्ञकर्म्मंत् तत्तकामनाओं की पूर्त्ति के लिए ही विहित हैं। कर्म्माधिकाररहस्य से सर्वथा वञ्चित अतएव श्रुतिविप्रतिपन्ना (श्रुति का वास्तविक तात्पर्य्य न समझने वाली) चञ्चला बुद्धि ही श्रौत कर्म्मों के फलों पर दृष्टि रखती हुई मोह का समर्थन कर रही है। इसके लिए बुद्धि को श्रुतिविप्रतिपन्नभाव का परित्याग करना पड़ेगा। यह तभी सम्भव है जब कि बुद्धि चञ्चल मन के पंजे से निकल जाय। जब तक बुद्धि निश्चला नहीं बन जाती तब तक एकाग्रतालक्षण समाधि में वह अचला नहीं बन सकती। जब तक वह समाधि में अचला नहीं बन सकती तब तक आत्म-योगलक्षण बुद्धियोग का उदय नहीं हो सकता। निश्चला और अचला समानार्थक नहीं हैं। निश्चलभाव** साधककोटि में प्रविष्ट है एवं अचलभाव साध्यकोटि में निविष्ट है। अचलभाव बुद्धि का स्वाभाविक धर्म्म है और इसके उदय के लिए इसमें पहले निश्चलवृत्ति का समावेश अपेक्षित है। चञ्चलता के आधीन जब तक बुद्धि है, तब तक निश्चला नहीं है। जब तक वह निश्चला नहीं है, तब तक उसके स्वाभाविक अचलभाव का उदय नहीं है। **'चलात्मनसः 'निर्गता बुद्धिर्निश्चला' 'निश्चला सती (चलमनसो विनिर्गता सती) स्वस्वरूपेण प्रतिष्ठिता बुद्धिरचला'** इन निर्वचनों के अनुसार चल मन से निकली हुई

अतएव निश्चल बनी हुई बुद्धि अपने स्वरूप में आती हुई अचला है। यही तात्पर्य्य है। समाधि स्थिरभाव है। आत्मस्थिरता ही **'समाधि'** है। समाधिरूप स्थिर आत्मा में अचला बुद्धि का योग हो जाना ही तो बुद्धियोग है। जब तक बुद्धि निश्चला नहीं बनती, दूसरे शब्दों में चल मन के पंजे से नहीं निकलती, तब तक वह स्वाभाविक अचलभाव में नहीं आ सकती। इस विजातीय वृत्ति से आक्रान्त यह चला बुद्धि समाधियोग (आत्मयोग) से वञ्चित रहती हुई, बुद्धियोग से वञ्चित रहती है।

निष्कर्ष यह हुआ कि अस्वस्थ दशा में मन आनन्द में निर्वेदभाव को प्राप्त होता देखा गया है। इसी प्रकार यदि मन शोक आनन्द-दोनों में स्वस्थ दशा में भी उपेक्षा करने लगता है तो उसका प्रज्ञा भाग स्थिर हो जाता है। मोह हट जाता है। बुद्धि निश्चला बनती हुई अचला बन कर समाधि (आत्मा) में प्रतिष्ठित होती हुई बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त कर लेती है। किं वा ऐसी बुद्धि निष्काम कर्म्म की अनन्य अधिकारिणी बन जाती है।

॥ २ ॥

—o—

॥ इति द्वितीयोपनिषदि चतुर्थोपदेशः ॥

४

———

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागोचित्योपनिषदि

वैराग्यलक्षणबुद्धियोगस्वरूपसम्पत्तिरूपायाः स्थितप्रज्ञतायाःषड् लक्षणानि

५

द्वितीयायामुपनिषदि—

पञ्चमोपदेशः

५–वैराग्यलक्षणबुद्धियोगस्वरूपसम्पत्तिरूपायाः स्थितप्रज्ञतायाः षड् लक्षणानि—

अर्जुन उवाच

१–स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। (गीता २।५४)

श्रीभगवानुवाच

(१)–तुष्टिमूला—

२–प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। (गीता २।५५)

(२)–प्रेयोऽनासक्तिमूला—

३–दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। (गीता २।५६)

(३)–श्रेयोऽनासक्तिमूला—

४–यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। (गीता २।५७)

(४)–तृप्तिमूला—

५–यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। (गीता २।५८)

(५)–अनशनतपोमूला—

६–विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। (गीता २।५९)

(६)–इन्द्रियवशीकारमूला—

७–यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।। (गीता २।६०)

८–तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। (गीता २।६१)

—०—

[मूलानुवाद] अर्जुन बोला—हे केशव ! समाधि में प्रतिष्ठित स्थितप्रज्ञ की भाषा (परिभाषा-लक्षण) क्या है ? स्थितधी क्या बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

१–भगवान् बोले हे अर्जुन ! जो पुरुष मन में रहने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को सर्वथा छोडकर अपने आत्मा (विज्ञानात्मा) में ही आत्मा (प्रज्ञानात्मा) रूप से संतुष्ट हो जाता है, उसी अवस्था में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

२–जो पुरुष दुःखों में सर्वथा शान्तमना बना रहता है, सुखों में अभिवाञ्छा नहीं रखता, जो राग, भय, क्रोध को सर्वथा छोड चुका है; ऐसा मुनि ही स्थितबुद्धि कहा जाता है ।

३–जो पुरुष (अच्छे बुरे) सभी पदार्थों में सर्वथा संगरहित बनता हुआ शुभ वस्तु को प्राप्त कर उसका यशोगान नहीं करता, अशुभ को प्राप्त कर द्वेष नहीं करता–उसकी प्रज्ञा स्थिर है ।

४–जब यह पुरुष कछुए के अङ्गों के समान (अङ्गस्थानीय) इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से चारों ओर संयत कर लेता है, (तब) इसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थिर) हो जाती है ।

५–(अन्नपरित्याग करने वाले अतएव) निराहार देही (भोक्तात्मा) के विषय (अपने आप) हट जाते हैं । रज से वियुक्त इसका (भोगरूप) रस भी उस पर (अव्यय) को देखकर (प्राप्त होकर) निवृत्त हो जाता है ।

६–हे कौन्तेय ! प्रयत्न करते रहने पर भी विद्वान्–पुरुष की आन्दोलन मचाने वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से मन (की स्वाभाविक स्थिरता) का अपहरण कर लेती हैं । (इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि) वह उन सब इन्द्रियों का निरोध कर मुझ में (अव्यय में) मन लगाता हुआ युक्त (बुद्धियुक्त) बन जाय । जिसके वश में इन्द्रियाँ हैं । उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थिर) है ।

[भाष्य] चतुर्थ उपदेश से भगवान् ने अर्जुन को सर्वथा अश्रुतपूर्व योग (बुद्धियोग) का स्वरूप बतलाया। सचमुच अर्जुन के लिए यह एक नई बात थी। अब तक अर्जुन ने प्रचलित ज्ञानकर्म्म निष्ठात्मक **सांख्य-योग** का ही स्वरूप समझ रक्खा था। साथ ही में सांख्यनिष्ठा का उसने यह तात्पर्य्य समझ रक्खा था कि कर्म्मों का सर्वथा परित्याग करना ही सांख्य (ज्ञान) मार्ग है। एवं योगनिष्ठा का यह तात्पर्य्य समझ रक्खा था कि फलाशापूर्वक शास्त्रीय कर्म्म में मनुष्य को प्रवृत्त रहना चाहिए। साथ ही में इन दोनों निष्ठाओं में सांख्यनिष्ठा ही अर्जुन को अधिक प्रिय थी। उसका विश्वास था कि फलाशामय कर्म्मकाण्ड संस्कार का जनक बनता हुआ आसक्तिरूप बन्धन का कारण है। इससे प्रज्ञान मन का प्रज्ञाभाग चञ्चल हो जाता है। चञ्चला प्रज्ञा बुद्धि को चञ्चल बना देती है। चञ्चल बुद्धि से आत्मा में क्षोभ हो जाता है। क्षोभ अशान्ति का जनक है। अशान्ति दुःख की मूलभूमिका है। फलतः कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहने वाले एक कर्म्मठ को सिवाय क्षणिक सुख के पराशान्तिलक्षण शाश्वत आनन्द नहीं मिल सकता। इसी भावना से भावितान्तःकरण अर्जुन ने—**"अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते"** यह उद्गार प्रकट करते हुए आधिकारिक कर्म्म में अपनी अरुचि प्रकट की थी। भगवान् ने पहिले **प्रथमोपनिषत्** से सांख्यनिष्ठासम्बन्धी कर्म्मत्यागलक्षण भ्रान्ति का निराकरण किया। एवं प्रकृत द्वितीय उपनिषत् के चार उपदेशों से अर्जुन के समझे हुए योग (कर्म्मयोग) का संशोधन करते हुए उसे एक अपूर्व योग (बुद्धियोग) का रहस्य बतलाया। जिस रहस्य का अर्जुन को स्वप्न में भी भान न था, वही योग भगवान् ने अर्जुन के सामने रखते हुए उसे बतलाया कि कर्म्म अवश्य ही संस्कार का जनक है। संस्कारबन्धन अवश्य ही प्रज्ञा को चञ्चल बना देते हैं। चञ्चल मन से संयुक्ता बुद्धि भी अवश्य ही चञ्चल हो जाती है। निश्चलभाव से च्युत अतएव चलबुद्धि आत्मा को विचलित करती हुई, अशान्ति का कारण बनती हुई, समाधिभाव से च्युत भी कर देती है। यह सभी अनुमान तेरे (अर्जुन) सत्य हैं। परन्तु केवल इसी भय से कर्म्मत्याग उत्तम नहीं कहा जा सकता। तू फलाशा छोडकर आत्मकामना पूर्वक कर्म्म कर, सारी विप्रतिपत्तियाँ हट जायँगी। क्षोभ की सभी सामग्रियाँ रहेंगी, फिर भी क्षोभ न होगा। सब कुछ करते हुए भी तेरी प्रज्ञा स्थिर रहेगी। प्रज्ञा की स्थिरता से बुद्धि अचला बनकर समाधि (आत्मा) में प्रतिष्ठित हो जाएगी। बुद्धियोग का उदय हो जायगा। सचमुच अर्जुन के लिए ऐसा योग एक नवीन वस्तु थी। पाठकों को विदित है कि गीतोपदेश से पहिले लोक में अर्जुन द्वारा समझी हुई सांख्य एवं योग नाम की दो निष्ठाएँ ही प्रचलित थीं। देवयुग में उपदिष्ट बुद्धियोगमार्ग विलुप्त हो चुका था। उस समय या तो कर्म्म को बुरा कहने वाले ज्ञानयोगी थे या फलकामुक कर्म्मठों का प्रभुत्त्व था। ऐसी दशा में अर्जुन यदि अपूर्व बुद्धियोगोपदेश से आश्चर्यान्वित हो जाय, तो क्या आश्चर्य है? अर्जुन के सामने आज तक ऐसा कोई बुद्धियोगी नहीं आया था कि जो कर्म्म में प्रवृत्त भी हो, फिर शान्त भी रहे। ऐसी स्थिति में उसकी **"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा"** यह जिज्ञासा सर्वथा स्वाभाविक थी।

जो जिस विषय का अनुभव नहीं रखता उसके सामने यदि उस विषय की चर्चा की जाती है तो उसके मन में कुतूहल उत्पन्न हो जाता है। ग्राम में रहने वाले व्यक्ति शहरी आदमियों की तड़क भड़क की गाथा सुन-सुन कर अवश्य ही आश्चर्य करते होंगे। यदि किसी ग्राम में से मोटर निकल जाती है तो ग्रामीणों का मेला जुड़जाता है। वे बडे कुतूहल से अनेक प्रश्न किया करते हैं। शहरी आदमी भी तो

पहिले पहिल वायुयान को देखकर आश्चर्यचकित होते देखे गए हैं। सम्राट् के अतुल वैभव को सुन सुन कर साधारण मनुष्य सोचा करते होंगे कि न मालूम सम्राट् कैसा होगा? कैसे बैठता होगा? कैसे चलता होगा? कैसे बोलता होगा। अजी! वह हमारे जैसा भोजन थोड़े ही करता होगा, न मालूम उसके लिए क्या-क्या पदार्थ बनते होंगे? देखिए न! यदि कोई महापुरुष जनता के सामने अभूतपूर्व विषय का प्रतिपादन करता है तो उसकी प्रतिभा से प्रभावित श्रोता सोचने लगते हैं कि भाई! अवश्य ही इनका खान-पान, रहन-सहन हम लोगों से विलक्षण होगा। अपनी इन्हीं जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए ये उस महापुरुष से प्रश्न भी करते देखे गए हैं। अपूर्वता में जिज्ञासामय कुतूहल का उदित होना स्वाभाविक है, यही वक्तव्य है। अर्जुन के सामने आजतक कोई बुद्धियोगी न आया था। कृष्ण बुद्धियोगी होंगे, यह उसे भी (विराट्-स्वरूपप्रदर्शन से पहिले-पहिले) पता न था। ऐसी दशा में कर्म्म करते हुए भी सर्वथा स्थितप्रज्ञ बने हुए बुद्धियोगी का महत्त्व सुनकर अर्जुन अपना कुतूहल प्रकट करता हुआ कहने लगा—

१–"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा०"

श्लोकार्थसमन्वय से पहिले यहीं विचार कीजिए कि स्थितप्रज्ञता क्या वस्तु है, मन कैसे तो स्थितप्रज्ञ बन जाता है एवं कैसे चञ्चल बना रहता है? इस विचारधारा के समन्वय के लिए मन के **मन, काम, इच्छा** इन तीन विवर्त्तों का विचार अपेक्षित है। इन तीनों में से काम और इच्छा का स्वरूप तो **"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०"** इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अतः प्रकृत में मन के स्वरूप की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। मन को थोड़ी देर के लिए **मनस्** समझिए एवं इसके **"म्-अन्-अस्"** ये तीन विभाग कर डालिए। **"कादयो मावसानाः स्पर्शाः"** के अनुसार ककार से मकारपर्य्यन्त स्पर्श की प्रधानता मानी गई है। जो वर्ण स्थान–करण के संयोग से बोले जाते हैं, उन्हें ही स्पर्श स्पृष्टवर्ण कहा जाता है। यद्यपि ककार से आरम्भ कर मकारपर्य्यन्त सभी वर्ण स्थान-करण के स्पर्श से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु इनमें मकार में स्पर्श का पूर्ण विकास है। इसमें अन्यस्थानों के साथ-साथ नासिकास्थान का भी समावेश है। इसीलिए हम ऊँकार को **"पूर्णस्पृष्ट"** कहेंगे। मकारोच्चारणकाल में दोनों ओष्ठ सर्वथा मिल जाते हैं। यही मकार का संसृष्ट भाव है। शब्दसृष्टि में जो स्वरूप मकार का है, अर्थसृष्टि में वही स्वरूप विश्व का है। विश्व को संसृष्टिभाव के कारण ही सृष्टि, किंवा सृष्टब्रह्म कहा जाता है। अग्नि-सोम के आत्यन्तिक स्पर्श से ही सृष्टात्मक विश्व का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। अर्थविद्या में सर्वान्तिरतम आनन्द है, सर्वबहिः अन्नरूपा वाक् है। तैत्तिरीय उपनिषत् ने आत्मब्रह्म को **आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-अन्न**–इन पाँच कोशों में विभक्त माना है। पाँचों में आनन्द सर्वान्तिरतम है, अन्न सर्वबहिः है। अन्न ही वाक् है। वाक् ही आकाश है। यह मर्त्य आकाश ही बलचिति की वृद्धि से **आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी** इन पाँच महाभूतों में परिणत हो रहा है। पंचमहाभूतों की समष्टि ही वाग्रूप अन्नमयकोश है। यही उस आत्मा का विश्वनामक सृष्टरूप है। आनन्दमय कोश सर्वथा विविक्त (असंसृष्ट) रूप है। ठीक इसी तरह शब्दविद्या में सर्वान्तिरतम अकार है, सर्वबहिः मकार है। मकार को अन्नमय कोश समझिए, अकार को आनन्दमय कोश समझिए। अर्थविद्या में–' **आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसं-**

विशन्ति" इस श्रुति के अनुसार जिस प्रकार सर्वथा विविक्त, असंस्पृष्ट आनन्द ही अन्नपर्य्यन्त सम्पूर्ण भूतों का प्रभव प्रतिष्ठा परायण बनता है, इसी प्रकार शब्दविद्या में भी–**"अकारो वै सर्वावाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"**–इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सर्वान्तरतम, सर्वथा विविक्त असंस्पृष्ट अकार ही मकारपर्य्यन्त सम्पूर्ण वर्णसृष्टि का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण बनता है। जिस प्रकार अग्नि-सोम के सम्बन्धतारतम्य से सम्पूर्ण क्षरविश्व उत्पन्न हुआ है, एवमेव अग्निस्थानीय ऊष्मा, सोमस्थानीय स्पर्श के सम्बन्धतारतम्य से ही क्षरात्मिका वर्णसृष्टि हुई है। अस्तु, इन सब विषयों का निरूपण–**"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" "ओं तत्सदिति निर्देशः" "अक्षराणामकारोऽस्मि"** इत्यादि स्थलों में होने वाला है। अतः प्रकृत में विशेष उपबृंहण की आवश्यकता नहीं है।

उक्त स्थिति से यहाँ हमें यही कहना है कि संकेतविद्या के अनुसार मकार विश्व का वाचक माना गया है। कारण, दोनों ही सर्वबहिः एवं संस्पृष्ट होने के कारण समानधर्म्मा हैं। विश्व भी पूर्ण स्पृष्ट है, बहिःस्थान है, अन्नमय है, (सोममय है)। इधर मकार भी पूर्णस्पृष्ट है, बहिःस्थान है, अन्नमय है, (स्पर्शप्रधान है)। विश्व क्षर–प्रधान है। क्षर की प्रतिष्ठा· प्राणतत्त्व है। प्राणसूत्र ने ही क्षर कूटात्मक विश्व का विधरण कर रक्खा है। विश्व के जिस भौतिक पदार्थ में से विधर्त्ता प्राण निकल जाता है, उस वस्तु के क्षर परमाणु श्लथ बन जाते हैं। वस्तु निष्प्राण (बेदम) हो जाती है। विश्व प्राणपर ही प्रतिष्ठित है। क्षर अक्षर पर ही प्रतिष्ठित है। जैसा कि–**"ययेदं धार्यते जगत्"** इत्यादि में स्पष्ट होने वाला है। विश्व प्राणात्मक है, यही तात्पर्य्य है। इस प्राणतत्त्व का सूचक ही दूसरा **"अन्"** भाग है। **"अनिति प्राणने"** इस पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार **"अन्"** धातु प्राणतत्त्व का ही सूचक है। मकार विश्व का वाचक हुआ, **"अन्"** प्राण का वाचक हुआ। दोनों की समष्टि प्राणात्मक विश्व की द्योतिका बनी। म् (विश्वम्)-अन्-(प्राणः) प्राणात्मकं विश्वमेव **"मन्"**। अब शेष रहा **"अस्"** भाग। **"असु गति-क्षेपणयोः** के अनुसार **"अस्"** धातु गति का ही वाचक है। विश्व क्षरप्रधान बनता हुआ जड़ है, उसमें क्रिया नहीं है। क्रिया किंवा गति प्राण का धर्म्म है। प्राणसम्बन्ध से ही विश्व गतिशील बन रहा है। यह गतितत्त्व प्राण प्राणत्-अपानत् स्वभाव से आदानविसर्गात्मक बन रहा है, जैसा कि–**"विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः"** इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। आदानभाव संकल्प है, ग्रहण है। विसर्गभाव विकल्प है, त्याग है। प्रत्येक पदार्थ दोनों भावों से नित्य आक्रान्त हैं। इसी वृत्ति से विश्व का अस्तित्त्व है। आदानविसर्गात्मक यज्ञ ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। इसी यज्ञवृत्ति का सूचक **"अस्"** है। मन् अस् की समष्टि मनस् है। मनस् ही **"मनः"** है। भौतिक पदार्थों का समन्वय, संकल्प विकल्प का समन्वय जो तत्त्व है, उसी का नाम "म्"-अन्-अस् के समन्वय से **"मनस्"** है। भौतिक विषयों में स्वाभाविक आसक्ति, उनको छोडने लेने की स्वाभाविक वृत्ति मन का प्रातिस्विक स्वभाव है। यह मन कभी काममय नहीं बन सकता। इसमें केवल इच्छा का विकास है। काम में मन की स्वरूप–उच्छित्ति है, इच्छा मन की स्वरूप-रक्षा है। कम्-सुख है, आनन्द है। आनन्द में ओतप्रोतमन ही काम है। कैसा आनन्द ? आत्मानन्द। आनन्दमयकोशानुगामी मन ही काममय कहा जाता है। ठीक इसके विरुद्ध अन्न में प्रसुप्त मन ही इच्छा है। मध्य में मन को प्रतिष्ठित समझिए। इसके अन्तर्जगत् की ओर आत्मा, बहिर्जगत् की ओर अन्नात्मक विषय समझिए। विषयानुगत वही मन इच्छारूप में परिणत हो जाता है,

आत्मानुगत वही मन कामरूप में परिणत हो जाता है। मन में हमने न्-मन्-अस् तीन विभाग बतलाए हैं। इनमें मकार ही सोम है, यही भूतमात्रा का अनुग्राहक बनता है। अन् प्राणमय चिदंश है, यही प्रज्ञामात्रा का अनुग्राहक है। अस् स्वयं प्राण है, यही प्राणमात्रा का अनुग्राहक है। विषयानुगति में मनस् का सोममय मकार भाग प्रबल हो जाता है, अन्रूप चिदंश (ज्ञान) भाग निर्बल हो जाता है। यही मन की अन्न में सुषुप्ति है। यही इद् तत्र सुप्तं मनः के अनुसार इच्छा है। यह इच्छा ही आसक्ति का मूल है। आसक्ति ही मन के बन्धन का कारण है। आसक्तिवश संस्कार दृढमूल बनते हुए सङ्गरूप में परिणत हो जाते हैं। संग ही कामक्रोधादिका जनक बनता हुआ बुद्धिनाशपूर्वक आत्मावरण का कारण बन जाता है। जैसा कि आगे के उपदेश में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। संस्कारग्रन्थिबन्धन ही अविद्या है। अविद्यामय मन की कृपा से बुद्धि का अविद्याभाग प्रबल बन जाता है। फलतः बुद्धियुक्त आत्मा का अविद्याभाग भी प्रबल बन जाता है। इसी का नाम आत्मवैषम्य है। एक ओर कम भार दूसरी ओर अधिक भार–यही विषमता है। इस प्रकार "यद्वा अनीशानो भारमादत्ते वि वा स लिशते" इस आदेश के अनुसार अविद्याभाररूप मोह से ग्रस्त, अनीशान मन-बुद्धि को भारग्रस्त बनाता हुआ समत्त्वयोग का उच्छेदक बन जाता है। यही प्रज्ञा की अस्थिरता है! अनीशया शोचति मुह्यमानः।

ठीक इसके विपरीत यदि मन आत्मानुगामी रहता है तो इस समय इसका चिदंश उपकृत होता हुआ सोमनिर्बलता का कारण बन जाता है। सोम के निर्बल होते ही आत्मकाम जागृत हो जाता है। मन विषयों के फन्दे से निकलकर बुद्धिरूप में परिणत हो जाता है। यही अमनस्कयोग है। मन का नाश नहीं है, मन की बन्धनवृत्ति का नाश है। सांख्याभिमत लययोग तो नितान्त अशुद्ध ही है। मन का उच्छेद हो जाता है, इसका तात्पर्य्य सङ्गोच्छेद से ही है। काममय ऐसा मन कर्म्म करता है, संस्कार आते हैं, इनके भार से विद्या भी नहीं बढने पाती, ग्रन्थिबन्धन के अभाव से अविद्या भी नहीं बढने पाती। उदाहरण के लिए यों समझिए कि अटलान्टिक महासागर में एक जहाज जा रहा है। विषमता के कारण सहसा वह डगमगाने लगता है। तत्काल नाविक उसमें पत्थर भरने लगते हैं। पत्थरों से समत्वयोग का उदय होता है। जहाज पुनः अपने स्वरूप में आ जाता है, विषमता हट जाती है। यदि पत्थरों को रज्जु आदि से जहाज में सदा के लिए दृढमूल बना दिया जायगा तो समत्त्वप्रतिपादक वे ही पत्थर ग्रन्थिबन्धन के कारण किसी समय विषमता का कारण बन जाएँगे। पत्थर अवश्य अपेक्षित हैं, ग्रन्थिबन्धन अपेक्षित नहीं है। यही परिस्थिति यहाँ है। यदि कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग कर दिया जाएगा तो संस्कार निवृत्त हो जाएंगे। विद्या प्रबल बन जाएगी, अविद्या (आत्मकर्म्म) हलका हो जाएगा। जिस प्रकार अविद्याप्राबल्य से आत्मा समतुलन के अभाव से विषम बन गया था, एवमेव विद्याप्राबल्य से भी आत्मा विषम बन जाएगा। ऐसी अवस्था में विद्या-अविद्या दोनों की समता आवश्यक हो जाती है। एतदर्थ पाषाणस्थानीय कर्म्मसंस्कार अपेक्षित हैं। इनका बन्धन ही प्रत्येक दशा में अनपेक्षित है। बन्धनाभाव प्रज्ञा की स्थिरता है। सममन से बुद्धि में समत्त्वयोग का उदय है। ऐसी स्थिरप्रज्ञा एक प्रकार से धी (बुद्धि) ही बन जाती है, इसीलिए भगवान् ने "स्थितप्रज्ञः, स्थितधीः" का पर्य्याय सम्बन्ध मान लिया है। जब प्रज्ञा स्थिर हो जाती है तो हर्ष-शोक दोनों में आत्मा अविचाली

रहेगा। **"समदुःखसुखी धीरः"** **"समलोष्टाश्मकाञ्चनः"** **"सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते"**। यदि कोई गाली देगा तो गाली का अनुभव अवश्य होगा, कोई सन्मान करेगा तो उसका भी अनुभव अवश्य होगा। क्योंकि अनुभव विद्या (ज्ञानबुद्धि) का धर्म्म है। परन्तु गाली के अनुभव से जो दुःख एवं सन्मान के अनुभव से जो हर्ष का उदय होता है, वह न होगा। कारण, स्थितप्रज्ञता के कारण विज्ञान स्थिर है, विज्ञानस्थैर्य से आत्मबल का उदय है। आत्मबलोदय से विज्ञानबलोदय है। विज्ञान बलोदय से प्रज्ञान सबल है। फलतः दोनों ही अवस्थाओं में क्षोभ शान्त है। इसी वृत्ति का नाम **"स्थित प्रज्ञता है"**। वही व्यक्ति **"स्थितप्रज्ञ"** कहलाता है। जिसकी प्रज्ञा अस्थिर है, वह आत्मबल से वञ्चित है। फलतः गाली के अनुभव से उसका मन नत होकर हाय-हाय करने लगता है। सम्मानानुभव से उसका मन उन्नत होकर अहाहा करने लगता है। अवनति की तरह उन्नति भी क्षोभ का कारण है। नीचे गिरना अवनति है। ऊपर चढ़कर गिरना उन्नति है। उद् नति ही तो उन्नति है। नति (पतन) दोनों में समान है। उर्ध्व गमन, अधोगमन दोनों अवस्थाओं में स्थानच्युति है।

"इन्द्रियाणि-मनो-बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते" के अनुसार आत्मविकास के इन्द्रिय-मन-बुद्धि–तीन ही द्वार हैं। विषयसंस्कारग्रन्थिबन्धन से इन्द्रियाँ दुष्ट हो जाती हैं। इन्द्रियदोष से प्रज्ञान मलिन हो जाता है। प्रज्ञानमालिन्य से बुद्धि का अविद्याभाग (सजातीयसम्बन्ध से) मलिन हो जाता है। फलतः बुद्धिसहकृत विद्याकर्म्ममय अव्ययात्मा का अविद्या (कर्म्म) भाग सबल बनता हुआ विद्याह्रास का कारण बन जाता है। द्वन्द्वसहिष्णुता जाती रहती है। क्षोभ का साम्राज्य हो जाता है। करना क्या चाहिए ? जैसे बने, आत्मबल बढाना चाहिए। **"आत्मनि विद्याविद्ययोः समत्वोपपत्तिरात्मबलम्"**–**"अव्यय विद्याभागे विद्याबुद्धियोगाद्आत्मविद्याविद्ययोः साम्योपपत्तिरात्मबलम्"** इत्यादि लक्षणों के अनुसार अव्ययात्मा में विद्या-अविद्या नाम के दोनों धातुओं का सम बन जाना ही आत्मबल है। इससे इन्द्रियप्रज्ञान में, प्रज्ञान बुद्धि में, बुद्धि आत्मा में स्थिर हो जायगी। वैषम्य जाता रहेगा। इसी समत्वयोग का प्रतिपादन करती हुई उपनिषत्-श्रुति कहती है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ इति ॥[1]

उक्तलक्षण स्थितप्रज्ञतारूपबुद्धियोग का आदेश मिलते ही एक बार अर्जुन आश्चर्यचकित बन जाता है। सहसा भगवान् से प्रश्न कर बैठता है कि भगवन् ! बुद्धियोग की प्राप्ति से प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, प्रज्ञा की स्थिरता से बुद्धि निश्चला बनती हुई अचलरूप से समाधि में प्रतिष्ठित हो जाती है– यह आपने आदेश दिया है। कृपा कर अब मुझे यह बतलाइए कि–**समाधि में प्रतिष्ठित उस स्थितप्रज्ञ की "भाषा" क्या है ? बुद्धियोग किंवा स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?** अर्जुन की इस जिज्ञासा का कई प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। पहले काकुदृष्टि से जिज्ञासा का

१ गीता ३।४०।

समन्वय कीजिए। बुद्धियोगी कर्म्म करेगा, परन्तु उदासीन बन कर, फलाशा छोड़ कर। उदासीनभाव में विकास नहीं देखा जाता। फलमुख एक संसारी हर्ष से उन्मत्त रहता है। गाता है, बजाता है, खेलता है, हंसता है, कूदता है। ऐसे व्यक्तियों से ही संसार में चहल-पहल रहती है। कहीं नाच हो रहा है, कहीं बाजे-गाजे बज रहे है, कहीं मित्रगोष्ठियाँ हो रही हैं, कहीं वन-विहार हो रहा है, कहीं विनोद वार्त्ता चल रही है। सच पूछिए तो फलानुगत संसारियों का ही बोलना-बोलना है, उन्हीं का बडी शान से भव्यवेशभूषा से सज-धज कर बैठना-बैठना है, उन्हीं का विविधयानों में बैठकर अथवा साथियों को साथ लेकर चलना-चलना है। खाना-पीना-बैठना-चलना-हंसना सब कुछ ऐसे ही व्यक्तियों में फबता है। भला, इन सब काम्यफलों से उदासीन एक जड़यन्त्रवत् दूसरे की प्रेरणा से स्थाणुवत् कर्म्म करने वाले की क्या परिभाषा की जा सकती है ? उसका बोलना-चलना-बैठना क्या मूल्य रखता है ? न कर्म्म जनित फल की आशा, न हर्षावसरों में अट्टहास। ऐसे शून्यव्यक्ति का बोलना, क्या बैठना, क्या चलना ? यदि सभी ऐसे बन जायें तो संसार अरण्य की उपमा चरितार्थ करने लगे। इस प्रकार के काकुभाव को लक्ष्य में रखने वाले अर्जुन की जिज्ञासा का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि भगवन् ! आपने जिस बुद्धियोग निष्ठा का निरूपण किया है, उसमें और कोई अलक्ष्य लाभ भले ही हो, परन्तु जीवन में जो एक उल्लास देखा जाता है, वह तो बुद्धियोगी में क्या होगा ? अर्जुन के इसी काकु का उच्छेद करने के लिए भगवान् को सात श्लोकों से स्थितप्रज्ञ योगी की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन करना पड़ा।

उक्त जिज्ञासा को कुतूहलपरक भी लगाया जा सकता है। बुद्धियोग का स्वरूप सुनते ही अर्जुन को कुतूहल हुआ कि भला जिस की प्रज्ञा स्थिर हो जाती होगी, वह कैसे क्या बोलता होगा, कैसे बैठता होगा, कैसे चलता होगा ? इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सात श्लोकों से भगवान् को स्थितप्रज्ञ की जीवनचर्य्या का स्वरूप अर्जुन के सामने रखना पड़ा।

उक्त जिज्ञासा को विशुद्ध जिज्ञासापरक भी लगाया जा सकता है। स्थितप्रज्ञतालक्षण बुद्धियोग का स्वरूप सुनते ही अर्जुन को यह जानने की इच्छा हुई कि स्थितप्रज्ञ को किस समय क्या बोलना चाहिए, किस समय कहाँ कैसे बैठना एवं चलना चाहिए ? किन उपायों से, किस प्रकार की जीवनचर्य्या से स्थितप्रज्ञता सुरक्षित रह सकती है ?

उक्त जिज्ञासा को स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति की जिज्ञासापरक भी लगाया जा सकता है। सर्वथा अश्रुतपूर्व, अभूतपूर्व, सर्वश्रेष्ठ बुद्धियोग का स्वरूप अर्जुन के सामने आया। उसकी वृत्ति उधर झुकी। परन्तु अभी तक भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कोई ऐसा उपाय नहीं बतलाया था कि जिससे अर्जुन स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लेगा। फलतः-सर्वोतम बुद्धियोग की ओर आकर्षितमना अर्जुन के हृदय में इस जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक था कि भगवन् ! बुद्धियोगलक्षण स्थितप्रज्ञता किस प्रकार बोलने, बैठने, चलने से मिल सकती है ? किन उपायों से प्रज्ञा में स्थिरता आ सकती है ? बस, अर्जुन की इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए—"प्रजहाति" यहाँ से उपदेश आरम्भ होता है। इन सात श्लोकों से भगवान् ने स्थितप्रज्ञताप्राप्ति के ६ उपाय बतलाए हैं। साथ ही में यह भी निश्चित है कि इन ६ उपायों से अतिरिक्त कोई सातवाँ उपाय है भी नहीं, जिससे प्रज्ञा में स्थिरता का उदय हो जाय।

वे ६ओं उपाय १-तुष्टि, २-प्रेय, ३-श्रेय, ४-तृप्ति, ५-अनशन, ६-इन्द्रियवशीकार-इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। इसी क्रम से भगवान् ने १-१-१-१-१-२-इस प्रकार सात श्लोकों से ६ ओं का स्वरूप बतलाया है। इन ६ उपायों से क्रमशः-१-तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता, २-श्रेयोऽनासक्तिमूलास्थि०, ३-श्रेयोऽनासक्तिमूलास्थि०, ४-तृप्तिमूलास्थि०, ५-अनशनतपोमूलास्थि०, ६-इन्द्रियवशीकारमूलास्थि० ये ६ स्थितप्रज्ञताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ६ओं में से किसी एक का अनुष्ठान कर लेने से प्रज्ञा में स्थिरता आ जाती है। विज्ञानदृष्टि से इन ६ओं का-तुष्टि, तृप्ति, श्रेय, प्रेय, अनशन, वशीकार यह क्रम समझना चाहिए। साथ ही में तुष्टि-तृप्ति का एक स्वतन्त्र युग्म, श्रेय-प्रेय का एक स्वतन्त्र युग्म एवं अनशन-वशीकार का एक स्वतन्त्र युग्म-इस प्रकार तीन युग्म समझने चाहिएँ। इस क्रम के अनुसार प्रकृत प्रकरण का निम्नलिखित रूप से समावेश करना चाहिए—

स एष वैज्ञानिकक्रमविभागः—

(१) १-तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता—

१-प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ (गीता २।५५)

(२) २-तृप्तिमूला स्थितप्रज्ञता—

२-यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (गीता २।५८)

—१—

(३) १-प्रेयोऽनासक्तिमूला—

३-दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (गीता २।५६)

(४) २-श्रेयोऽनासक्तिमूला—

४-यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (गीता २।५७)

—२—

(५) १–अनशनतपोमूला—

५–विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ।। (गीता २।५६)

(६) २–इन्द्रियवशीकारमूला—

६–यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।। (गीता २।६०)

७–तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। (गीता २।६१)

——३——

——०——

१–१–तुष्टिः } →१
२–२–तृप्तिः

३–१–प्रेयः } →२
४–२–श्रेयः

५–१–अनशनम् } →३
६–२–वशीकारः

पाठक प्रश्न करेंगे कि जब उक्त क्रम ही वैज्ञानिक है तो विज्ञानाचार्य भगवान् ने उसका समादर न कर विपरीत क्रम का आश्रय क्यों लिया ? इसका एक विशेष कारण है । वह विशेषकारण है स्थितप्रज्ञताओं की सजातीयता एवं अधिकारीभेदमूला क्रमिकोपदेशव्यवस्था । तुष्टि, श्रेयस् सजातीय हैं, श्रेयस्-तृप्ति सजातीय हैं, अनशन-वशीकार सजातीय हैं । इसमें भी स्थूलारुन्धतीन्याय के अनुसार तुष्टि पहली श्रेणी में है, प्रेय दूसरी श्रेणी में है, श्रेयस् तीसरी श्रेणी में है, तृप्ति चौथी श्रेणी में हैं । इन चारों श्रेणियों का एक स्वतन्त्रविभाग है । युक्तयोगी ही इन चारों स्थितप्रज्ञताओं के अधिकारी हैं । अनशन-वशीकार इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है । युञ्जानयोगी ही इन दोनों स्थितप्रज्ञताओं के अधिकारी हैं । अनशन से इन्द्रियवशीकारवृत्ति का उदय होता है, इन्द्रियवशीकार से तुष्टि का उदय होता है, तुष्टि से श्रेयोऽनासक्ति का, इससे प्रेयोऽनासक्ति का, सर्वान्त में तृप्ति का उदय होता है । इस क्रम को देखते हुए यदि आप पुनः प्रश्न करें कि ऐसी दशा में तो १–अनशन, २–इन्द्रियवशीकार, ३–तुष्टि, ४–प्रेय, ५–श्रेय, ६–तृप्ति यह क्रम रखना चाहिए था, फिर १–तुष्टि, २–प्रेय, ३–श्रेय, ४–तृप्ति, ५–अनशन, ६–वशीकार यह क्रम क्यों रक्खा गया ? इस प्रश्न का समाधान अर्जुन की जिज्ञासा है । अर्जुन स्थितप्रज्ञ की भाषा (परिभाषा) पूछ रहा है । जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है । इसी को "युक्तयोगी" "योगनिष्ठयोगी" "सिद्ध" आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । जो प्रज्ञा को स्थिर करने

के प्रयास में लगा रहता है, उसे स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जा सकता। वह तो युञ्जानयोगी कहलाता है। चूँकि अर्जुन युक्तयोगी की परिभाषा पूछ रहा हैं, अतः भगवान् ने चतुर्द्धाविभक्त युक्तयोगियों से सम्बन्ध रखने वाली तुष्टि-प्रेय-श्रेयस्-तृप्ति-इन चारों का ही पहले निरूपण करना आवश्यक समझा है। साथ ही में अर्जुन की जिज्ञासा स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति के उपाय से भी सम्बन्ध रखती है, इसलिए आगे जा कर भगवान् को उपायभूता अनशन-वशीकारमूला (युञ्जानयोगी से सम्बन्ध रखने वाली) स्थितप्रज्ञताओं का भी निरूपण करना पड़ा।

— — ०— —

१–तुष्टि का अन्न से सम्बन्ध है। अन्न का भोग से सम्बन्ध है। भोग का भोक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा से सम्बन्ध है। न केवल तुष्टि का ही, अपितु–**२–प्रेय, ३–श्रेय, ४–तृप्ति, ५–अनशन, ६–वशीकार** इन ६ओं ही वृत्तियों का एकमात्र कर्म्मात्मा के साथ ही सम्बन्ध है। कर्म्मात्मा का **अनुग्राहक** निगूढोत्मा का क्षर-भाग है। एवं महानात्मा का अनुग्राहक निगूढोत्मा का अक्षरभाग है एवं विज्ञानात्मा का अनुग्राहक निगूढोत्मा का अव्ययभाग है। अध्यात्मसंस्था में **भूतात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा–इन तीन आत्म-**

१–प्राकृतिक आत्मसंस्थाक्रमः—

१ आत्मसत्यः	१–पञ्चकलो विद्या–कर्म्ममयः—--अव्ययपुरुषः (१)	→निगूढोत्मा	विराट्पुरुषः
	२–पञ्चकलो गति–स्थितिमयः—-अक्षरपुरुषः (२)		
	३–पञ्चकलः ——तेजःस्नेहमयः–-आत्मक्षरपुरुषः (३)		
२ ब्रह्मसत्यः	१–त्रिकलः——-गत्यागतिमयः–-अव्यक्तात्मा (४)	→भूतात्मा	
	२–त्रिकलः ———-रयिप्राणमयः–-महानात्मा (५)		
	३–त्रिकलः——--विद्या-अविद्यामयः-विज्ञानात्मा (६)		
	४–त्रिकलः --——-संकल्पविकल्पमयः–प्रज्ञानात्मा (७)		
३ देवसत्यः	१–त्रिकलः———-ज्ञानक्रियार्थमयः–कर्म्मात्मा (८)		
	१–त्रिकलानिः–-प्रज्ञा-प्राण-भूतमयानि–इन्द्रियाणि (९)		
४ यज्ञसत्यः	१–त्रिकलं—— –बीज–-देव-भूतमयं-शरीरम् (१०)	→बहिर्भागः	

विवर्त्तों की प्रधानता है । तीनों की समष्टि का मूलाधार अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टिरूप निगूढआत्मा है । इस आत्मसंस्था को तीन तरह से विभक्त किया जा सकता है । पहले अव्ययदृष्टि से ही आत्मसंस्था का विचार कीजिए । चूंकि अव्यय विज्ञानात्मा का अनुग्राहक है, जैसा कि–"इन्द्रो ह वै षोडशी" इत्यादि से प्रसिद्ध है, अतः अव्ययात्मा से दूसरी श्रेणी में विज्ञानात्मा समझिए । विज्ञानात्मा से संलग्न प्रज्ञान (अन्तर्मन-आत्म-काममय, अतएव निष्काममन) है । प्रज्ञान से संलग्न इन्द्रियवर्ग (अनासक्त मन की अनासक्त कामना के प्रभाव से असंगरूप से भौतिक विषयों का ग्रहण करने वाली संयत इन्द्रियाँ) हैं । इन्द्रियवर्ग से संलग्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ मूर्त्ति, अतएव ज्ञान-क्रिया-अर्थमय भूतात्मा (अन्तर्मन एवं संयत इन्द्रियों की कृपा से कर्म्म में,

---

२–सैषा एकाक्षराधिका भुरिक् विराट् चत्वारिंशिनी-परमा—

१–(१)—१–आनन्दः, २–विज्ञानम्, ३–मनः, ४–प्राणः, ५–वाक्—(अव्ययः) । (५)

२–(२)—१–ब्रह्मा, २–विष्णुः, ३–इन्द्रः, ४–सोमः, ५–अग्निः—(अक्षरः) । (५)

३–(३)—१–प्राणः, २–आपः, ३–वाक्, ४–अन्नम्, ५–अन्नादः—(क्षरः) । (५)

—०—

४–(१)—१–वेदाःसत्यम्, २–सूत्रं सत्यम्, ३–नियतिःसत्यम्—(अव्यक्तः) । (३)

५–(२)—१–सत्त्वम्, २–रजः, ३–तमः—(महान्) । (३)

६–(३)—१–ज्योतिः, २–प्राणः, ३–आयुः—(विज्ञानम्) । (३)

७–(४)—१–कामः, २–मनः, ३–इच्छा—(प्रज्ञानम्) । (३)

—०—

८–(१)—१–वैश्वानरः, २–तैजसः, ३–प्राज्ञः—(कर्म्मात्मा) । (३)

९–(१)—१–प्रज्ञानम्, २–कर्म्म, ३–प्रज्ञातम्—(इन्द्रियाणि) । (३)

१०–(१)—१–स्थूलम्, २–सूक्ष्मं, ३–कारणम्—(शरीरम्) । (३)

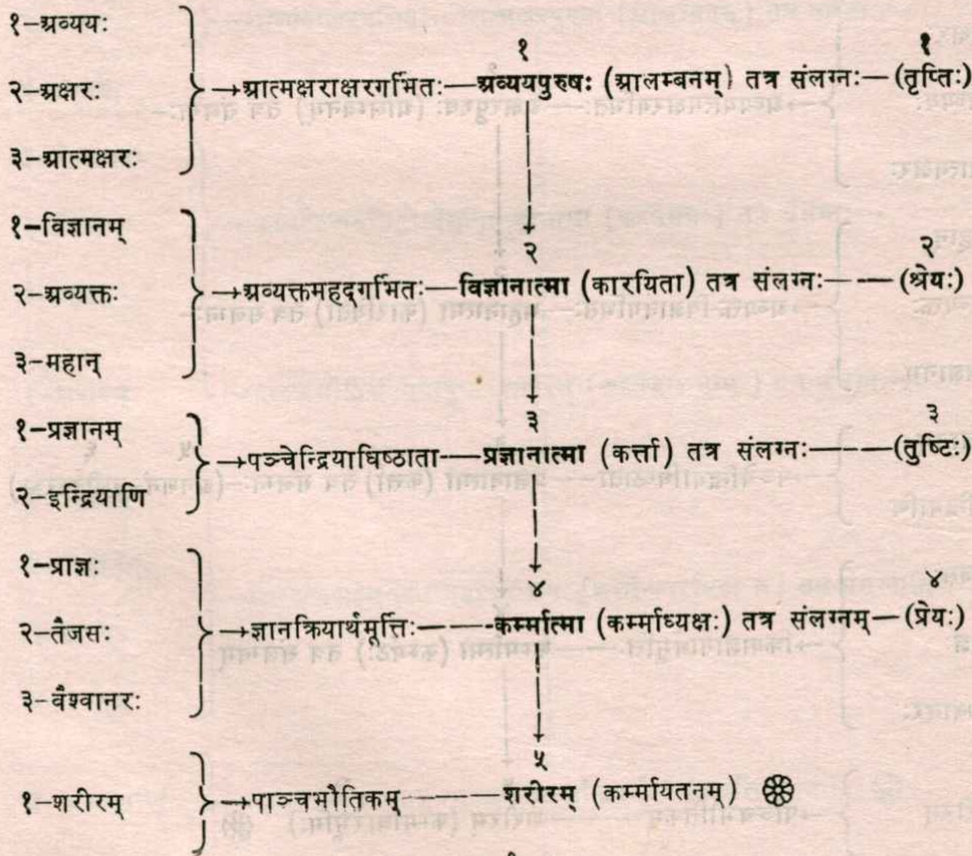
—०— ४१

(न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्यामित्याहुः)

—०—

किंवा भौतिकप्रपञ्च में सतत रत रहता हुआ भी कर्म्मलेप से सर्वथा मुक्त असंग भूतात्मा) है। भूतात्मा से संलग्न पाञ्चभौतिक शरीर है। इस संस्थाक्रम में बुद्धियोगनिष्ठा का पूर्ण उदय है। कारण, इसमें विज्ञानात्मा (बुद्धि) का समत्वयोगप्रवर्त्तक विद्या-कर्म्ममय अव्यय के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। अव्यक्त और महान् दोनों यहाँ विज्ञानात्मा में अन्तर्भूत हैं। अक्षर और क्षर दोनों अव्ययगर्भ में विलीन हैं। जिन महापुरुषों की अध्यात्मसंस्था में उक्त क्रम का उदय हो जाता है, उनका भूतात्मा बुद्धियोग के प्रभाव से कृतकृत्य हो जाता है। अतएव इन्हें "कृतात्मा" (संपन्नात्मा) कहा जाता है, जैसा कि सातवें उपदेश में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यही पहली, मुख्या एवं सर्वश्रेष्ठ आत्मदृष्टि है। इसी के लिए **तुष्टि-प्रेय-श्रेय-तृप्ति** इन चार स्थितप्रज्ञताओं का निरूपण हुआ है। ऐसे ही स्थितप्रज्ञ को **आरूढ, युक्त, सिद्ध,**

१–प्रथम–आत्मसंस्थाक्रमः (अस्य च कृतात्मानो युक्तयोगिन एवाधिकारिणः)–



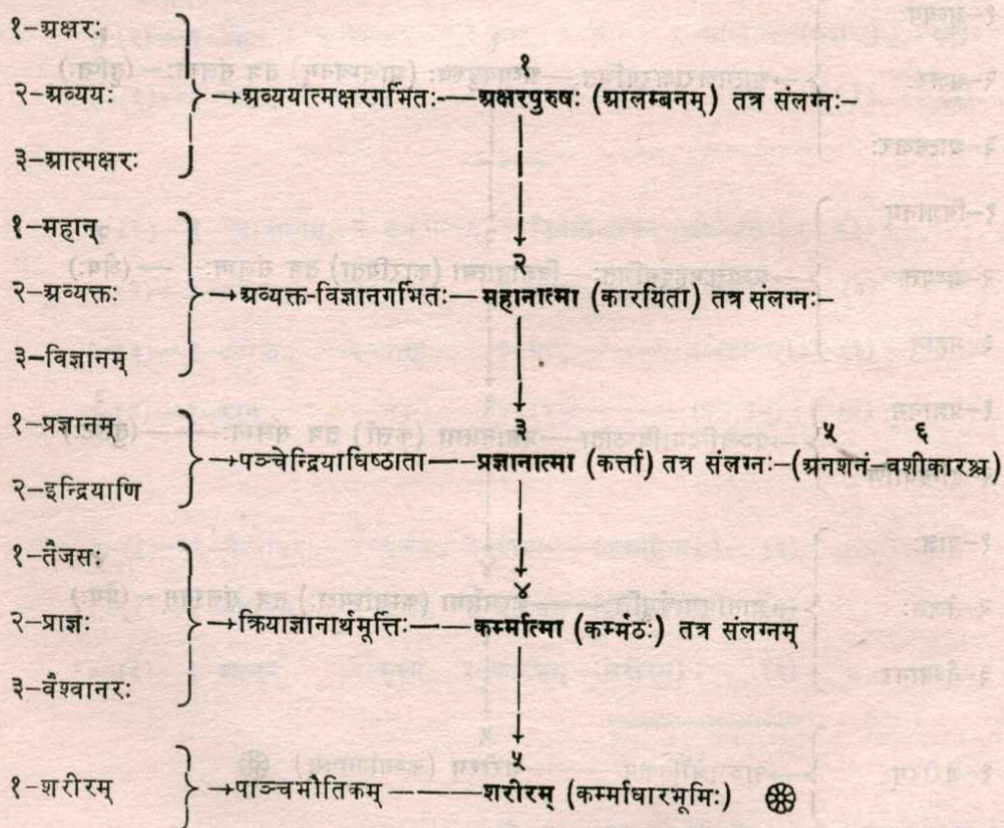
—१—

—०—

स्थितप्रज्ञ, स्थितधी, आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यद्यपि सभी आत्मप्रपञ्चों का यहाँ समावेश है, परन्तु प्रधानता अव्ययपुरुष एवं विज्ञानात्मा (बुद्धि) की है। अतएव हम इसे **"सिद्धबुद्धियोगसंस्थाक्रम"** नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

दूसरी **अक्षरसंस्था** है। इसका महानात्मा से सम्बन्ध है। यही अक्षर महानात्मा के सम्बन्ध से जीव सृष्टि का स्वरूपसमर्पक बनता है। अव्ययपुरुष स्वतन्त्ररूप से कभी महद्गर्भ में प्रतिष्ठित नहीं होता अतएव इसे 'अज" कहा जाता है। परन्तु यह पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध अक्षर से नित्य संश्लिष्ट रहता है, उधर अक्षर गर्भ में आता है, अतएव तत्सम्बन्ध से अव्यय को भी सम्भूति मानली जाती है, जैसा कि—

२–द्वितीय आत्मसंस्थाक्रमः (अस्य च विधेयात्मानो युञ्जानयोगिन एवाधिकारिणः)—



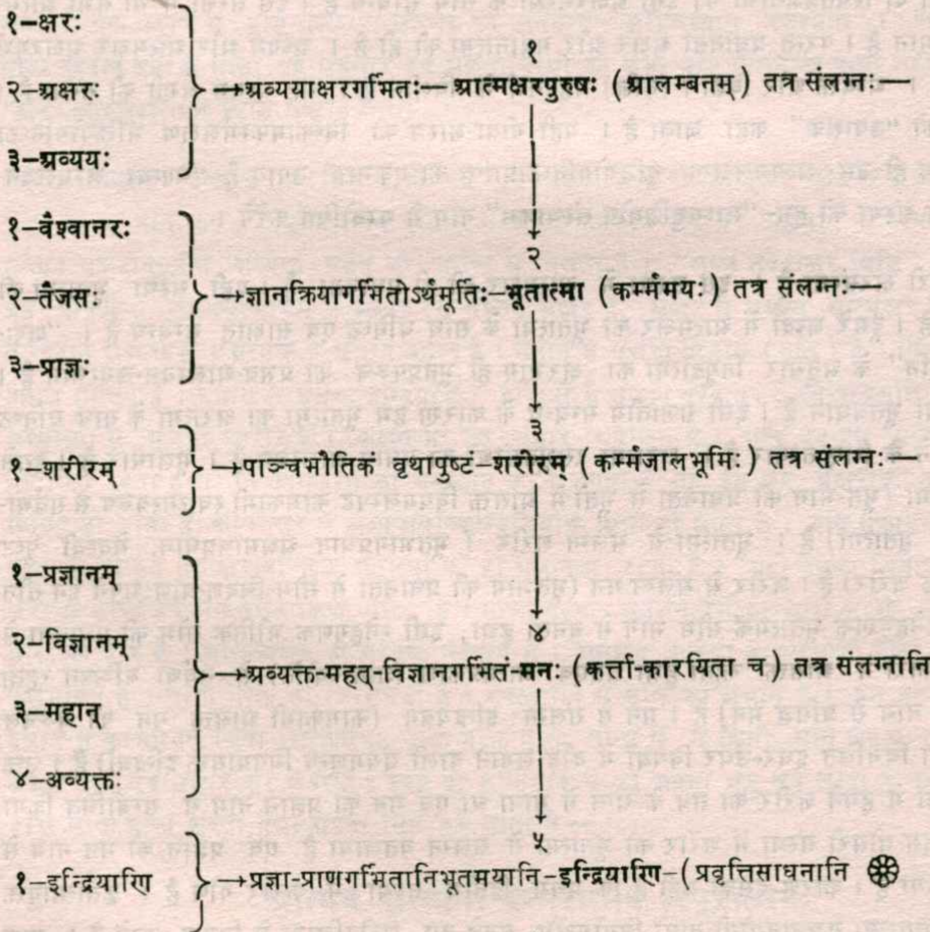
—२—

—०—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" ।। (गीता ४।६)

इत्यादि से स्पष्ट है । कहना यही है कि अक्षरसंस्थाक्रम में अक्षर मूलाधार है । इससे संलग्न महानात्मा है । महानात्मा से संलग्न प्रज्ञान (अभ्यास द्वारा आसक्ति छोडता हुआ, आसक्ति छोडने का अभ्यास करता हुआ अतएव आंशिकरूप से अन्तर्मन बना हुआ असंगभाव प्रधान मन) है । प्रज्ञान से

३–तृतीय-आत्मसंस्थाक्रमः (अत्र प्रतिष्ठिता अकृतात्मानो नष्टा अनधिकारिणः)–



—३—

—०—

संलग्न इन्द्रियवर्ग (अनासक्ति का अभ्यास करते हुए मन की कृपा से विषयों की अनासक्ति से संयम के अभ्यास पर चढी हुई अतएव असंगभावप्रधाना इन्द्रियाँ) है । इन्द्रियों से संलग्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति अतएव ज्ञानक्रियार्थमय भूतात्मा (असंगभावप्रधान भूतात्मा) है । भूतात्मा से संलग्न शरीर है । इस अवस्था में भूतात्मा ग्रन्थिबन्धनलक्षण आसक्ति के छोडने का (निष्काम कर्म्म द्वारा) अभ्यास कर रहा है । इसी अभ्यास की कृपा से क्रमशः यह पूर्वोक्त अव्ययसंस्था की ओर चढ रहा है । अभी चढा नहीं है, चढने का अभ्यास कर रहा है । आरूढ नहीं है, आरुरुक्षु है । कृतात्मा नहीं है, विधेय आत्मा है । यदि यह अभ्यास में सफल हो गया, दूसरे शब्दों में योगभ्रष्ट न हुआ तो कालान्तर में यही विधेयात्मा, किंवा आरुरुक्षु उस अव्ययलक्षण बुद्धियोगनिष्ठा को प्राप्त करता हुआ कृतात्मा किंवा आरूढ बन जायगा । युञ्जानयोगी युक्तयोगी बन जायगा । साध्य आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो जायगा । **अनशन** और **वशीकार** नाम की दो स्थितप्रज्ञताओं का इसी अक्षरसंस्था के साथ सम्बन्ध है । इस संस्था में भी सभी आत्मप्रपञ्च विद्यमान हैं । परन्तु प्रधानता अक्षर और महानात्मा की ही है । अव्यय और आत्मक्षर अक्षरगर्भ में विलीन हैं । अव्यक्त और विज्ञान (बुद्धि) महद्गर्भ में विलीन हैं । यह मध्यम श्रेणी की संस्था है । इसी श्रेणी को **"उपासक"** कहा जाता है । यही गीता-शास्त्र की निष्कामकर्म्मलक्षण भक्तियोगनिष्ठा है । भक्तियोग ही उस अव्ययलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठाप्राप्ति का एकमात्र उपाय है–**"भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया"** । इस संस्था को हम–**"साध्यबुद्धियोग संस्थाक्रम"** नाम से सम्बोधित करेंगे ।

तीसरी क्षरसंस्था है । इस संस्था में आत्मक्षर की ही प्रधानता है । यही संस्था भूतात्मा की अनुग्राहिका है । दूसरे शब्दों में आत्मक्षर का भूतात्मा के साथ घनिष्ठ एवं साक्षात् सम्बन्ध है । **"क्षरः-सर्वाणि भूतानि"** के अनुसार निगूढोत्मा का क्षरभाग ही भूतप्रपञ्च का प्रभव-आलम्बन-लयस्थान है । उधर भूतात्मा भूतप्रधान है । इसी सजातीय सम्बन्ध के कारण हम भूतात्मा का क्षरात्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध मानने के लिए तय्यार हैं । क्षरात्मा रसभूतसंस्था का प्रधान आलम्बन है । मूलाधार है । इससे संलग्न भूतात्मा (भूत-भाग की प्रधानता से भूतों में आसक्त विषयलम्पट कामकामी स्वात्मस्वरूप से सर्वथा-च्युत विषयी भूतात्मा) है । भूतात्मा से संलग्न शरीर (भूतभागप्रधान–अन्नमात्रप्रधान, मेदस्वी पुष्ट सर्वथा निकृष्ट शरीर) है । शरीर से संलग्न मन (भूतभाग की प्रधानता से सोम-चिदंश-प्राण अपने इन तीन भागों में से स्नेहगुणक भूतात्मक सोम भाग से बनता हुआ, इसी स्नेहगुणक भौतिक सोम की प्रधानता से भौतिक संस्कारों में आसक्त रहता हुआ अतएव आत्मप्रकाश (ज्ञान-ज्योति)-से सर्वथा वञ्चित रहता हुआ बहिर्मन नाम से प्रसिद्ध मन) है । मन से संलग्न इन्द्रियवर्ग (कामकामी आसक्त मन की चञ्चल प्रज्ञा से सर्वथा विचलित इधर-उधर विषयों में दौड़ लगाने वाली संयमशून्य यिषयासक्त इन्द्रियाँ) हैं । उक्त दोनों संस्थाओं में हमने शरीर को सब के अन्त में माना था एवं मन को प्रज्ञान नाम से सम्बोधित किया था । परन्तु इस तीसरी संस्था में शरीर को भूतात्मा से संलग्न बतलाया है एवं प्रज्ञान को मन नाम से सम्बोधित किया है । कारण इसका यही है कि प्रथम द्वितीय संस्था में शरीर गौण है । कृतात्मायुक्त योगी एवं विधेयात्मा युञ्जानयोगी दोनों निर्योगक्षेम बनते हुए शरीरचिन्ता से निवृत्त रहते हैं । साथ ही में उनका मन क्रमशः सिद्ध-बुद्धियोग एवं साध्य-बुद्धियोग के प्रभाव से विज्ञान एवं महत् के अनुगत रहता हुआ चिदंशभाग से प्रधान बनता हुआ प्रज्ञाभाव में परिणत रहता है । अतएव उन मनों को मन

न कह कर प्रज्ञान कहना ही उचित होता है । तृतीयसंस्थाधिकारियों का एक मन्त्र-लक्ष्य शरीर ही रहता है । इन का मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब शरीरपुष्टि में ही लगी रहती हैं । अतएव इस संस्था में शरीर का पहले निर्देश किया है एवं तत्सेवकभूत मन इन्द्रियों का समावेश शरीर से पीछे रक्खा गया है । यह प्रज्ञान-प्रज्ञा (ज्ञान) से वियुक्त रहता है । दूसरे शब्दों में ज्ञान अज्ञानावृत रहता है । **"नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य"** के अनुसार इन अयुक्तों में बुद्धि तो है ही नहीं, बुद्धि तो मनोरूप में परिणत हो रही है, साथ ही में मन का प्रज्ञान भाव भी विलुप्त है । अतएव इस संस्था में प्रज्ञान को मन नाम से व्यवहृत किया है । ऐसे ही व्यक्ति **अकृतात्मा, सर्वज्ञानविमूढ, अयुक्त, असंयतात्मा, कामकामी, भोगैश्वर्यप्रसक्त** इत्यादि नामों से सम्बोधित किए जाते हैं । यहाँ भी यद्यपि पूर्वसंस्थावत् सभी आत्मप्रपञ्चों का समावेश है । परन्तु प्रधानता क्षरात्मा एवं भूतात्मा की है । अव्ययाक्षर क्षरगर्भ में विलीन हैं । अव्यक्त, महान्, विज्ञान तीनों मन के उदर में भुक्त हैं । इस संस्था को–**"असाध्य अयोगसंस्थाक्रम"** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । इस संस्था में एक प्रकार से बुद्धिनाशद्वारा आत्मा का सर्वनाश–**"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"** । **"असंयतात्मना-योगो दुष्प्राप इति मे मतिः"** के अनुसार इन अकृतात्माओं को कभी बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती–**"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"** ।

प्राकृतिक संस्थाक्रम का विचार कीजिए । एक छोर में अव्यय है, दूसरे छोर में शरीर । शरीरस्थ में भोक्तात्मा प्रतिष्ठित है । इन्द्रिय-मन-बुद्धि ये तीन इसे अव्यय–लक्ष्य पर पहुँचाने के साधन हैं । अव्ययलक्ष्य अक्षरानुगृहीत अव्यक्त महत् की प्राप्ति से मिलता है । **"लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि"** । इस प्रकार इस प्राकृतिक आत्मसंस्थाक्रम में अव्यय से संलग्न अक्षर है, अक्षर से संलग्न आत्मक्षर है । आत्मक्षर से संलग्न अव्यक्त है । अव्यक्त से संलग्न महान् है । महान् से संलग्न विज्ञान (बुद्धि) है । विज्ञान से संलग्न प्रज्ञान (मन) है । प्रज्ञान से संलग्न इन्द्रियाँ हैं । इन्द्रियों से संलग्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मात्मा है । कर्म्मात्मा से संलग्न शरीर है । कर्म्मात्मा का उद्धार अपेक्षित है । यदि यह इस प्राकृतिकसंस्था में प्रतिष्ठित रहता हुआ निष्कामकर्म्म का अनुष्ठान करने लगता है तो इस पर अक्षरावच्छिन्न महत् का अनुग्रह हो जाता है, कालान्तर में अव्ययावच्छिन्नबुद्धियोग प्राप्त हो जाता है । यदि सकामकर्म्म में प्रवृत्त रहता है तो इस पर क्षरावच्छिन्न भूतात्मा की ही प्रधानता रहती है । यही इसका विनाश है । सिद्ध-अवस्था तुष्टि-प्रेय-श्रेय-तृप्तिलक्षण मुक्ति है । साध्यावस्था अनशन-वशीकारमूला भक्ति है । भक्ति ही मुक्ति का द्वार है । भक्ति-मुक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है । असाध्य अवस्था नाशलक्षणा भुक्ति (जन्म-कर्म्म-फलभोग) है । भुक्ति भक्ति की विरोधिनी है । भक्त्यभाव में मुक्ति का अभाव है । इस प्रकार अपने उसी प्रज्ञान से कर्म्मात्मा, किंवा भोक्तात्मा मुक्ति-भक्ति-भुक्ति तीनों में से किसी मार्ग का आश्रय लेता हुआ अपना नाश एवं उद्धार कर लेता है । स्वयं ही भुक्तिभाव में यह अपना शत्रु बन जाता है, स्वयं ही भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त करता हुआ अपना मित्र बन जाता है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"

—०—

१– { १–विज्ञानात्मा—अव्ययप्रसादभूमिः (ईश्वरतावाप्तिः–अच्युतभगवत्वं च)
२–महानात्मा—अक्षरप्रसादभूमिः (प्रत्यगात्मावाप्तिः–च्युतभगवत्वं च)।
३–भूतात्मा—आत्मक्षरप्रसादभूमिः (जड़तावाप्तिः–क्लेशत्वं च)। }

—०—

२– { १–ईशो भूतभव्यस्य – नित्यतृप्तः (अत्र ब्रह्म समश्नुते)।
२–ईशानो भूतभव्यस्य—न विजुगुप्सते (ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते)।
३–अनीशानो भूतभव्यस्य—नित्यं शोचति (अनीशया शोचति मुह्यमानः)। }

—०—

३– { १–कृतात्मा→अव्ययकृतात्मः सिद्धः (मुक्तिविकासः)→योगी (युक्तः)।
२–विधेयात्मा→अक्षरकृतात्मः साध्यः (भक्तिविकासः)→तपस्वी (योगारूढ़ः)।
३–अकृतात्मा→क्षरकृतात्मो नष्टः (भुक्तिविकासः)→नष्टः (सवतोभ्रष्टः)। }

—०—

१–योगनिष्ठा→बुद्धियोगः - कामपरित्यागसिद्धलक्षणकर्म्मप्रवृत्तिप्रधानः।

२–भक्तिनिष्ठा→भक्तियोगः—कामपरित्यागाभ्यासलक्षणकर्म्मप्रवृत्तिप्रधानः।

३–कर्म्मनिष्ठा→कर्म्मयोगः—कामानामयकर्म्मप्रवृत्तिप्रधानः।

—०—

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रकरण की चार स्थितप्रज्ञताओं का तो–प्रथमात्मसंस्था से सम्बन्ध है एवं दो स्थितप्रज्ञताओं का द्वितीयात्मसंस्था से सम्बन्ध है। ६ओं मार्ग भिन्न-भिन्न ६ धरातलों पर प्रतिष्ठित हैं–यह एक और चमत्कार है। पहले प्रथमात्मसम्बन्धी तुष्टि-प्रेय-श्रेय-तृप्तिलक्षण इन चार स्थित प्रज्ञताओं का ही विचार कीजिए। चारों का क्रमशः प्रज्ञानात्मा, कर्म्मात्मा, विज्ञानात्मा, अव्ययात्मा के साथ सम्बन्ध है। प्रज्ञानात्मा की स्थिरता तुष्टि से होती है। कर्म्मात्मा प्रेयभाव से स्थिर होता है, विज्ञानात्मा श्रेयभाव से स्थिर होता है एवं अव्ययात्मा तृप्तिभाव से स्थिर होता है। चारों ही स्थिरताओं में प्रज्ञा की स्थिरता मूत्र बनती है। अतएव चारों परिस्थितियों को "**स्थितप्रज्ञ**" नाम से सम्बोधित कर दिया जाता है। तुष्टि से प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। प्रज्ञानात्मा की यही तुष्टिमूला स्थिरता प्रज्ञानात्मा से संश्लिष्ट कर्म्मात्मा की प्रेयभाव में अनासक्ति करवा देती है। जब कर्म्मात्मा प्रेयभाव में अनासक्त हो जाता है तो विज्ञानात्मा श्रेयभाव में अनासक्त हो

जाता है। विज्ञान के अनासक्त होते ही अव्यय में प्रसादमूल तृप्तिभाव का उदय हो जाता है। इस प्रकार चारों का मुख्य द्वार तुष्टिमूला प्रज्ञास्थिरता ही बनी हुई है। साथ ही में यह भी निश्चित है कि बिना तुष्टि के प्रज्ञान स्थिर नहीं हो सकता। बिना स्थिरप्रज्ञान के कर्म्मात्मा प्रेयभाव में अनासक्त नहीं हो सकता। प्रेययुक्त कर्म्मात्मा कभी विज्ञान को श्रेयोभाव में अनासक्त नहीं होने देता। विज्ञान की श्रेयस्सक्ति अव्यय में कभी आत्मप्रसादलक्षण तृप्ति का उदय नहीं होने देती। चारों में क्रमशः अधिकारी की योग्यता का तारतम्य है। साधारण अधिकारियों की स्थितप्रज्ञता का मन पर अवसान हो जाता है। मन के द्वारा आगे की स्थितप्रज्ञताओं का उदय हो जाता है, यह बात दूसरी है। तृतीयाधिकारी मन के साथ-साथ कर्म्मात्मा में से प्रेयभाव हटाने में भी समर्थ हो जाते हैं। द्वितीयाधिकारी मन के साथ कर्म्मात्मगत प्रेयभाव, विज्ञानात्मागत श्रेयोभाव दोनों को हटाने में समर्थ हो जाते है एवं प्रथमाधिकारी मन के साथ-साथ कर्म्मात्मा-विज्ञानात्मा–दोनों के प्रेय-श्रेयस् को हटाते हुए सीधे अव्ययलक्षण तृप्ति पर पहुँच जाते हैं। तात्पर्य्य कहने का यह है कि अपने प्रयास से भी चारों की सिद्धि होती देखी जाती है। केवल मनस्तुष्टि से भी तीनों की सिद्धि होती देखी गई है। उभयथा फल समान है। इन चारों की सिद्धि के लिए अनशन और इन्द्रियसंयम करना पड़ता हैं। अनशन से भी प्रज्ञास्थिर बनती हुई इन्द्रियसंयम का कारण बन जाती है, इन्द्रियवशीकार से भी प्रज्ञा स्थिर होती देखी गई है। ये (दोनों) चञ्चलमन और चल इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाली स्थितप्रज्ञताएँ है। यही योग की आरम्भ दशा है, जैसाकि पूर्व में विस्तार से से बतलाया जा चुका है।

१-१—अव्ययप्रसादमूला स्थितप्रज्ञता——→तृप्तिमूला (६)
२-२—विज्ञानप्रसादमूला मूलास्थितप्रज्ञता–→श्रेयोऽनासक्तिमूला (५)
३-३—कर्म्मात्मप्रसादमूला स्थितप्रज्ञता—→प्रेयोऽनासक्तिमूला (४)
४-४—प्रज्ञानात्मप्रसादमूला स्थितप्रज्ञता—→तुष्टिमूला (३)
} →युक्तयोगिनः

(अन्तर्मनःप्रसादमूला)

५-१—मनःप्रसादमूला स्थितप्रज्ञता———→अनशनतपोमूला (२)
६-२—इन्द्रियप्रसादमूला स्थितप्रज्ञता——→इन्द्रियवशीकारमूला (१)
} →युञ्जानयोगिनः

—०—

६ओं में प्रज्ञास्थिरता ही मूलभित्ति है एवं प्रज्ञान के साथ ही तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता का सम्बन्ध है। अतः प्रथमश्लोक से भगवान् ने इसी का निरूपण किया है। प्रज्ञान के अनन्तर कर्म्मात्मा का नम्बर आता है। एतन्मूला स्थितप्रज्ञता का प्रेयोऽनासक्ति से सम्बन्ध है, अतः दूसरे श्लोक से भगवान् ने इसी का निरूपण किया है। कर्म्मात्मा के अनन्तर विज्ञानात्मा का नम्बर आता है। एतन्मूला स्थितप्रज्ञता का

श्रेयोऽनासक्ति से सम्बन्ध है, अतः तीसरे श्लोक से भगवान् ने इसी का निरूपण किया है। विज्ञानात्मा का अव्यय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसाकि–"यो बुद्धेः परतस्तु सः" इत्यादि से स्पष्ट है। एतन्मूला स्थितप्रज्ञता का तृप्तिभाव से सम्बन्ध है। अतः चौथे श्लोक से भगवान् ने इसी का निरूपण किया है। इन चारों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इस के अनन्तर मनोऽधिकरण एवं इन्द्रियाधिकरण से सम्बन्ध रखने वाली उपायभूता दो स्थितप्रज्ञताओं का क्रमशः ५वें ६ठे, एवं ७वें–तीन श्लोकों से निरूपण किया है। इस क्रम को अपने लक्ष्य में रखिए, क्रम क्रमशः ६ओं पर दृष्टि डालते जाइए। सम्पूर्ण रहस्य प्रकट हो जायगा। विषयसंगति समाप्त हुई। अब मूलार्थ की ओर चलिए। देखें श्लोकार्थ का क्या भाव है—

१–प्रज्ञानप्रसादमूला तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता—

१–प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥[1]

"भगवान् कहते हैं–हे अर्जुन ! जब मनुष्य मन में रहने वाली सब कामनाओं का परित्याग करता हुआ अपने आप में अपने आप से ही सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। कामरहित मन से युक्त धीर को ही (सिद्ध योगी को ही) लोक में स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।" इस उत्तर से भगवान् का अभिप्राय यही है कि स्थितप्रज्ञ के भाषण में, बैठने में, चलने में यदि कोई विशेषता है तो वह यही है कि वह अपने भाषणादि में कभी कामना को स्थान नहीं देता। लौकिक मनुष्यों का प्रत्येक शब्द कामनामय फल के रंग में रंगा रहता है। उनका बैठना भी किसी कामना से सम्बन्ध रखता है। उनका चलना भी स्वार्थ से खाली नहीं रहता। बिना मतलब ये न किसी से बात करते, न कहीं बैठते, न कहीं जाते। एक उपदेशक से यदि आप कहेंगे कि अमुक जगंह क्या आप भाषण देने का अनुग्रह करेंगे ? उपदेशरूप कर्म्माधिकार को भूले हुए उपदेशक महोदय तत्काल प्रश्न कर बैठेंगे कि क्या मिलेगा ? निदर्शन मात्र है। संसारी अतएव काममय प्रत्येक प्राणी का खाना-पीना-चलना-बैठना-हँसना-बोलना-विनोद-वनविहार-मित्रगोष्ठी आदि सब कामना (इच्छा) से सम्बन्ध रखते हैं। फलाशापूर्वक ही इन कामियों की तत्तत्कर्म्मों में प्रवृत्ति होती है। बुद्धियोगी उदासीन बन जाता है, इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि वह सब कुछ छोडछाड कर कौपीन लगाकर अरण्य में चला जाता है। नहीं; अपितु वह उन सब कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है। केवल कामना नही रखता। परिणाम इसका यह होता है कि संसारी केवल हर्षावसरों पर ही थोड़ी देर के लिए प्रसन्न हो लेता है, इधर यह निष्कामयोगी भले बुरे सभी अवसरों पर नित्यतुष्ट रहता है। न वह हर्ष में हा-हा करता, न वह शोक में हायहाय करता। एकरस रहता हुआ वह एक संसारी की तरह ही लोकसंग्रह बुद्धि से कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है। दोनों में कौन अधिक सुखी है अथवा संसार की शान्ति का कारण दोनों में कौन है ?–इसका उत्तर तो अनुभवरसिक ही जान सकते हैं।

---

१ गीता २।५५।

उक्त श्लोक के–"**मनोगतान् कामान्**" पर विशेषरूप से विचार अपेक्षित है । मन में रहने वाली कामनाओं का परित्याग ही तुष्टि का मूल है । आगे के ६ठे उपदेश में यह विस्तार से बतलाया जाने वाला है कि काम का मूलप्रभव "**सङ्ग**" है । "**सङ्ग**" क्या पदार्थ है ? इसका विवेचन तो उसी प्रकरण में किया जायगा । यहाँ सङ्गति के लिए केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि पूर्वजन्मकृत कर्म्मों से उत्पन्न होने वाले संस्कार मन पर सञ्चित होते रहते हैं । उन संचित संस्कारों का पुञ्ज ही **कर्म्मव्यूह** (सांस्कारिक कर्म्मव्यूह) कहलाता है । जैसाकि–"**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**" में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इसी सञ्चित संस्कारपुञ्ज को विज्ञानभाषा में "**उक्थ**" किंवा **महोक्थ** कहा जाता है । उक्थरूप यही संस्कार हमारी जन्म-कर्म्मप्रवृत्ति का कारण बनता है । "**जात्यायुर्भोगाः**"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार जिसके जैसे उत्तम-मध्यम-अधम (सात्विक-राजस-तामस) संस्कार होते हैं, उसे वैसी ही जाति (योनि, योनि में भी ब्रा० क्ष० वै० शू० आदि वर्ण) में जन्म लेना पड़ता है, उतनी ही आयु मिलती है, परिमित ही भोग मिलते हैं । इसी अभिप्राय से संस्कार–रहस्यवेत्ता कहते हैं—

आयुः कर्म्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि नु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥[2]

यह सब पूर्वजन्मकृत कर्म्मजनित उक्थरूप संचितकर्म्मों में से प्रारब्ध मार्ग पर चढे हुए संस्कारों के (प्रारब्धकर्म्मक) ही फल हैं । बस इस सञ्चित, उक्थ नामक संस्काररूप कर्म्मव्यूह का ही नाम "**सङ्ग**" है । इस संगात्मक व्यूह कर्म्म के सञ्चित और प्रारब्ध दो भेद हैं । प्रारब्धकर्म्म ही **अभिक्रम** कहलाता है । व्यूह में अनेक उक्थ हैं । जो उक्थ आरम्भ हो गया, वही प्रारब्ध कर्म्म कहलाता है । प्रारब्ध उक्थ में से अर्क निकलने लगते हैं । इन्हीं अर्कों का नाम "**काम**" है । दूसरे शब्दों में प्रारब्धकर्म्म (संस्काररूप संग) से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा का ही नाम "**काम**" है । "**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**" इस सिद्धान्त के अनुसार जो काम मन से निकलकर अभिक्रम-मार्ग में आरूढ हो गया, दूसरे शब्दों में प्रारब्धमार्ग का अनुगामी बन गया–उसका विरोध करना तो मन की, किंवा बुद्धि की शक्ति से बाहर की बात हैं । इस सम्बन्ध में तो "**प्रारब्ध-कर्म्मणां भोगादेव क्षयः**" इसी सिद्धान्त पर विश्राम मानना पड़ेगा । दूसरा विभाग उन सांस्कारिक कर्म्मों का है, जो अभी सञ्चित हैं, जिनका अभी आरम्भ नहीं हुआ है । इन संगात्मक कर्म्मों से भी कालान्तर में (इनकी प्रारब्ध दशा में) काम निकलने वाले हैं । इससे पहले-पहले यदि मन में प्रतिष्ठित इन काममय सञ्चित कर्म्मों की ग्रन्थि से मन को पृथक् कर लिया तो प्रारब्धकर्म्मदशा में तुष्टि है, अन्यथा विनाश है । संगात्मक उक्थरूप कर्म्म ही कामना का जनक बनते हुए आगे के काम्यकर्म्मप्रवृत्ति के कारण बनते हैं । इस प्रकार **संचित, प्रारब्ध, आगामी** भेद से कर्म्म भी तीन ही भागों में विभक्त हैं एवं कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले काम भी तीन ही भागों में विभक्त हैं । इन सब का संग्रह करने के लिए ही भगवान् ने "**सर्वान्**" शब्द का प्रयोग किया है ।

---

१ पा० यो० सूत्र २।१३ ।
२ हितोपदेश प्रस्ताविका २७ ।

मन ही तीनों कामनाओं की विकास भूमि है। इन तीनों के अतिरिक्त आधिकारक कर्म्म एक स्वतन्त्र कर्म्मविभाग है। ये ही "प्राकृतिक कर्म्म" कहलाते हैं। इन्हीं को आत्मकर्म्म कहा जाता है। आत्मकर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाली कामना का उदय भी यद्यपि मन के द्वारा ही होता है, परन्तु यह कामना मन की अपनी कामना नहीं है, अपितु यह आत्मकामना है। अतएव न इस कर्म्म को मन का कर्म्म कहा जा सकता एवं न इस काम को मनोगत काम कहा जा सकता है। फलतः इसका परित्याग भी नहीं हो सकता है। **गतम्-और गमनम्**—इन दो शब्दों के रहस्यार्थ जान लेने से सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। गतम् का भुक्तिभाव से सम्बन्ध है, गमनम् का मुक्तिभाव से सम्बन्ध है। गतं में नाश है, गमनं में उद्धार है। संस्कारग्रन्थ्यवच्छिन्न मन गतं है, संस्कारग्रन्थिविरहित मन गमनम् है। गमनं में समत्व है, इसका अन्तर्मन से सम्बन्ध है। गतं में विषमता है, इसका बहिर्म्मन से सम्बन्ध है। संचित-प्रारब्ध-आगामी कर्म्म, एवं इन तीनों की कामनाओं का गतात्मक बहिर्मन से सम्बन्ध है एवं आत्मकर्म्म-आत्मकामना का गमनात्मक अन्तर्मन से सम्बन्ध है। गतात्मक बहिर्मन भुक्तिबन्धन का कारण है, गमनात्मक अन्तर्मन मुक्ति का कारण है। स्थितप्रज्ञता के लिए गत को छोड़ना आवश्यक है, गमन का आश्रय लेना आवश्यक है।

"गतम्" शब्द में **गम्** और **तम्** दो विभाग हैं। गम् धातु से क्त प्रत्यय द्वारा गतं-गतः-रूप निष्पन्न होते हैं। मन गतं है, काम गतः है। विषय में निष्ठा रखना ही गतं-गतः है। विषयनिष्ठा को ही क्त प्रत्यय सूचित करता है—**"क्तक्तवतू निष्ठा"**। जिसका मन विषय में नितरां (आत्यन्तिक रूप से) ठहर जाता है, वही मन विषयनिष्ठ बनता हुआ गतं कहलाता है एवं तत्सम्बन्धी काम गतः कहलाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए ही—**"गतं न शोचामि"** **"जाने दो वह नष्ट हो गया, उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है"** इत्यादि कहा जाता है। संचित-प्रारब्ध-आगामी-काममय तीनों ही कर्म्म, किंवा कर्म्ममय तीनों ही काम मनोगतं-एवं मनोगताः हैं। अब गमनं का विचार कीजिए। गमनं में गम्-अन्-अम् ये तीन विभाग हैं। गम्-कर्म्म का सूचक है। अकार अस्तिभाव का सूचक है। नकार नास्तिभाव का सूचक है। अम् एकीभाव का सूचक है। अस्तिनास्ति की समष्टि अनम् है। अस्ति सम्भूति है, नास्ति विनाश है। दोनों की समष्टि समत्व है। इस समत्व का अनुगामी मन ही **"गमनं"** है। मन का गमन है, इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि मन अपनी स्वाभाविक गति से चल रहा है। बन्धन में आकर एक जगह ठहरा नहीं है, अपि तु कर्म्मधारा के अनुसार चल रहा है। यही गमनं आचरन् है। **"असक्तो ह्याचरन्"** का जो तात्पर्य्य है, वही तात्पर्य्य गमनं का है। भगवान् ने—**"मनोगतान् सर्वान् कामान्"** यह कहा है। गतकाम वे ही संचितादि कर्म्म-काम हैं।

उन तीनों के सम्बन्ध में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि संचित काम कर्म्म भी छोडे जा सकते हैं, आगामी काम कर्म्म भी छोडे जा सकते हैं। परन्तु प्रारब्ध कामकर्म्म नहीं छोड़े जा सकते। ऐसी स्थिति में इनके परित्याग का केवल यही तात्पर्य्य समझना चाहिए कि जब मन में गमनात्मक आधिकारिक आत्मकाममूलक, अतएव निष्काम कर्म्म का उदय हो जाता है तो संचित-आगामी कामों का तो सर्वथा उच्छेद ही हो जाता है, साथ ही में प्रारब्धकामकर्म्म रहते हुए भी स्थितप्रज्ञता के कारण हर्ष—शोकजनित क्षोभ के कारण नहीं बनते। ऐसी बीमारी जो रहती हुई भी हमारा कोई अनिष्ट नहीं कर सकती, उसका रहना न रहने के ही समान है। आत्मकाममय आत्मकर्म्म भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अतएव उन्होंने

"मनोगतान्" कहना आवश्यक समझा है। आत्मसम्बन्धी कामकर्म्म स्थित प्रज्ञता के विरोधी नहीं हैं, अपितु मनोगत कामकर्म्म स्थितप्रज्ञता के विरोधी हैं। वस्तुतस्तु आत्मा का कर्म्म हो, अथवा मन का कर्म्म, कर्म्म कर्म्मत्वेन कभी बंधन का कारण नहीं है। साथ ही में कर्म्म छोडा भी नहीं जा सकता। जैसाकि आगे की तीसरी उपनिषत् के द्वितीयोपदेश में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। बन्धन का एकमात्र कारण काम ही है। काम से वही कर्म्म सबन्धन बन जाता है। कामपरित्याग से वही कर्म्म अबन्धन बन जाता है। केवल मन के कामों का परित्याग अपेक्षित है। आत्मकाम तो नित्य है। उसका परित्याग असंभव है।

इस प्रकार तत्त्वविवेकलक्षण वैराग्य एवं अभ्यासयोग द्वारा मनोगत कामनाओं का परित्याग कर दिया जाता है तो तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता का उदय हो जाता है। विचार यह उपस्थित है कि हम स्थित-प्रज्ञता से वञ्चित क्यों रहते हैं? हमारी स्वाभाविक स्थितप्रज्ञता क्यों उदित नहीं रहती? कारण स्पष्ट है। हम निरन्तर कुछ-कुछ इच्छा किया करते हैं। क्षणमात्र के लिए भी इच्छा शान्त नहीं होती। यह इच्छा ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीन ही अधिकरणों में व्याप्त रहती है। जानने की इच्छा करना यह स्वाभाविकवृत्ति है। मार्ग में जाते हुए यदि कहीं कुछ उत्सवादि का सङ्गम हो जाता है तो उसे जानने की इच्छा हुआ करती है। कोई कुछ जानना चाहता है, किसी की ज्ञानैषणा कहीं पर है। जानने की इच्छा करना एक प्राकृतिक नियम है। इसी प्रकार कर्म्म करते रहना भी एक स्वाभाविक नियम है। प्रत्येक प्राणी प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी कर्म्म से अवश्य ही आक्रान्त रहता हैं। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि कर्म्मेच्छा सबकी स्वाभाविक वृत्ति है। आलसी आलस्यकर्म्म की ही इच्छा किया करते हैं। निरालस विभूतिकर्म्म की ही इच्छा किया करते हैं। करना सब चाहते हैं, यथाशक्ति प्रयास भी करते हैं। इसी प्रकार पाञ्च भौतिक अर्थों की कामना भी स्वतःसिद्ध है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों की बुभुक्षा स्वाभाविक है। यही मन की जीवनसामग्री है। मन ही क्या? अध्यात्मसंस्था ही इन तीन अन्नों के आधार पर जीवित है। जिस दिन ज्ञानक्रिया-अर्थ तीनों का आगमन रुक जाता है, तत्काल अध्यात्मसंस्था उत्क्रान्त हो जाती है। विज्ञानदृष्टि से इन तीन अन्नों को सात भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसाकि बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता।
एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत, पशुभ्य एकं प्रायच्छत्।
तस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्चन ॥[1]

संवत्सरप्रजापति ने अपने ज्ञानमयतप से वाक् द्वारा सात प्रकार के अन्न उत्पन्न किए हैं। वह स्वयं भी सप्तान्नमूर्त्ति ही है। उससे उत्पन्न प्रजारूप पदार्थ भी सप्तान्नमूर्त्ति ही हैं। एवं प्रजा का

---

१ बृहदा० उप० १।५।२।

जीवन भी सात अन्नों पर ही निर्भर है। चाहे वह पदार्थ जड़ हो अथवा चेतन। प्रत्येक को अपनी जीवन सत्ता के लिए अन्न खाना पड़ता है, जैसाकि "**सर्वमन्नं', सर्वमन्नाद:**" इत्यादि से स्पष्ट है। उन सातों अन्नों को हम **१–ज्ञान, २–क्रिया ३–आकाश, ४–वायु, ५–तेज, ६–जल, ७–मिट्टी** इन नामों से व्यवहृत कर सकते है। जो–गेहूँ–बाजरा–चना–मूँग–चावल आदि प्रसिद्ध अन्न मिट्टी हैं। मिट्टी के रूपान्तर का ही नाम जो गेहूँ आदि है। अपनी जीवनसत्ता के लिए हमें इस मृण्मय पार्थिव अन्न की प्रतिदिन सायं प्रातः अपने शारीराग्नि में आहुति देनी पड़ती है। बिना इस पार्थिव अन्नाहुति के हम जीवित नहीं रह सकते। यही "**१–पृथिवी**" नाम का पहला अन्नविभाग है। बिना पानी के कभी अन्न तृप्ति किंवा तुष्टि का कारण नहीं बन सकता। पानी तो फिर भी यथाकथंचित् कुछ दिन के लिए तृप्ति का कारण बन जाता है, परन्तु बिना पानी के अन्न नीरस है। वस्तुतस्तु पानी भी बिना अन्न के नीरस ही रहता है। अन्न पानी दोनों मिलें, तब काम चले। आबदाने का जोड़ा है। दोनों का समुच्चय तृप्ति-तुष्टि का कारण है, जैसाकि श्रुति कहती है —

"तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्ति। ओषधय उ हापां रसः। तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति। यदैवोभय्यः संसृष्टा भवन्ति, अथैव धिन्वन्ति॥"[२]

यह पानी ही हमारा दूसरा अन्न है। बिना पानी के भी हम जीवित नहीं रह सकते। '**पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिब**" इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार बिना खाए हम १०-१५ दिन निकाल सकते हैं। परन्तु बिना पानी के जीवन यात्रा का निर्वाह होना कठिन है। फलतः पार्थिव अन्न की अपेक्षा से जल की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाती है। जल ही तो मिट्टी का जनक है। '**अद्भ्यः पृथिवी**" यह सिद्धान्त स्पष्ट है। साथ ही में कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता, कारण कार्य के बिना भी रह सकता है, यह सिद्धान्त भी सर्वसम्मत है। तीसरा अन्न तेज है। तेज ही ज्योति है, ज्योति ही प्रकाश है। "**पञ्चज्योतिरयं पुरुष:**" के अनुसार हमें अपनी जीवनसत्ता के लिए–**१–सूर्य्य, २–चन्द्र, ३–अग्नि, ४–वाक्, ५–आत्मा** इन पांचों में से कोई न कोई प्रकाश अवश्य ही अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रखना पड़ता है। सूर्य्य से उत्पन्न आत्मा प्रकाश के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसी प्रकार श्वास प्रश्वास का अधिष्ठाता वायु हमारा चौथा अन्न है। आकाश की अन्नता का तो कहना ही क्या है। सच पूछा जाए तो नाम-रूप का निर्वहिता आकाश ही आनन्द का कारण है, जैसा कि–"**आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता को ह्येवान्यात्, कःप्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्**' इत्यादिरूप से स्पष्ट है। अन्न-पानी-तेज-वायु चारों अन्न आकाश रूप खंब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। यही सब का आवपन है। न केवल इन चारों भौतिक अन्नों का ही, अपितु प्राणान्नरूपकर्म्म एवं मनोऽन्नरूप ज्ञान का भी आवपन भूमारूप आकाश ही है। शब्द-तन्मात्रा इसी आकाश का विकास है। शब्द भी आकाशात्मक अन्न ही है। शब्द भी हमारा अन्न है। ऐसा कहीं भी कोई भी स्थल नहीं है, जहाँ आकाशात्मक शब्द न हो। जहाँ किसी प्राणी का शब्द नहीं

१ शत० ३।६।१।७।

रहता, वहाँ प्रकृति का ही गम्भीर शान्त निनाद रहता है : बिना शब्दश्रवण के भी हम जीवित नहीं रह सकते । जो मनुष्य जन्म से बधिर होते हैं, उनके अन्तःकरण में भी ज्ञानद्वारा मध्यमा वाक्लक्षण शब्द का विकास रहता है । **"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"** इस हरिसिद्धान्त के अनुसार प्रत्यय (ज्ञान) बिना शब्द के सर्वथा अनुपपन्न है । शब्दविनिर्गम बिना शब्द-तन्मात्रा के सर्वथा असंभव है । इस प्रकार शब्द और भूमारूप से आकाश भी हम प्राणियों का अन्न बना हुआ है । यहीं पांचवा अन्न है । ६ठा अन्न कर्म्म है । प्रत्येक प्राणी निरन्तर कुछ न कुछ हरकत करता रहता है । जिस दिन यह चेष्टाकर्म्म बन्द हो जाता है, प्राणोत्क्रमण हो जाता है । सातवाँ अन्न ज्ञान है । जानना, किंवा जानने की इच्छा करना भी प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक धर्म्म है, जैसा कि आरम्भ में बतलाया जा चुका है । इन सातों अन्नों से ही हमारी जीवन यात्रा का निर्वाह होता है ।

उक्त सातों अन्नों के १/१–२/२–३/३–४/१ ये विभाग हैं । सात अन्नों में से एक अन्न तो सर्व साधारण है । २ अन्नों से देवता की पुष्टि होती है । ३ अन्नों से कर्म्मात्मा का पोषण होता है एवं एक अन्न से पशुभाग की पुष्टि होती है । अध्यात्मसंस्था में साशन और अनशनभेद से दो विवर्त्त हैं । साक्षी अमृतात्मा अनशन है । भोक्ता कर्म्मात्मा साशन है । अमृतात्मा अन्न की अपेक्षा नहीं रखता, भोक्तात्मा अन्नाधार से ही प्रतिष्ठित है, जैसाकि–**"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"** इत्यादि से स्पष्ट है । न खाने वाला अमृतात्मा वही षोडशी पुरुष है, जिसके लिए कि गीता में–**"यो बुद्धेः परतस्तु सः"** यह कहा गया है । खानेवाला आत्मा मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ स्थूल-सूक्ष्म-कारण भेद से तीन विवर्त्तों में विभक्त है । **ब्रह्म-देव-भूत** भेद से एक ही आत्मा तीन विभागों में परिणत हो रहा है । इस परिणति का प्रधान कारण मन-प्राण-वाङ्मय आत्मा का त्रिवृद्भाव है । त्रिवृत्मन से ब्रह्मसंस्था का विकास होता है । त्रिवृत्प्राण से देवसंस्था का विकास होता है एवं त्रिवृतावाक् से भूतसंस्था का विकास होता है । तीनों की समष्टि एक भोक्तात्मा, किंवा भूतात्मा है । बुद्धिसहकृत, इन्द्रिययुक्त मन भोग का साधक है । इसी के द्वारा सातों अन्नों का भोक्तात्मा के साथ सम्बन्ध होता है । प्राणवाग्गर्भित मनोमय आत्मा ब्रह्म है, इसे ही दार्शनिक भाषा में **आत्मग्राम, कारणशरीर** कहा जाता है । यही सापेक्ष **"आत्मा"** है । मनोवाग्गर्भित प्राणमय आत्मा **"देव"** है । इसे ही **देवग्राम एवं सूक्ष्मशरीर** शब्दों से सम्बोधित किया जाता है । यही **"प्राण"** भाग है । मनःप्राणगर्भित वाङ्मय आत्मा भूत है । यही **"भूतग्राम"** एवं **स्थूलशरीर** नाम से प्रसिद्ध है । यही **"पशु"** भाग है । शरीर पशु है । यह प्राण पर उपहित है । प्राण पाश है, यह उस आत्मा पर हित है । आत्मा पशुपति है । तीनों की समष्टि भोक्तात्मा है–**"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ते-त्याहुर्मनीषिणः"** ।[1]

उक्त तीनों साशन विभागों को लक्ष्य में रख कर ही उपनिषत् ने–**"एकमस्य साधारणं, द्वे देवान-भाजयत्, त्रीण्यात्मनोऽकुरुत, एकं पशुभ्यः प्रायच्छत्"** यह कहा है । अन्न नाम से लोक में प्रसिद्ध सातवां पार्थिव अन्न आत्मा-देव-पशु तीनों के लिए साधारण है । कारण इसका यही है कि पार्थिव अन्न में भूत-

---

१ सम्बन्धित तालिका पृष्ठ १४२ पर देखें ।

देव-आत्मा तीनों विद्यमान हैं। दधिभाग भूतप्रधान है। घृतभाग देवप्रधान है। मधुभाग आत्मप्रधान है। तीनों की समष्टि अन्न है। अन्नगत भूतभाग से रसासृगादि सात धातु निष्पन्न होते हैं। अन्नगत देवभाग से ओज का उदय होता है। अन्नगत आत्मभाग से मनकी स्वरूपरक्षा होती है। सप्तधातुवर्ग मनःप्राणगर्भित वाङ्मय स्थूलशरीर है। ओजस्तत्व मनोवाग्गर्भित प्राणमय सूक्ष्मशरीर है एवं मनस्तत्व प्राणवाग्गर्भित मनोमय कारणशरीर है। अन्न में तीनों भाग हैं। फलतः इससे तीनों का उपकार हो जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने-"**एकमस्य (समष्टयात्मकस्य त्रिशरीरमयस्य भोक्तात्मनः) साधारणं (अन्नं-पार्थिवम्)**" यह कहा है।

तेज और वायु इन दोनों का क्रमशः हुत-प्रहुत भाग से सम्बन्ध है। तेज हुत है, वायु प्रहुत है। तेज ज्योतिर्भाग है ज्योतिर्भाग ही देवता है। वायु द्वारा (जो कि प्राकृतिक यज्ञ का अध्वर्यु कहा जाता है) सोम की इस तेजोऽग्नि में आहुति होती है। सोमाहुति से ही तेज का उदय होता है। यही अग्नीषोममय यज्ञ है। "**यज्ञो वोऽन्नं, सूर्य्यो वो ज्योतिः**" इस ब्राह्मणश्रुति के अनुसार यज्ञ ही देवता का अन्न है एवं सूर्य्य ही इस की ज्योति (आत्मा) है। तेज और वायु दोनों ही देवता के स्वरूपसमर्पक हैं। जैसा कि-

---

१
- १-मनः (ज्ञानम्)
- २-प्राणः (क्रिया)
- ३-वाक् (अर्थः)

→ **प्राणवाग्गर्भितो मनोमय आत्मा (ब्रह्म)-आत्मग्रामः-कारणशरीरम्**

२
- १-प्राणः (क्रिया)
- २-मनः (ज्ञानम्)
- ३-वाक् (अर्थः)

→ **मनोवाग्गर्भितः प्राणमयो देवः (देवः)-देवग्रामः-सूक्ष्मशरीरम्**

३
- १-वाक् (अर्थः)
- २-प्राणः (क्रिया)
- ३-मनः (ज्ञानम्)

→ **मनःप्राणगर्भितो वाङ्मयः पशुः (भूतम्)-भूतग्रामः-स्थूलशरीरम्**

१-१-अमृतात्मा षोडशी—"अनशनः"

२—१-भोक्तात्मा—कारणशरीरं मनोमयं मनःप्रधानं वा मनःप्राणवाङ्मयम्
३—२-भोगसाधनम्—सूक्ष्मशरीरं प्राणमयं प्राणवाङ्मनोमयं वा
४—३-भोगायतनम्—स्थूलशरीरं वाङ्मयं वाक्प्राणमनोमयं वा।

} साधनः-भोक्ता

"वायुगोपा उपासते" इत्यादि से स्पष्ट है । आकाश-कर्म्म-ज्ञान इन तीनों का प्रधान रूप से आत्मा के साथ सम्बन्ध है । आकाशमय भूमा, किंवा भूमामय आकाश वाक् की प्रतिष्ठा है । आत्मा के वाक्भाग की प्रतिष्ठा यही आकाशान्न है । प्राणभाग की प्रतिष्ठा कर्म्मान्न है एवं मनोभाग की प्रतिष्ठा ज्ञानान्न है । बाकी बचता है जलान्न । इस का पशुभाग से सम्बन्ध है । शरीर पशु है । यही आत्मलोक है । लोकसृष्टि की प्रतिष्ठा आप्तत्त्व ही माना गया है, जैसाकि शतपथविज्ञानभाष्यादि में निरूपित है । तात्पर्य्य कहने का यह हुआ कि भोक्तात्मा उक्त सातों अन्नों की कामना किया करता है । ये अन्न इसे कम-ज्यादह मिला भी करते हैं । इन्हीं सातों का हमने **ज्ञान-क्रिया-अर्थ** इन तीन में अन्तर्भाव मान लिया है । पञ्चभूत समष्टि ही अर्थ है । इस प्रकार पृथिव्यादिआकाशान्त पांचों अन्नों की समष्टि अर्थान्न है । यह कर्म्मान्नपर प्रतिष्ठित है । कर्म्मान्न ज्ञानान्न पर प्रतिष्ठित है । ज्ञानान्न बुद्धिसहकृत सेन्द्रिय मन पर प्रतिष्ठित है । बुद्धिसहकृत मनोयुक्त आत्मा ही भोक्तात्मा है । इस के पास सप्तविध अन्नसामग्री पहुँचाना बुद्धीन्द्रिय सहकृत मन का ही काम है । यही अपनी कामना से अन्नों को दूषित करता हुआ आत्मा को उस अनशन आत्मा से वियुक्त कर देता है । यही कामनात्याग से विशुद्ध अन्न का ग्राहक बनता हुआ साशन को अनशन रूप में परिणत कर डालता है, जैसाकि–**"रसवर्जं रसोऽप्यस्य"** इत्यादि में स्पष्ट होने वाला है ।

१–ज्ञानम्, २–कर्म्म, ३–आकाशः } →त्रीण्यात्मनेऽकुरुत

४–वायुः, ५–तेजः } →द्वे देवानभाजयत्

६–जलम् } →एकं पशुभ्यः प्रायच्छत्

७–अन्नम् } →एकमस्य साधारणम्

(सब मिलकर) } →**"सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता"**

पिता के अनुग्रह में कमी नहीं, हमारी कुपूती में कमी नहीं । उसने दया कर सात अन्न पैदा किए । हमारी अल्पशक्ति को लक्ष्य में रखते हुए उसने केवल दो अन्नों का भार हमारे ऊपर रक्खा । शेष पांचों वह अपने आप हमारे बिना प्रयास के ही हमें दिया करता है । उन दो अन्नों के लिए भी हम प्रज्ञापराध से संत्रस्त रहते हैं । कहीं सातों का भार हमारे ऊपर डाल दिया जाता, तब तो न जाने क्या होता ? जो पिता जो-गेहूं पैदा कर सकता है, वह यदि चाहता तो रोटी का वृक्ष बना सकता था । वृक्ष

क्या बना सकता था, ऐसा उपाय कर सकता था कि रोटी वायु की तरह (श्वासप्रश्वासवत्) अपने आप हमारा पेट भर देती। इसी प्रकार जल भी वायुरूप में परिणत हो कर बिना प्रयास के ही हमारी प्यास बुझा देता। यदि ऐसा हो जाता तो सचमुच हम सर्वथा जड़ बन जाते। एक पत्थर और हमारे में कोई विशेषता न रहती। दो अन्नों का भार डालने पर भी जब हम अकर्म्मण्य बने रहने में कमी नहीं करते तो दोनों के पाँचों की तरह मिल जाने पर तो न मालूम हम क्या-क्या अनर्थ कर बैठते? ज्ञान हमें खरीदना नहीं पड़ता। ज्ञान हमारे अन्तर्जगत् में स्वतः प्रतिष्ठित है। कर्म्मान्न भी अपने आप मिलता रहता है। आकाशरूप भूमा एवं तद्रूप शब्द बिना प्रयास के नित्य प्राप्त है। प्रकाश के लिए भी ईश्वर ने सूर्य्य-चन्द्रादि की व्यवस्था कर रक्खी है। श्वासप्रश्वासरूप वायुमय अन्न के लिए भी हमें चिन्ता नहीं करनी पड़ती। हाँ, जल और अन्न के लिए हमें अवश्य ही प्रयास करना पड़ता है। जल अपने आप मुँह में नहीं जाता। मिट्टी भी नहीं खा सकते। खेती करेंगे। अन्न उत्पन्न होगा। काटेंगे, साफ करेंगे, पीसेंगे, छानेंगे, रोटी बनावेंगे, मुँह में डालेंगे, तब पेट भरेगा। ईश्वर ने तो हमें कर्म्मठ बनाने के लिए इन दो अन्नों की जिम्मेवारी हमारे कन्धों पर डाली थी। उधर हमने अपनी नासमझी से इन दोनों को ही मुख्य मानते हुए सर्वनाश कर लिया। भौतिक अन्न-जल की प्रधान कामना से वायु, तेज, आकाश, कर्म्म, ज्ञान इनका भी स्वरूप बिगड़ गया। दो की विषमता से पाँचों विषम बन गए। होना यह चाहिए था कि हम कामना त्यागपूर्वक आत्मचिन्तानिवृत्त्युनुकूल अन्नजल ग्रहण करते हुए सम बने रहते। इन सब अनर्थों की जड़ वही मन की कामना है। काम ने ही हमारे भोक्तात्मा को भौतिक अन्न का दास बना रक्खा है। इसी से साशन आत्मा अनशनसम्पत्ति से च्युत होता हुआ स्थितप्रज्ञता से वञ्चित हो रहा है। दो के क्षोभ से सातों अन्न, तुष्टि तृप्ति भाव से वञ्चित हो रहे हैं। यही अस्थितप्रज्ञता है। विषमानुगत मन की कामना से अन्न जल मलिन हो जाते हैं। इनकी मलिनता से वायु-तेज-शब्द-कर्म्म-ज्ञान सब अन्न मलिन हो जाते हैं। मलिनता क्षोभमूलक मोह की जननी है। मोह की कृपा से ही प्रज्ञा चञ्चल हो जाती है। चञ्चलता से मन का आयतन विकृत हो जाता है। सत्यता नष्ट हो जाती है। ऋतभाव जागृत हो जाता है। एक अच्छिद्रपात्र में पानी भरने से थोडी देर में पात्र भर जाता है। परन्तु छिद्रयुक्त पात्र में आप चाहे कितना ही पानी भरिए, कभी पात्र का आशय न भरेगा। न क्या भरेगा, थोडा सा भी नहीं टिकेगा। आप एक ओर से भरते जायेंगे, दूसरी ओर से पानी निकलता जायगा। साथ ही में पानी के निरन्तर निर्गमन से वह छिद्र और भी बडा हो जायगा। फलतः पानी अधिक मात्रा से निकलने लगेगा। अन्धा व्यक्ति सोचेगा, क्या बात है, पात्र क्यों नहीं भरता? इसी आकुलता से प्रेरित हो कर वह ज्यादह-ज्यादह पानी डालने लगेगा। परिणाम विपरीत ही होगा। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए। सत्यबुद्धि के अनुग्रह से मन-सायतन बनता हुआ सीमित बना रहता है। दूसरे शब्दों में व्यवसायलक्षणा एकत्वभावापन्ना बुद्धि के सह-योग से मन का आयतन, किंवा आशय अच्छिद्र बना हुआ है। शान्त बना हुआ है। कामनारूप कीलक के प्रवेश से बुद्धि का अनुग्रह हट जाता है, आशय में छिद्र हो जाता है। फलतः जो अन्न इस पात्र में आते हैं, उनसे कभी पात्ररूप मन का आशय नहीं भरता। साथ ही में जलस्थानीय संस्कारों के धारा वेग से ज्यों-ज्यों आशयछिद्र बडा होता जाता है, त्यों-त्यों काम का वेग बढता जाता है, अधिकाधिक तृष्णा बढती जाती है। अधिकाधिक ग्रन्थिबन्धन दृढमूल बनता जाता है। ठीक इसके विपरीत कामना

के अभाव से यदि प्रज्ञास्थिर हो जाती है तो तत्सम्बद्धा बुद्धि के सत्यभाव का उदय हो जाता है। सत्योदय से मन का आशय अच्छिद्र बन जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मकामना से यदि कम सफलता मिलती है तो तुष्टि हो जाती है, पूर्ण सफलता में तृप्ति हो जाती है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

प्रकारान्तर से स्थितप्रज्ञता का विचार कीजिए। किसी विषय की ओर मन की कामना का झुकना "**प्रवृत्ति**" कहलाती है। विषय की ओर से कामना का हटना "**निवृत्ति**" कहलाती है। कामना के अभाव में प्रवृत्ति भी निवृत्ति है, कामना की सत्ता में निवृत्ति भी प्रवृत्ति है, जैसा कि–"**य आस्ते मनसास्मरन्**" में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। मन की इस काममयी प्रवृत्ति का प्रधानकारण इष्टसाधनताज्ञान एवं इष्टजनकत्व ही है। पहले मन यह विचार करता है कि अमुक कार्य्य में मुझे सफलता मिलेगी या नहीं एवं अमुक कार्य्य सफलता उत्पन्न करने में समर्थ है अथवा नहीं। जब मन को यह निश्चय हो जाता है कि हाँ अमुक कार्य्य लाभप्रद है एवं उस लाभ का अधिकारी मैं ही हूँ, तभी वह उस विषय की ओर प्रवृत्त होता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि जिन साधनों से कर्म्म सफल होता है, उन साधनों का ज्ञान आवश्यक है। साधन मालूम नहीं है, फल की उत्पत्ति निश्चित है, तो ऐसे केवल मदिष्टजनकत्व से भी प्रवृत्ति नहीं होती। साधन का ज्ञान है परन्तु साथ ही में यह सन्देह है कि साधनों से उत्पन्न फल मुझे नहीं मिलेगा, तो ऐसी स्थिति में केवल इष्टसाधनताज्ञान भी प्रवृत्ति का हेतु नहीं बनता। दोनों हैं, परन्तु शक्ति नहीं है। मन समझता है कि इन साधनों से ऐसे किया जाए तो अवश्य फल मिल जाए। परन्तु उन साधनों को काम में लाने की शक्ति नहीं है। तब भी प्रवृत्ति नहीं होती। फलतः– "**मत्कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनताज्ञानपूर्वकं मदिष्टजनकत्वं प्रवृत्तिनिमित्ते–हेतुः**"–इस लक्षण के अनुसार शक्तिसाध्य, साधनयुक्त, फलनिश्चयपरिज्ञान का समुच्चय ही कर्म्मप्रवृत्ति का हेतु बनता है। **तकदीर, तदबीर, कर्त्ता, करण, अधिष्ठान** पाँचों का समन्वय होने पर ही कर्म्म में प्रवृत्ति होती है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

१–अधिष्ठानं[१], तथा कर्त्ता[२], करणं[३] च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा[४], दैवं[५] चैवात्र पञ्चमम्॥ (गीता १८।१४)

२–शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (गीता १८।१५)

शरीर भूतप्रधान है। इसमें मनःप्राणवाङ्मय आत्मा प्रतिष्ठित है। वह आत्मा वाङ्मय मन से अच्छा अथवा बुरा जो भी कर्म्म प्रारम्भ करता है, उस कर्म्मप्रवृत्ति के अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव ये पाँच कारण हैं। "**आरम्भणहेतुपञ्चकपरिग्रहः प्रवृत्तिः**"–इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त पाँचों

आरम्भणहेतुओं की ही प्रवृत्तिनिमित्त में कारणता है। प्रत्येक कर्म्म में जहाँ हमारी कोशिश काम करती है, वहाँ प्रकृतिदेवी का भी हाथ रहता है। यदि प्रकृति (समय) अनुकूल नहीं होगी तो सारी कोशिशें व्यर्थ चली जाती हैं। प्रकृति अनुकूल है; परन्तु कोशिश नहीं की जाती। तब भी काम नहीं बनता। प्रकृति भी है, कोशिशें भी हैं, परन्तु कोई करने वाला भी तो हो। वही कर्त्ता है। कोशिश तो एक क्रिया मात्र है। इसके लिए साधन अपेक्षित हैं। वही करण है। जिस मूलधरातल पर प्रतिष्ठित हो कर काममय कर्म्मात्मा (कर्त्ता) साधनों से कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला है, वह आधारभूमि ही अधिष्ठान है। **"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते"**-के अनुसार इन्द्रिययुक्तबुद्धिसहकृत काममय मन ही कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव इन चारों की प्रतिष्ठा है। इन पाँचों से कर्म्म में प्रवृत्ति हुई। इस प्रवृत्ति के लिए जो मन का उद्योग है, वही मानसक्षोभ है। यत्न की जो अतिशयव्यग्रता है-जल्दी काम पूरा हो जाए, वह वृत्ति है, इसी का नाम क्षोभ है। इस क्षोभमूला प्रवृत्तिकाल में भी क्षोभ है, फल मिलने पर भी क्षोभ है। कामना के साम्राज्य में पेट भर जाता है, परन्तु मन नहीं भरता। लालसा बनी ही रहती है। कामनामयी जितनी कर्म्मप्रवृत्तियाँ होंगी, सब में इसी प्रकार तृष्णामय क्षोभ का साम्राज्य रहेगा। न ऐसे व्यक्ति को कभी सन्तोष होगा, न तृप्ति होगी। यही अस्थितप्रज्ञता है। इसी अवस्था को लक्ष्य में रख कर, साथ ही में स्थितप्रज्ञता का उपाय बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि यदि तुम स्थितप्रज्ञ बनना चाहते हो तो मनोगत (पूर्वोक्त) सब कामनाओं का परित्याग करो। इससे उत्थाप्याकांक्षामूला मनःकाममयी क्षोभमूला प्रवृत्ति शान्त हो जाएगी। केवल उत्थिताकांक्षामूला आत्मकाममयी शान्तिमूला निवृत्तिरूपा प्रवृत्ति रह जाएगी। उस अवस्था में तुम अर्द्धतृप्तिलक्षणतुष्टिभाव के अधिकारी बन जाओगे। तुम्हारा साशन आत्मा उस अनशन आत्मा से युक्त होता हुआ नित्य तुष्ट बन जाएगा।

हमें जितनी भूख है, यदि उतना ही अन्न मिल गया तो उदरपूर्त्ति से तृप्ति हो गई। इच्छा थी सेर भर खाने की, मिला आध सेर ही। यदि आध सेर मिलने पर चित्त में क्षोभ नहीं है तो तुष्टि है। ऐच्छिक पूर्णतृप्ति तृप्ति है, ऐच्छिक अर्द्धतृप्ति तुष्टि है। यही सन्तोष है। इसी अभिप्राय से तुष्टि का- **"इन्द्रियद्वारा मानसान्नभोगं-भक्तवतोऽपूर्णायां तृप्तौ तस्यार्द्धतृप्तस्याग्रेतृप्तिपूर्णत्वार्थमप्रयतमानस्यैच्छिकोमध्ये विश्रामः सन्तोषः"**-यह लक्षण किया जाता है। ध्यान रहे, कामना रहते हुए अर्द्धतृप्तिलक्षण इस तुष्टि का कभी उदय न होगा। कामना के रहते यदि पर्य्याप्त भोग न मिलेगा तो क्षोभ रहेगा, मिल जाएगा तब भी क्षोभ रहेगा। कारण इसका यही है कि कामना से साशन आत्मा अनशन आत्मा के भूमा-भाव से वञ्चित रहता है। जब केवल आत्मकामना रह जाती है तो जो कुछ आधा-चौथाया मिलता है, वह उस अनशन आत्मा के भूमानन्द से पूर्ण बन कर तुष्टि का कारण बन जाता है। वही पहली तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता है। ज्यों-ज्यों तुम अपने मन में से कामना का उच्छेद करते जाओगे, त्यों-त्यों तुम्हारा कर्म्मात्मा उस साक्षी आत्मा में प्रतिष्ठित होता हुआ तुष्ट बन कर स्थितप्रज्ञ बनता जाएगा। जिस दिन कामनाओं का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाएगा, कर्म्मात्मा साक्षी आत्मा में सर्वात्मना प्रतिष्ठित होता हुआ तुष्टिमूल स्थितप्रज्ञता का पूर्ण अधिकारी बन जाएगा। तुम देखोगे कि कामना परित्याग करने वाले महापुरुष यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट बने हुए सर्वथा निराकुल हो कर आधिकारिक आत्मकाममूलक कर्त्तव्य में बैठे हुए हैं। तुम ने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है? तुम्हारे प्रश्न का यही संक्षिप्त

उत्तर है। तुष्टि का मन से सम्बन्ध है। तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता मनोद्वार से प्रधान सम्बन्ध रखती है, अतएव पूर्व के संगति प्रकरण में हमने तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता को मनोमूला कहा है।

॥ १ ॥

——०——

२–कर्म्मात्मप्रसादमूला–प्रेयोऽनासक्तिमूला स्थितप्रज्ञता—

२–दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (गीता २।५६)

——०——

जिस प्रकार तुष्टि-तृप्ति का युग्म है एवमेव **श्रेय-प्रेय** का युग्म है। साथ ही में तुष्टि-प्रेय समान जातीय हैं, तृप्ति-श्रेय समानजातीय हैं, जैसा कि सङ्गतिप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। संसार में **रुचिकर**, हितकर, **रुचिकर-हितकर** भेद से तीन प्रकार के पदार्थ हैं। जो आरम्भ में बडे सुखप्रद प्रतीत हों, परिणाम में दुःखद हों, वे सब रुचिकर पदार्थ हैं। आरम्भ में क्लेश के कारण हों, परिणाम में सुखद हों-वे सब हितकर हैं। जिनके उपक्रम-उपसंहार दोनों में स्थायी आनन्द हों, वे हितकर-रुचिकर हैं। प्रकृतिविरुद्ध सुस्वादुभोजन रुचिकर अवश्य है, परन्तु परिणाम में अहित करने वाला है। इसी प्रकार मद्य-मांस-अगम्यागमन-आदि सारे वैषयिकभोग आरम्भ में अवश्य अच्छे लगते हैं, परन्तु परिणाम इनका बडा भयावह है। इसी प्रकार कटु औषधियाँ, विद्याध्ययन, भगवदाराधन, सन्ध्यावन्दन आदि शास्त्रसिद्ध कर्म्म आरम्भ में भार से लगते हैं, असह्य प्रतीत होते हैं, परन्तु ये ही आगे जा कर आत्मपद के कारण बन जाते हैं। प्रकृत्यनुकूल सुस्वादुभोजन, नियत समय में उठना, सोना, टहलना आदि कर्म्म रुचिकर भी हैं, हितकर भी हैं। विशुद्ध रुचिकर पदार्थों, किं वा कर्म्मों को **प्रेय** कहा जाता है। विशुद्ध हितकर पदार्थों को **श्रेय** कहा जा सकता है। उभयधर्म्मावच्छिन्न पदार्थों एवं कर्म्मों को **प्रेय-श्रेय** नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। यह तो हुई लोकदृष्टि। अब आत्मदृष्टि से विचार कीजिए। आत्मदृष्टि से कर्म्मकलाप को–**व्यावहारिककर्म्म**, **पारमार्थिककर्म्म**, **उभयार्थकर्म्म** भेद से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। सांसारिक उन्नति से सम्बन्ध रखने वाले भोग-वित्त प्रधान जितने भी कर्म्म हैं, वे सब रुचिकर कोटि में समाविष्ट होते हुए **प्रेय** कहलाएँगे। कुछ दिन के लिए सुखप्रतीति के कारण बनते हुए भी ये ऐहलौकिककर्म्म आत्मदृष्ट्या एकदिन आत्मपतन के ही कारण बनते हैं। फलमुख यज्ञादि जितने शास्त्रीय कर्म्म हैं, उन सब के अनुष्ठान में आरम्भ में बडा क्लेश उठाना पड़ता है, परन्तु परिणाम में श्रेयोरूप स्वर्गसुख मिलता है। फलशून्य निष्कामकर्म्म विदेहमुक्तिलक्षण श्रेयोभाव से भी युक्त हैं एवं लौकिककर्म्मों के समावेश से प्रेयोभाव का भी समावेश है। यही भगवन्निष्ठा किं वा बुद्धियोगनिष्ठा है। उभयसम्बन्ध से दोनों का उच्छेद है। केवल प्रेय पर दृष्टि रखने से भी क्षोभ है, केवल श्रेय पर दृष्टि रखने से भी क्षोभ है। दोनों के संमिश्रण में शान्ति है। वस्तुतः श्रेयोमार्ग वही श्रेयोमार्ग है, जिसमें न प्रेय रहे, न श्रेय रहे। पाप भी बुरा, पुण्यासक्ति भी बुरी। लौकिक सुख भी रागमूलक बनता हुआ भय-क्रोध का कारण,

स्वर्गसुख भी रागमूलक बतता हुआ भय-क्रोध का कारण है। एक में नति, दूसरे में ऊपर चढ कर फिर नति–(उत्-नति-उन्नति)। इस दृष्टि से प्रेय तो प्रेय है ही, परन्तु श्रेय भी अन्ततोगत्वा प्रेय ही बन जाता है। ऐसी अवस्था में वही श्रेयःपन्था है, जिसमें न प्रेय है, न श्रेय है। दोनों हैं, दोनों का बन्धन नहीं है। प्रेयरूप प्रेय, श्रेयरूपप्रेय प्रेय है, निष्कामकर्मलक्षण उभयरूपारूप श्रेय श्रेय है। यही निःश्रेयसभाव है। इन्ही दोनों का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत्-श्रुति कहती है—

> १-अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
> तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥[1]
> २-श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
> श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥[2]

प्रकृत प्रकरण प्रेयोमूला आसक्ति को हटाने का उपाय बतलाता हुआ "**प्रेयोऽनासक्तिमूला स्थितप्रज्ञता**" का ही स्वरूप बतलाता है। प्रेय का प्रियभाव से सम्बन्ध है। हमारा कर्म्मात्मा कितने ही पदार्थों के साथ प्रेम करता है, कितनों ही से द्वेष रखता है। प्रेम और द्वेष दोनों का मूल राग ही है। अनुकूल-राग का नाम प्रेम है, प्रतिकूलराग का नाम द्वेष है। प्रेम सुख का कारण है, द्वेष दुःख का कारण है। यह अच्छा है, यह बुरा है। यह अपना है, यह पराया है, यह राग-द्वेष ही प्रेयभाव की आसक्ति का कारण है। सुख पर दृष्टि है, इसलिए दुःख विरोधी मालूम होता है। दुःख पर दृष्टि है, इसलिए सुख की इच्छा होती है। रुचिकरभाव अरुचिकरभाव को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाता है। श्रेयोऽनुगामी मनोयुक्त कर्म्मात्मा सुख के साथ चिपक कर अपना स्वरूप खो बैठता है एवं दुःख से उद्विग्न हो कर अपना स्वरूप खो बैठता है। कामना के परित्याग से जब स्थिरप्रज्ञा द्वारा कर्म्मात्मा में आत्ममयी तुष्टि का उदय हो जाता है तो प्रेय भाग में से अपने आप इस मनोमय कर्म्मात्मा की आसक्ति हट जाती है। सुख में भी राग है, दुःख में भी राग है। राग आसक्ति है। आसक्ति मोहद्वारा भय की जननी है। भय की चरम सीमा मृत्यु है, मध्यसीमा क्रोध है। किसी बच्चे को यदि बार-बार डराया जाता है तो उसका स्वभाव चिड़-चिड़ा हो जाता है। कुछ दिन तो भय खाता है। फिर उसका भय आगे जा कर क्रोधरूप में परिणत हो जाता है। क्रोध स्मृतिविभ्रम का कारण है। स्मृतिविभ्रम धीनाश (बुद्धिनाश) द्वारा आत्मोत्क्रान्तिलक्षण मृत्यु का कारण है। क्रोध छोड़ो। इसके लिए भय का परित्याग करो। सुख-दुःख दोनों में भय है। दोनों में से राग (आसक्ति) हटाओ। तभी तुम स्थितधी, मुनि कहलाओगे। सुख की स्पृहा ही प्रेयोभाव है। इसमें अनासक्ति रखने से दुःख अपने आप निवृत्त हो जाता है। हम सुख की लिप्सा रखते हैं, यही दुःख-भय-क्रोध का कारण है। यदि सुखावसरों पर हमारा आत्मा स्थिर बन जाए तो दुःख से हमारा आत्मा कभी कम्पित न हो। प्रेयपदार्थों की स्पृहा किं वा आसक्ति ही दुःखरूप क्षोभ की मूलजननी है। जिस दिन कर्म्मात्मा में प्रेयोऽनासक्तिभाव का उदय हो जाता है, तत्काल प्रज्ञा-स्थिर हो जाती है।

---

१ कठोप० १।२।१। २ कठोप० १।२।२।

अर्जुन प्रेयोभाव की कृपा से ही क्लान्त हो रहा था। अर्जुन प्रेयोभावमूलक जायीराग का अनुगामी बनता हुआ उत्थाप्याकांक्षा के बन्धन में बन्ध कर युद्ध से विमुख हो रहा है। ये हमारे प्रियबन्धु हैं, इन्हें हम कैसे मारें, यही तो इसकी प्रेयोभावमयी आसक्ति थी। भगवान् कहते हैं, तू स्थायीराग का आश्रय ले। स्थायीराग का आत्मकामरूपा उत्थिताकांक्षा से सम्बन्ध है। आक्रमणरक्षार्थ युद्ध की इच्छा रख, आक्रमणबुद्धि से युद्धेच्छा मत कर। आनुशासनिक कर्म्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। श्लोकस्थ **स्पृहा, राग** ये दो शब्द ही प्रेयोभाव के सूचक हैं। ये ही स्थितप्रज्ञता के विरोधी हैं। दोनों को हटाना प्रेयोऽनासक्ति है। यही कर्मात्मप्रसादमूला दूसरी स्थितप्रज्ञता है।

॥ २ ॥

—o—

३–विज्ञानात्मप्रसादमूला-श्रेयोऽनासक्तिमूला स्थितप्रज्ञता–

३–यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥[1]

प्रथमा स्थितप्रज्ञता में कामपरित्याग का आदेश है। दूसरी में रागस्पृहापरित्याग का आदेश है। एवं इस तीसरी स्थितप्रज्ञता में स्नेहपरित्याग का आदेश है। इसीलिए हमने इसे विज्ञानात्ममूला स्थितप्रज्ञता कहा है। प्रेयभाग में से स्पृहा थोड़े से विवेक से हट जाती है। परन्तु श्रेयोभाव में से स्नेह हटना थोड़ा कठिन है। कामनाप्रधान शास्त्रीय कर्म्म पर सहसा हमारी निष्ठा हो जाती है। इस निष्ठा का कारण मनोऽनुगता अतएव स्नेहभावप्रधाना बुद्धि ही है। मनोऽनुगता बुद्धि का विवेक इस निश्चय पर पहुँचता है कि सांसारिक रुचिकर (प्रेय) कर्म्म आगे जा कर (वृद्धावस्था में) दुःख के कारण बनते हैं। ये सब क्षुद्र काम हैं। द्विजाति, विशेषतः ब्राह्मण का यह देह उस पारलौकिक स्वर्गादिफल की प्राप्ति के साधक बहुप्रयाससाध्य यज्ञादिश्रेयःकर्म्मानुष्ठान परक ही होना चाहिए। यद्यपि इन हितकर कर्म्मों में–**"क्रियाविशेषबहुलाम्"**–के अनुसार बडी खटपट करनी पड़ती है, क्लेश उठाना पड़ता है, परन्तु उस स्वर्गफलावाप्तिरूप महाहित के सामने इस कष्ट का कोई मूल्य नहीं है। इसी आधार पर एक सूक्ति भी प्रचलित है—

ब्राह्मणस्य हि देहो ऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥[2]

इस प्रकार कितने (कर्म्मठ) ही श्रेयःकर्म्म में आसक्ति रखते हुए ही कर्म्म करने में बुद्धि विवेक का पर्य्यवसान मानते हैं। परन्तु–"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"–इत्यादि के अनुसार कामना-

१ गीता २।५७। २ भागवत ११।१७।४२।

मिश्रित इन श्रेयःकर्म्मों के भी पक्षपाती नहीं हैं, जैसा कि उसी प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। श्रेयःकर्म्म की प्रवृत्ति का हेतु फलानुगामी मन ही है। फलानुगत मन स्नेहगुणक है, यह आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इस स्नेहमय मन के आशापाश में बुद्धि अपने स्वाभाविक असंग तेजोभाव से च्युत होती हुई स्नेहमयी बन जाती है। ऐसी बुद्धि का विवेक उक्त प्रकार से श्रेयःकर्म्मों के प्रति स्नेह का कारण बन जाता है। स्नेहभाव से ही स्नेहभावयुक्ता बुद्धि ही "यह कर्म्म स्तुत्य है, यह कर्म्म निन्दनीय है" इत्यादि द्वन्द्वभावों की प्रवृत्ति का मूल कारण बनती है। द्वन्द्वभाव कभी प्रज्ञास्थिरता का कारण नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में इस स्थितप्रज्ञता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम सर्वत्र स्नेहभाव का परित्याग करते हुए शुभ-अशुभ के राग-द्वेष से वियुक्त रहें। तभी प्रज्ञा स्थिर हो सकती है। अच्छे की स्तुति नहीं, बुरे की निन्दा नहीं, यही **अनभिस्नेह** है - यही स्थितप्रज्ञता की मूलभित्ति है। शुभभाव श्रेयोभाव का सूचक है, अतएव इस स्थितप्रज्ञता को हम **"श्रेयोऽनासक्तिमूला"** मानने के लिए तय्यार हैं। साथ ही में प्रज्ञाप्रसाद द्वारा इससे विज्ञानात्मा का प्रसाद होता है, अतएव हमने इसे विज्ञानात्मप्रसादमूला कहा है।

॥ ३ ॥

——०——

४–अव्ययात्मप्रसादमूला–तृप्तिमूला स्थितप्रज्ञता—

४–यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥[1]

तुष्टिमूला स्थितप्रज्ञता का स्वरूप बतलाते हुए हमने कहा है कि ऐच्छिक अर्द्धतृप्ति का नाम तुष्टि है एवं पूर्णतृप्ति का नाम तृप्ति है। तुष्टि का **अर्द्धेन्द्र** के साथ सम्बन्ध है एवं तृप्ति का पूर्णेन्द्र के साथ सम्बन्ध है। अर्द्धेन्द्र जीवात्मा है, पूर्णेन्द्र परमात्मा है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्ति अक्षरावच्छिन्न आध्यात्मिक आत्मा जीवात्मा है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति अव्ययावच्छिन्न आधिदैविक आत्मा परमात्मा है। परमात्मा कश्यप प्रजापति हैं। जीवात्मा इसी का अंश है। परमात्मा सब का द्रष्टा होने से, साक्षी होने से **"पश्यक"** है। निरुक्तसिद्ध वर्णविपर्य्यय के अनुसार 'पश्यक' शब्द ही "कश्यप" रूप में परिणत हो रहा है। जैसाकि–**"कश्यपः पश्यको भवति"** इत्यादि रूप से स्पष्ट है। **"एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत"**–इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजापति कश्यपरूप में परिणत हो कर ही रोदसी त्रैलोक्य में रहने वाले सांख्योक्त चतुर्दशविधसर्ग का उपादान बनता है। कूर्म्म (कछुआ) उस प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा है। जैसा आकार उस त्रैलोक्यव्यापक कश्यपप्रजापति का है, ठीक वैसा ही आकार इस कूर्म्म का है। कूर्म्म का अधोभाग समधरातलमय है। ऊपर का पृष्ठभाग सर्वथा वर्त्तुल है। साथ ही में कूर्म्म अपने हाथ-पैर आदि अङ्गों को चारों ओर से समेट कर चारों ओर से वर्त्तुलसा बना रहता है। वर्षा के

१ गीता २।५८।

समाप्त हो जाने पर कूर्म्म सर्वात्मना अङ्गों को समेट कर भूगर्भ में चला जाता है। वहाँ इसी योगवृत्ति में प्रतिष्ठित रहता हुआ यह मिट्टी खाया करता है। कूर्म्म का यह आत्मसंयम सचमुच एक विलक्षण घटना है। बिना वायु के इन्द्रियसंयम द्वारा केवल मिट्टी के आधार पर महिनों भूगर्भ में प्रतिष्ठित रहना, क्या योगियों की योगवृत्ति से कम महत्व रखता है? आठ मास के अनन्तर जब पुनः वर्षा ऋतु का आगमन होता है तो कूर्म्म जमीन से निकल कर उसी संयतवृत्ति से पानी में तैरने लगता है। इस प्रकार कूर्म्म का उस कश्यपप्रजापति का प्रतिमात्व सर्वात्मना चरितार्थ हो जाता है। कूर्म्म पशु का आकार कश्यप प्रजापति जैसा है अतएव वह प्रजापतिवाचक कश्यप शब्द कूर्म्म पशु के साथ सम्बद्ध हो गया है एवं यह कूर्म्मशब्द उस कश्यपप्रजापति के साथ युक्त हो गया है। इस कूर्म्म को कश्यप कहा जाता है, उस कश्यप को कूर्म्म कहा जाता है। दोनों का आकार समान, दोनों की वृत्ति समान। वह भी संयतेन्द्रिय, यह भी संयतेन्द्रिय। इसी समानता के आधार पर **चयनयज्ञ** नाम से प्रसिद्ध अग्नियज्ञ में उपासनासिद्ध प्रतिमासिद्धान्त के अनुसार निदानविधया उस कश्यपप्रजापति की विभूति प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार इस कूर्म्म की चिति का आश्रय लिया जाता है, जैसे कि त्रैलोक्यव्यापक प्रजापति की आराधना के लिए शालग्राममूर्ति को मध्यस्थ बनाया जाता है। इसी उपासना को **"प्रतीकोपासना"** कहा जाता है। इसी कूर्म्मचितिरहस्य को लक्ष्य में रख कर वाजि ब्राह्मण कहता है—

"कूर्म्ममुपदधाति। रसो वै कूर्म्मः। रसमेवैतदुपदधाति। यो वै स एषां लोकानामप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्म्मः। यावानु वै रसस्तावानात्मा। स एष इमऽएव लोकाः। तस्य यदधरं कपालं अयं स लोकः। अथ यदुत्तरं सा द्यौः। अथ यदन्तरा, तदन्तरिक्षम्। स यत् कूर्म्मो नाम, एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत्तत्। यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः–सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः"–इति।[1]

कूर्म्मपशु के स्वरूप को सामने रखिए एवं उस कश्यपप्रजापति के स्वरूप पर दृष्टि डालिए। किसी निरावरण प्रान्त में खड़े हो कर जब आप चारों ओर दृष्टि फैलाएँगे तो आपको धरातल चारों ओर से सर्वथा सम प्रतीत होगा एवं धरातल के वर्त्तुल हरिज्जन से (क्षितिज–होराइजन से) आकाश मिला हुआ प्रतीत होगा। स्वयं आकाश सर्वथा अर्द्धाण्डवत् प्रतीत होगा। लीजिए, कछुए का स्वरूप आपने प्रत्यक्ष देख लिया। ठीक यही रूप धारण कर प्रजापति सृष्टिनिर्म्माण में समर्थ होते हैं। धरातल पृथिवी लोक है। आकाशमण्डल द्युलोक है। दोनों का मध्यभाग अन्तरिक्ष है। इन तीनों लोकों में क्रमशः दधि (घन), घृत (तरल) मधु (विरल) रस प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं अपने अङ्गभूत तीनों रसों से प्रजापति प्रजा निर्म्माण करते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथा अमृतरस और है। त्रैलोक्यमूर्ति रसत्रयावच्छिन्न कूर्म्मप्रजापति क्रन्दसीत्रैलोक्य के सरस्वान्-समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। यही चौथा आपोलोक

१ शत०ब्रा० ७।५।१।१–३,५।

कि वा सोमलोक है। इसी के लिए–**"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः"**–यह कहा जाता हैं। यही चौथा अमृतरस है। इसी अमृतरस की प्राप्ति के लिए चयनयज्ञ में कूर्म्म के चारों ओर अब्मूर्ति **"अवका"** (शैवाल) लगाए जाते हैं एवं रसत्रयी के लिए–**"दध्ना मधुना घृतेनाभ्यनक्ति तम्"**–के अनुसार दधि (दही), मधु (शहद), घृत (घी) तीनों से कूर्म्म को स्नान कराया जाता है। हमारी दैनिक उपासना में इसी रसप्राप्ति के लिए **"दधि-घृत-मधु-दुग्ध-शर्करा"** इन पाँच द्रव्यों से भगवत्प्रतिमा को स्नान कराया जाता है। यही पञ्चामृतस्नान कहलाता है। सर्वान्त में गंगातोय से, इसकी अप्राप्ति में विशुद्ध जल से स्नान कराया जाता है। यह अमृतस्थानीय है। गङ्गातोय साक्षात् ब्रह्मणस्पति सोम है। अस्तु, बतलाना यही है कि कश्यपप्रजापति चार रसों से नित्ययुक्त रहते हैं। इन्हीं से वृष्टि का निर्गम होता है। आदित्य ही कूर्म्म है–**"आदित्याज्जायते वृष्टिः"**–यह प्रसिद्ध है। **"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः"** इत्यादि प्रकरण में इन सब का विशद निरूपण होने वाला है, अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि कूर्म्म से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है - अन्न में उक्त चारों रस विद्यमान हैं। दानाभाग दधि है। दूध ही जम कर दही बनता है। आराहोवस्था में खेत में अन्न दूधिया रहता है। वही जम कर ठोस हो जाता है। यह सचमुच जमा हुआ दूध, दधि है। अन्नगत यही पार्थिव दधिभाग हमारी हडडी-मांस-दांत आदि घनभावों का आरम्भक बनता है। आटा गौंदने पर जो एक प्रकार का लुआब आ जाता है, वही आन्तरिक्ष्य घृतभाग है। अन्नगत मिठास दिव्यलोकस्थ मधुभाग है। स्वाद मिठास से भिन्न वस्तु है। नमकीन में भी स्वाद रहता है। इसी के लिए–**"यो वः शिवतमो रसः"**–यह कहा जाता है। यही स्वाद चौथा अमृतरस है। अन्नगत घृत से शरीर के तरलपदार्थ एवं ओज का निर्म्माण होता है। मधु से शुक्र की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। अमृत से मन का विकास होता है। इस रसचतुष्टयमूर्ति अन्न की आहुति से शुक्र उत्पन्न होता है, शुक्राहुति से प्रजोत्पति होती है। इस प्रकार वृष्टि-अन्न-शुक्र इस परम्परा से वह कूर्म्म ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। यह तो हुआ पारम्परिक क्रम। अब साक्षात्क्रम का विचार कीजिए।

शुक्राहुति से मातृयोनिगतशोणित में शुक्र-शोणित के मिथुन से जिस क्षण में गर्भ का उदय होता है, उसी क्षण से साक्षात् रूप से भी कूर्म्मरस का आगमन होने लगता है। गर्भ का जो केन्द्र होता है, वही केन्द्र उस खगोलमूर्ति कूर्म्मप्रजापति का है। प्रत्येक प्राणी का केन्द्र स्वतन्त्र है, अतएव प्रत्येक की खगोलात्मिका कर्म्मसंस्था सर्वथा पृथक्-पृथक् हो जाती है। इसीलिए प्रत्येक का जन्मफल पृथक् हो जाता है। इस केन्द्र को मूल मान कर चारों ओर से कूर्म्माकार रस आने लगता है। मातृभुक्त कूर्म्मरूप अन्नरस के साथ-साथ साक्षात्रूप से भी यह खगोलीय रस गर्भपुष्टि का कारण बनता है। धरातल पर आने के पीछे भी यही पुष्टिक्रम चलता रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर–**"एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत"**–यह कहा गया है। खगोलीयकूर्म्म पूर्णेन्द्र है। सूर्य्यगत ज्येष्ठतम आदित्यप्राण को ही इन्द्र कहा जाता है। यही इन्द्रप्राण उक्त कूर्म्माकार में परिणत होता है, जैसा कि–**"आदित्यो वै कूर्म्मः"** इत्यादि से स्पष्ट है। खगोल चारों ओर से वर्त्तुल है। वर्त्तुलवृत्त के केन्द्र से चारों ओर समानरूप से हृद्शक्तियों का विकास रहता है। यही इसकी पूर्णता है। इसी वर्त्तुलभाव के कारण खगोलीय इन्द्र पूर्ण रहता है। सभी अंग चारों ओर से संयत हैं। इसी आधार पर श्रुति कहती है—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।[1]

परन्तु जीव में आधे खगोल का ही रस किं वा प्राण आता है । सूर्य्यद्वारा दृश्य अर्द्ध खगोल से पुरुष सृष्टि होती है, चन्द्रमा द्वारा अदृश्य अर्द्ध खगोल से स्त्री का स्वरूप निर्म्माण होता है । स्त्री पुरुष का आधा अंग है । स्त्री अर्द्धाकाश है, पुरुष अर्द्धाकाश है । दोनों के समन्वय से पूर्णतालक्षण दाम्पत्यभाव का उदय होता है । इसी आधार पर–"**सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यते**"–यह कहा जाता है । इसी अर्द्धभाव के कारण प्रजासृष्टि को "**अर्द्धेन्द्र**" कहा जाता है । अपूर्णता में केन्द्रशक्ति का चारों ओर पूर्ण विकास नहीं रहता, अतएव पुरुष नियतेन्द्रिय बना हुआ है । अल्पशक्ति बना हुआ है । अर्द्धेन्द्रसृष्टियों में एकमात्र कूर्म्म पशु ही ऐसा है, जो अर्द्धेन्द्रिय बनता हुआ भी पूर्णेन्द्र कश्यप की भांति अपने अंगों को समेट कर संयतभाव को प्राप्त हो रहा है । यही इस कूर्म्मपशु की पूर्णतालक्षणा तृप्ति है । यह है प्राकृतिक परिस्थिति । इस स्थिति को सामने रखते हुए श्लोकार्थ का समन्वय कीजिए ।

पुरुष अर्द्धेन्द्र है । यही अपूर्णता इसे तृप्ति से वञ्चित किए हुए है । इसके इसी अपूर्णता के कारण इसकी प्रज्ञा अस्थिर बनी हुई है । इस अस्थिरता को दूर करने के लिए इसे पूर्ण बनना पड़ेगा । पूर्ण बनने के लिए इसे कूर्म्मवृत्ति का आश्रय लेना पड़ेगा । कूर्म्मवृत्ति के अभ्यास से जिस दिन इसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थों (विषयों) के लिए चारों ओर से संयत हो जाएँगी, उस दिन इसमें उस कूर्म्म की तृप्ति लक्षणा पूणता का उदय हो जाएगा । यही तृप्तिमूला स्थितप्रज्ञता कहलाएगी । ध्यान रहे, न तो कूर्म्मपशु विषय का परित्याग करता, न कश्यपप्रजापति विषय से पृथक् रहता । केवल संयममात्र है । इसी प्रकार कूर्म्मवृत्तियुक्त पुरुष भी विषयों का त्याग नहीं करता है । केवल इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों के लिए नियत बना लेता है । अर्थात् आगतविषयों का सम्बन्ध केवल इन्द्रियवर्ग के साथ होता है । प्रज्ञाभाग (मनोभाग) निर्लेप रह जाता है । यही स्थितप्रज्ञता है । पूर्णता में अव्ययात्मा का पूर्ण विकास है, अतएव इस तृप्तिमूला स्थितप्रज्ञता को हमने अव्ययात्मप्रसादमूला कहा है । यही चौथी स्थितप्रज्ञता है ।

।। ४ ।।

—o—

५–अनशनतपोमूला स्थितप्रज्ञता—

५–विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वानिवर्तते ।।[2]

"**उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः**"–इस सिद्धान्त के अनुसार उपेय (लक्ष्य) प्रतिपत्ति एक रूप है, उसकी प्राप्ति के उपाय अनेक हैं । "**रुचीनांवैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां–नृ णामेकोगम्यस्त्वमसि**

१ गीता १३।१३ । २ गीता २।५९ ।

पयसामर्णव इव"–पुष्पदन्त की इस सूक्ति के अनुसार स्थितप्रज्ञतारूप उपेय एक है । प्राप्ति के उपाय अनेक हैं । वे उपाय स्थितप्रज्ञता के सम्बन्ध में ६ हैं । इनमें चार उपाय सर्वश्रेष्ठ हैं एवं इन चारों का युक्तयोगी से सम्बन्ध है । जिन की प्रज्ञा स्थिर हो गई है, वे ही अर्द्धतृप्ति में संतोष कर सकते हैं । वे ही रुचिकरात्मक प्रेयोभावों में अनासक्ति रख सकते हैं । वे ही हितकरात्मक श्रेयोभावों में अनासक्ति रख सकते हैं । वे ही तृप्तिमूला पूर्णता के अधिकारी बन सकते हैं । परन्तु जिन की प्रज्ञा अभी तक स्थिर नहीं हुई है, जो अभी प्रज्ञा को स्थिर करने का प्रयास कर रहे हैं वे युञ्जानयोगी (आरुरुक्षु-कोशिश करने वाले-अभ्यास मार्ग पर आरूढ) अभी तक तुष्टि-प्रेयोऽनासक्ति-श्रेयोऽनासक्ति तृप्तिभावों से वञ्चित हैं । इनके लिए भगवान् ने निम्न कोटि के क्रमशः दो उपाय बतलाए हैं । पहला उपाय है–"**अनशन**" । अनशन का तात्पर्य्य यहाँ **उपवास** से है । अन्न से मन बनता है, फलों से बुद्धि का विकास होता है । कारण इसका यही है कि **ओषधि** नाम से प्रसिद्ध अन्न में चान्द्रसोम की प्रधानता रहती है एवं **वनस्पति** नाम से प्रसिद्ध फलों में सौर अग्नि की प्रधानता रहती है । उधर "**मनश्चन्द्रेण लीयते**" के अनुसार मन का प्रभव चन्द्रमा है एवं "**धियो यो नः प्रचोदयात्**" के अनुसार बुद्धि का प्रभव सूर्य्य है । इसी सजातीयता के कारण ओषधिरूप अन्न मनोबल बढ़ाता है एवं वनस्पतिरूप अन्न बुद्धिबल बढ़ाता है । उपवास में ओषधिरूप अन्न का परित्यागप्राय है, वनस्पतिरूप अन्न का ग्रहण है । यह अन्नाशन अनशन के ही समान है । कारण ओषध्यन्न मलप्रधान है । मल (भौतिक) भाग की वृद्धि करना इसका मुख्य काम है । जब इसका निरोध हो गया तो अशन एक प्रकार से अनशन ही बन गया । उपवास में अनशन लक्षण अशन का ही ग्रहण है । नियमित सात्त्विक अशन अनशन है । इससे जीवनयात्रा का भी विघात नहीं होता एवं अशनप्रयुक्त किट्ट भी उत्पन्न नहीं होता । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"अथातोऽशनानशनस्यैव । तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने । तदु होवाच याज्ञवल्क्यः–यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो (मृतो) भवति, यद्युऽअश्नाति-देवानत्यश्नातीति । स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयादिति । यस्य वै (देवा) हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितम् । स यदश्नाति, तेनापितृदेवत्यो भवति, यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति, तेनो देवान्नात्यश्नाति । स वाऽआरण्यमेवाश्नीयात् । या वा आरण्या ओषधयो, यद्वा वृक्ष्यम्" ।[1]

प्रकृत अनशन प्रकरण की अपेक्षा से उक्त वाजिश्रुति का यही तात्पर्य्य है कि हमारी अध्यात्मसंस्था में भूत और प्राण–ये दो विवर्त्त हैं । भौतिकविभाग का अधिष्ठाता अन्नभूतमय मन है । सौम्य प्राण को ही पितर कहा जाता है । यही जीवन की मूलभूमि है । पितृप्राण के उत्क्रान्त होते ही अध्यात्म संस्था का निधन हो जाता है । प्राणप्रपञ्च की अधिष्ठात्री बुद्धि है । बुद्धिगत सौर प्राण को ही देवता कहा जाता है । यह है परिस्थिति । इस परिस्थिति में यदि भरपेट अन्न खा लिया जाता है तो भूतमय

१ शत० ब्रा० १।१।१। ७ व ६ ।

मन की तृप्ति के द्वारा पितर भाग तो तृप्त हो जाता है, परन्तु अन्न से उत्पन्न मल बुद्धिगत देवताभाग को मलिन बना देता है। साथ ही में देवप्राण की पुष्टि भी नहीं रहती। यदि कुछ भी नहीं खाया जाता है तो देवप्राण तो सुरक्षित रह जाता है, परन्तु उस समय अन्नाधार पर प्रतिष्ठित पितर प्राण उत्क्रान्त हो जाता है। यही उत्क्रान्ति आगे जा कर मृत्यु का कारण बन जाती है। निष्कर्ष यह हुआ कि भोजन से मन की रक्षा होती है, बुद्धि निर्बल रहती है। न खाने से बुद्धि की पवित्रता अक्षुण्ण रहती है, परन्तु मृत्युदेवता मन के साथ साथ सब कुछ नष्ट कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाए ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, तुम ऐसी चीज खाओ, जिसका खाना न खाने के समान हो। जंगल में अपने आप उत्पन्न अन्न अथवा फल खाने से, (श्रुत्यन्तर के अनुसार गौदुग्ध पीने से) विषमता हट जाती है। इनसे मल उत्पन्न नहीं होता, इसलिए तो देवता का विकास बना रहता है। कुछ भौतिक भाग भी रहता है, इसलिए मृत्यु का समावेश नहीं होता। यही अशन अनशन है। यही प्रकृत गीताप्रकरण का निराहार है। ध्यान रहे, जो महानुभाव निराहार का "**सावयस**" ऋषि की तरह सर्वथा न खाना अर्थ करते हैं, वे भ्रान्ति में है। भोजन न किया जाएगा तो जीवनयात्रा का निर्वाह ही असम्भव हो जाएगा। डट कर मत खाओ, भूखे भी मत रहो'' यही निराहार है। ठीक समय पर सात्त्विक अन्न खाओ, यही निराहार है। स्वयं भगवान् आगे जा कर-"**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः**"-इत्यादि रूप से निराहार के इसी अर्थ का समर्थन करने वाले हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि केवल भोजननिष्ठ मनुष्य का मन अन्नमल से मलीमस बनता हुआ बुद्धि बिगाड़ देता है। बुद्धि अस्थिर हो जाती है। ऐसे बहुभोजी को भी योगनिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती। जब तक वह भोजनप्रिय बना रहेगा तब तक उसके आत्मा में संस्काररूप विषय अधिकाधिक रूप से संचित होते रहेंगे। संस्काराधिक्य से संचित संस्कार तो दृढमूल बन ही जाएँगे, साथ ही में सब से बडा अनिष्ट यह होगा कि ऐसे व्यक्ति का मन कभी स्थिर न होगा। मन की अस्थिरता को साथ लिए हुए यह कभी स्थितप्रज्ञतामूलक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ न हो सकेगा। यदि इसे संस्काररूपविषय बंधन को हटाते हुए स्थितप्रज्ञता प्राप्त करनी है तो इसका पहला एवं प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिए-अपने आहार-विहार को नियमित बनाना। इस निराहार वृत्ति से, किं वा आत्मकामना से यदृच्छयाप्राप्त भोगों से इसमें कभी संस्कारों का लेप न होगा। इस प्रकार आगामि विषयसंस्कारों से इसे छुट्टी मिल जाएगी। इसी अभिप्राय से भगवान् ने-"**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः**"-यह कहा है।

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न बच जाता है। आगामी संस्कारों को तो रोक दिया गया। परन्तु जो संस्कार इस जन्म के कृत कर्म्मों से संचित हो गए हैं एवं जो संस्कार पूर्व जन्म से सञ्चित हैं, उनसे सम्बन्ध रखने वाली कामलिप्सा के निरोध का क्या उपाय? श्लोकोत्तरार्द्ध से भगवान् इसी प्रश्न का समाधान करते हैं। प्रवृत्ति का मूल कारण रसास्वादनरूप रससंस्कार है। किसी भोग में हमें बडा आनन्द आता है। इसी आनन्द के कारण उसका संस्कार मनःपटल पर रञ्जित हो जाता है। इसी रससंस्कार को लोक भाषा में "**मजा**" कहा जाता है। जिसको जिस विषय में एक बार मजा आ जाता है, शास्त्रीय शब्दों के अनुसार जिसके अन्तःकरण में एक-बार जिस विषय का संस्कार आ

जाता है, वही रस, (मजा-संस्कार) उसे बार-बार उस विषय की ओर आकर्षित करता रहता है। संचित संस्कारपुञ्ज ही "**रस**" है। यही "**सङ्ग**" है। "**सङ्गात् सञ्जायते कामः**"-के अनुसार रसरूप यह संग ही कामना (विषयलिप्सा) का कारण बनता रहता है। इस रसप्रवृत्ति का मूल कारण पूर्वोक्त आहार ही है। भोजनप्रिय व्यक्ति आगामी रसात्मक संस्कारों से इन संचित संस्कारों को उत्तेजित किया करता है। एक व्यक्ति के अन्तर्जगत् में सिनेमा का संस्कार बैठा है। उसके मित्रवर्ग कहते हैं— "**अमुक चित्रपट बडा सुन्दर है। देखने ही लायक है**" इस शब्दजनित नवीन रससंस्कार से उसका संचित रसरूप संस्कार जागृत हो पड़ता है। तत्काल वह सिनेमा देखने में प्रवृत्त हो जाता है। यदि भविष्य में होने वाली उत्तेजनाओं का द्वार बंद कर दिया जाता है, साथ ही में स्वकर्त्तव्य कर्म्म में अनन्यनिष्ठा हो जाती है तो इन संचित रससंस्कारों को आगे बढने का अवसर ही नहीं मिलता। "**खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग बदलता है**" वाली मिसाल मशहूर है। आगामी रससंस्कार से संचित रससंस्कार उत्तेजित हो जाते हैं। जब निराहार द्वारा आगामी संस्कारविषय निवृत्त हो जाते हैं तो इन आगामी रससंस्कारों से रहित वह सञ्चित संस्काररूप रस भी अपने आप निवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य्य कहने का यह है कि निराहारवृत्ति से मन केवल जीवनयात्रोपयोगी आत्मकामनासम्बन्धी विषयग्रहण में प्रवृत्त रहता हुआ तज्जनित संस्कारबंधन से विमुक्त होता हुआ प्रत्यङ्मुख बन जाता है। प्रत्यङ्मुख मन बुद्धि द्वारा उस पर (अव्यय) आत्मा के भूमानन्द से युक्त हो जाता है। रस (आनन्द) के लिए ही तो विषयों में आसक्त होता था। जब निराहारवृत्ति से इसे आत्मरस मिल जाता है-तो उस आत्मरस की अपेक्षा सर्वथा निकृष्ट आगामी विषयरस, इनके साथ साथ सञ्चितरस भी निवृत्त हो जाते हैं। निराहार से आगामी विषयरस निवृत्त हुआ। इस रस से वियुक्त संचितरस भी उस पर-रस को देख कर निवृत्त हो गया। संचित रस को हटाने के लिए कोई अन्य प्रयास नहीं करना पड़ता। निराहार वृत्ति से केवल आगामी विषयरसों को रोक दो। रसवर्जंरस अपने आप निवृत्त हो जाएगा। इस प्रकार अनशनरूप निराहारतप से क्रमशः उपासक अधिकाधिक उस परात्मा के समीप पहुँचता हुआ कालान्तर में स्थितप्रज्ञ बन जाता है। साध्यभाव से सम्बन्ध रखने वाली यही पाँचवीं स्थितप्रज्ञता[1] है।

॥ ५ ॥

—०—

१-निराहारस्य देहिनः समृद्धानन्दमूला विषयसंस्कारा विनिवर्त्तन्ते। ततश्च सञ्चितसंस्कारात्मकः सङ्गरूपसमृद्धानन्दरूपो रसोऽपि विषयसंस्काररूपेण रसेन वियुक्तः सन् आत्मदर्शनेन निवर्त्तते। अथवा निराहारस्य देहिनो रसवर्जं मनो विषयसक्त्या विनिवर्त्तते। ततश्च सञ्चितसंस्कारा अपि निवर्त्तन्ते।

६-इन्द्रियवशीकारमूला स्थितप्रज्ञता–

६-यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥[1]
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥[2]

योगनिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक विद्वान् निराहाररूप अनशनतपःकर्म्म में प्रतिष्ठित होता है। परन्तु बात यह है कि खूब सोच समझ कर यत्न करने वाले विद्वान् का भी मन कभी-कभी चञ्चल हो ही जाता है। हम नियमित-सात्त्विक-अन्न का अभ्यास कर रहे हैं। सहसा हमारी दृष्टि एक तामस किन्तु सुस्वादु भोजन पर चली जाती है। तत्काल मन विचलित हो जाता है। विषयरस जिस प्रकार सञ्चित रस को बलात्कार से कामना की ओर आकर्षित कर देता है, ठीक इसी प्रकार विद्युन्मूर्त्ति अतएव सर्वथा चञ्चल इन्द्रियाँ बलात् हमारे मन की प्रज्ञा का हरण कर देती हैं। संचितरस को उत्तेजित करने वाले आगामी विषयरस का तो निराहार से दमन कर दिया, परन्तु मन को बीच-बीच में (साधनाकाल में) विचलित करने वाली इन इन्द्रियों को कैसे रोका जाए ? हम अपने मन में संयमी बनने का अभिमान करते हैं। तदनुसार अभ्यास भी करते हैं। परन्तु कानों में सुललित ध्वनि आती है, तत्काल मन विचलित हो जाता है। सुन्दर दृश्य, सुस्वादु भोजन, सुगन्ध आदि इन्द्रियार्थ इन इन्द्रियों की कृपा से मन पर आक्रमण करते हुए मन की स्थिरता बिगाड़ते रहते हैं। इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर है। फलतः वे उस समाकुलित विश्व की ओर अनुगत रहती हुई प्रमथनशील बनी रहती हैं। शान्त समुद्र में कभी-कभी ज्वारभाटा आ जाता है। तूफान खड़ा हो जाता है। शान्ति भंग हो जाती है। इस ज्वारभाटे का ही नाम **"प्रमथन"** है। कभी आँख इधर जाती है, कभी उधर जाती है, कभी रसना खट्टे पर दौड़ती है, कभी मीठे। कभी घ्राणेन्द्रिय गुलाब पर जाती है, कभी केतकी पर, कभी मालती पर। कभी श्रोत्रेन्द्रिय ढोल-मजीरे की ओर, कभी वीणा की झंकार की ओर आकर्षित होती है। इस प्रकार तूफानी अर्थों से नित्य सम्बद्ध इन्द्रियाँ भी तूफानमय बनी रहती हैं। इनके तूफान का आक्रमण मन पर होता है। योगाभ्यास-निष्ठमन की स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद हो जाता है।

इन्द्रियों को नष्ट कर दें तो जीवन यात्रा का निर्वाह बन्द हो जाए। इन्द्रियाँ रहती हैं तो उत्पात मचाए बिना नहीं रहती, योग में विघ्न उपस्थित करती रहती हैं। बडी विषम समस्या है। भगवान् उत्तर देते हैं–इसका एकमात्र उपाय है–मत्परतापूर्वक संयम। जब तक तुम्हें योगनिष्ठा प्राप्त न हो, तब तक तुम ऐसे अवसरों से बचते रहो। सहवासदोष इन्द्रियसंयम का विघातक है। तत्तद्विषयों का अनुध्यान एवं तत्तद्विषयस्थलों में गमनागमन ही इन्द्रियों को आकर्षित करता है। इन्द्रियों को उत्तेजित

१ गीता २।६०। २ गीता २।६१।

करने वाले जितने स्थल हैं, उन सबसे इन्द्रियों को बचाओ। चारों ओर से द्वार बंद करदो। साथ ही में सतत आत्मचिन्तनलक्षण आधिकारिक कर्म्म करते रहो। यह एक सिद्ध विषय है कि जब तक हम अनन्य भाव से किसी काम में जुटे रहते हैं, तब तक सब इन्द्रियाँ उस कर्म्म की अनुगामिनी बनी रहती हैं। इस कर्म्मप्रवृत्तिकाल में कभी इन्द्रियों को इधर-उधर दौड़ने का अवसर नहीं मिलता। कर्म्म पर (अव्यय) का स्वरूप है। इसमें इन्द्रियों को लगाना ही मत्परता है। इस मत्परता से कभी त्वत्परता (विषयपरता) का अवसर नहीं आता। इन्द्रियों को तो कुछ चाहिए। आप यदि उन्हें मत्पर न बनाएँगे तो वे त्वत्पर बनेंगी। ठाली बैठे रहने से इन्द्रियों को उत्पात मचाने का अवसर मिलता है। इसी आधार पर तो श्रुति ने–"**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**"–यह कहा है, जैसा कि–"**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कदाचित् आप प्रश्न करें कि इन्द्रियाँ कर्म्म में प्रवृत्त ही नहीं होतीं, फिर इन्हें मत्पर कैसे बनाएँ? इसका उत्तर है "संयम"। अवश्य ही मत्परता में इन्द्रियाँ घबड़ाती हैं। कारण, उनका स्वाभाविक रुख बाहर की ओर है। परन्तु ऐसे समय आपको थोड़े नियन्त्रण से काम लेना पड़ेगा। आरम्भ में थोड़ा-थोड़ा कर्म्म करो। परन्तु नियम से करो। नियम एक सत्यतत्त्व है। नियतिभाव क्रमशः मन एवं इन्द्रियों में दृढता उत्पन्न करता हुआ मत्परता (कर्म्मपरता) उत्पन्न करता जाएगा। देखिए न! यदि कोई व्यक्ति आरम्भ में थोड़ा सा कष्ट सह कर नियन्त्रण द्वारा ब्राह्ममुहूर्त में उठने का अभ्यास करने लगता है तो कालान्तर में यह इसका स्वभाव बन जाता है। यदि किसी दिन उठने में देर हो जाती है तो चित्त में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। जितने अधिकृत कर्म्म हैं, सब की यही दशा है। आरम्भ में वे रूखे मालूम होते हैं। परन्तु नियन्त्रणमय अभ्यासवश कालान्तर में मत्परता पैदा हो जाती है। जिस प्रकार एक शराबी शराब पीने से लाचार है, उसी प्रकार कर्म्माभ्यासी के लिए कर्म्म अन्न बन जाता है। अपने समय का ऐसा विभाजन करो, जिस से वह खाली बचे ही नहीं। जब कर्म्म करते करते इन्द्रियाँ थक जाएगी तो विश्राम का समय आ जाएगा। लीजिए! इधर उधर भटकने का अवसर ही न रहा। बाँस ही नहीं रहा तो बाँसुरी कैसे बजे? जिन में जरा भी आत्म संयम नहीं हैं, वे अवश्य मत्पर नहीं बन सकते। ऐसे व्यक्तियों के उद्धार का कोई उपाय भी नहीं हैं। इस प्रकार संयम द्वारा जिस दिन इन्द्रियों को आप मत्पर बना देंगे, इन्द्रियों का प्रमथनभाव उच्छिन्न हो जाएगा। इन्द्रियाँ वश में आ जाएँगी। मत्परता सिद्ध होने पर फिर आप कहीं भी जाएँ, कुछ भी करें, कभी फँसेंगे नहीं। मत्परता का रंग कभी इन्द्रियों पर दूसरा रंग नहीं चढने देगा। इस प्रकार संयम-मत्परता से इन्द्रियवशीकारमूला स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जाएगी। यही ६ठी स्थितप्रज्ञता है।

॥ ६ ॥

—०—

॥ इति द्वितीयोपनिषदि पञ्चमोपदेशः ॥

५

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषदि

बुद्धियोगप्रतिबन्धकधर्म्माः

६

द्वितीयायामुपनिषदि—

षष्ठोपदेशः

६–बुद्धियोगप्रतिबन्धकधर्म्माः

१–ध्यायतो[१] विषयान् पुंसः सङ्ग[२]स्तेषूपजायते ।

सङ्गात् संजायते कामः[३] कामात् क्रोधो[४]ऽभिजायते ।। (गीता २।६२)

२–क्रोधाद्भवति संमोहः[५] संमोहात् स्मृतिविभ्रमः[६] ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो[७] बुद्धिनाशात् प्रणश्यति[८] ।। (गीता २।६३)

[मूलानुवाद]—"हे अर्जुन ! विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की (कालान्तर में) उन (चिन्तित) विषयों में आसक्ति हो जाती है । आसक्ति से काम (इच्छा) उत्पन्न होता है । काम (के प्रतिबन्ध) से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मोह होता है । मोह से स्मृति डांवाडोल हो जाती है । स्मृतिभ्रम से बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धिनाश से (आत्मस्वरूपावरणलक्षण) मृत्यु हो जाती है ।

[भाष्य]— बुद्धियोग से स्थितप्रज्ञता हो जाती है । स्थितप्रज्ञ मनुष्य की बुद्धि निश्चला बनती हुई समाधि (आत्मा) में प्रतिष्ठित हो कर अचला हो जाती है । अचला बुद्धि स्मृति की प्रतिष्ठा बनती हुई मोह को हटाने में समर्थ हो जाती है । मोह के हटते ही क्रोध शान्त हो जाता है । क्रोध के निवृत्त होने पर कामना का उच्छेद हो जाता है । कामोच्छेद से आसक्ति जाती रहती है । आसक्ति हटने से ब्राह्मीस्थिति का उदय हो जाता है, यह कहा गया है ।

१—स्थितप्रज्ञतायां—-अचला बुद्धिः समाधौ प्रतिष्ठिता भवति ।

२—समाधिबुद्धया—-स्मृतेः स्वरूपरक्षा जायते ।

३—स्मृत्युदयेन——मोहकलिलनिवृत्तिः ।

४—मोहनाशात्—–-क्रोधोच्छेदः ।

५—क्रोधविनिवृत्तौ—-कामशान्तिः ।

६—कामनोच्छेदे——अनासक्तिः ।

ततश्च–आत्मानन्दावाप्तिः, नित्यानन्दविकासश्च

इस स्थिति में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्धियोग आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है, स्वरूप धर्म्म है। बुद्धि सदा आत्मा से युक्त रहती है। इसी आत्मयोग के प्रभाव से बुद्धि प्रकाशित होती हुई कर्म्मात्मा को तत्तत्कर्म्मों में प्रवृत्त करने के लिए समर्थ होती है। आत्मा सर्वथा असङ्ग है। उधर असंग सूर्य्यांशभूता बुद्धि भी असंग है एवं बुद्धि में आया हुआ ज्ञानात्मक आत्मप्रकाश भी असंग है। इस प्रकार उभयथा असंग बनी हुई, अतएव सर्वथा सुस्थिता बुद्धि कर्म्म का सञ्चालन करती हुई कैसे आसक्तिभाव से युक्त हो जाती है? बुद्धि की आत्मयोगलक्षणा, अतएव स्वाभाविक बुद्धियोगनिष्ठा का क्यों तिरोभाव हो जाता है? किस दोष से बुद्धि अपना स्वरूपधर्म्म खोती हुई बुद्धियोगसम्पत्ति से वञ्चित हो जाती है? बस. प्रकृत प्रकरण बुद्धियोग के विघातक उन्हीं दोषों का स्पष्टीकरण करता है।

आत्मा (अव्यय) विद्या-कर्म्ममय है। आत्मा के इस विद्याभाग के साथ बुद्धि के विद्याभाग का योग यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि कुछ एक दोषों के आक्रमण से बुद्धि का विद्याभाग अविद्यामय बनता हुआ आत्मविद्यायोगलक्षण स्वाभाविक बुद्धियोग से वञ्चित हो रहा है। प्रकृति-पुरुष का यह असमन्वय ही शोक का मूलकारण है। विद्यामय आत्मा पुरुष है, विद्यामयी बुद्धि प्रकृति है। पुरुष ईश्वरतन्त्र है, प्रकृति जीवतन्त्र है। ईश्वरात्मक पुरुष जीवात्मिका प्रकृति से जब तक बिना किसी आवरण के संयुक्त है, तब तक आत्मप्रसाद है, आत्मविकास है। प्रकृतिस्थ आत्मा ही शान्त आनन्द का अधिष्ठाता है। जब आत्मा (अविद्यावरण की कृपा से) अपनी प्रकृति में प्रतिष्ठित नहीं रहता तो क्षोभमूला अशान्ति का उदय हो जाता है। चिदात्मा अपनी स्वाभाविक चिति से वञ्चित होता हुआ परचिति से आक्रान्त हो जाता है। चित्तप्रसाद मारा जाता है। प्रसादहानि को ही वैज्ञानिक **"विनाश"** शब्द से सम्बोधित करते हैं। बुद्धिरूपा प्रकृति के **विद्या-अविद्या** भेद से दो विवर्त्त बतलाए गए हैं। आत्मा का इन दोनों पर समान अनुग्रह है। उदाहरण के लिए यों समझिए कि एक पिता के दो पुत्र हैं। एक महादुराचारी है, कुपूत है, एक सत्कर्म्मकारी है, सुपूत है। कुपुत्र सदा पिता को क्षुब्ध बनाए रहता है, सुपुत्र पिता को सदा शान्ति पहुँचाया करता है। परन्तु वात्सल्य प्रेममूर्त्ति पिता का पितृत्वमूलक स्वाभाविक स्नेह जितना सुपुत्र पर है, उतना ही कुपुत्र पर है। **"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"**। पिता के स्नेह के एवं सम्पत्ति के दोनों ही समानाधिकारी हैं। हाँ, इन दोनों भाइयों में अवश्य ही परस्पर वैर हो सकता है। दोनों अवश्य ही एक स्थान पर नहीं रह सकते। परन्तु पिता दोनों की समान आश्रयभूमि है। स्वयम्भूप्रजापति की **देव-असुर** दो सन्तानें थीं। परन्तु दोनों प्राजापत्य परस्पर सदा लड़ते झगड़ते रहते थे–**'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे"**। परन्तु आपत्ति आने पर दोनों ही स्वयम्भू का आश्रय लेते थे। पिता स्वयम्भू भी दोनों को हितप्रद उपदेश देते थे। यह बात अलग थी कि देवता उस उपदेश का उपयोग आत्मसमृद्धि में करते थे एवं दुष्टबुद्धि असुर उसी उपदेश से विश्व-अशान्ति का कारण बनते थे। इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है? देखिए, एक चोर चोरी करने से पहले अपने इष्टदेव का स्मरण करता है, देवता के लिए 'मानता' मानता है। आश्चर्य, वह भी सफल हो जाता है। सूर्य्यप्रकाश का एक विद्वान् पर भी समान अनुग्रह है, मूर्ख पर भी समान अनुग्रह है। मूर्ख के लिए जहाँ सौर आतप का उपयोग केवल गर्मी पहुँचा देना है, वहाँ एक विद्वान् उन्हीं सौररश्मियों के विशकलन से विविध आविष्कार कर डालता

है। वही दीपप्रकाश विद्वान् के लिए विद्याध्ययन का उपकारक है, वही प्रकाश एक चोर के लिए चौरी का उपकारक है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। आत्मदेवता सूर्य्यस्थानीय है। आत्मप्रकाश जिस रूप से जितनी मात्रा में विद्याबुद्धि पर आता है, ठीक उसी रूप से उतनी ही मात्रा में आत्मप्रकाश अविद्याबुद्धि पर आता है। आत्मा यह चाहे कि विद्याबुद्धि पर ही जाऊँ, अविद्या पर न जाऊँ–यह सर्वथा असंभव है। यदि ऐसा पक्षपात होता तो उसे समदर्शी कौन कहता? इसी आधार पर गीता का निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिष्ठित है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥[1]

ऐसी स्थिति में हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि आत्मा निग्रह-अनुग्रह दोनों से शून्य है। न वह किसी का उपकार करता, न अपकार करता है। उसका स्वभाव है–रश्मिरूप से व्याप्त रहना। उस आत्म-रश्मिमण्डल में जो वस्तु प्रविष्ट रहेगी वह अच्छी हो या बुरी हो, प्रकाशित हो जाएगी। इसे आप अपनी दृष्टि से भले ही आत्मा का उपकार मान लीजिए, परन्तु आत्मदृष्टया न यह उपकार है, न अपकार है, अपि तु, आत्मा की स्वाभाविक वृत्ति है। भगवान् न हाथ जोड़ने से कभी पाप धोते, न तटस्थ रहने से अप्रसन्न होते। स्वरूपधर्म्मविच्छिन्न, सर्वथा निष्कम्प, सर्वत्र सम आत्मविद्या से बुद्धि की अविद्या कथमपि नहीं हटाई जा सकती। इसके लिए तो आपको बुद्धिविद्या का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जैसा कि **"बुद्धौ-शरणमन्विच्छ"**–इत्यादि में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। विद्याबुद्धि सदाचारी भाई है, अविद्या बुद्धि दुराचारी है। दुराचारी का प्रभुत्व हट सकता है, सदाचारी के प्रत्याघात से। अविद्याबुद्धि हट सकती है, विद्याबुद्धि के उदय से। जहाँ दुराचारी रहेगा, वहाँ सदाचारी न रहेगा, जहाँ सदाचारी रहेगा, वहां दुराचारी न रहेगा। जब तक बुद्धि अविद्याग्रस्त रहती है, तब तक बुद्धि का प्रातिस्विक विद्याभाग दबा रहता है। ऐसी ही बुद्धि मलिनबुद्धि कहलाती है। जिस प्रकार काले काच के संसर्ग से श्वेत भी सूर्य्य काला हो जाता है, अथवा काला दिखलाई देने लगता है, एवमेव अविद्यारूप कृष्ण–आवरण से आत्म-रूपा श्वेतविद्या भी कृष्ण दिखलाई देने लगती है। यही आत्मा की अप्रसन्नता है। विकासाभाव है। ध्यान रहे, आत्मा स्वरूप से नित्यशुभ्र, नित्यप्रसन्न, नित्यविकसित है। केवल बुद्धि का विपर्य्यय है। इससे बौद्ध-जगत् का ही अनुपकार होता है। अविद्यामयी बुद्धि से जो आत्मरश्मियों का प्रसार होगा, वह काला होगा। इससे कर्म्म भी कृष्ण हो जाएगा। इस प्रकार अविद्या की कृपा से हम (जीव) उत्तरोत्तर अन्धतम में प्रविष्ट हो जाएँगे। यही तो आत्महत्या का चरम फल है–**"अन्धं तमः प्रविशन्ति, येऽविद्यामु-पासते"**। अविद्याभाग कैसे आत्मनाश का कारण बनता है? बस, **"ध्यायतः०"**–इत्यादि दो श्लोकों से भगवान् ने इसी 'क्यों' का समाधान किया है।

चिदात्मा मन, प्राण, वाक्-भेद से त्रितन्त्र है, त्रिकल है। त्रितन्त्र चिदात्मा में एकमात्र मन ही वास्तविक चिदात्मा है। मन में ही सिसृक्षा से बहिश्चिति होती है, मुमक्षा से अन्तश्चिति होती है।

---

१ गीता ९।३०।

सिसृक्षाकाल में वही मन बहिर्जगत् का प्रभवप्रतिष्ठापरायण बनता हुआ **"बहिर्मन"** नाम से व्यवहृत होता है एवं मुमुक्षाकाल में वही मन अन्तर्जगत् का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण बनता हुआ **"अन्तर्म्मन"** नाम से सम्बोधित होता है । बहिर्मन सङ्गरूपा आसक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ बहिश्चिति के द्वारा बुद्धि को अविद्याभाग से आवृत कर उसे बुद्धियोगनिष्ठा से गिरा देता है एवं अन्तर्मन अनासक्तिभाव की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ अन्तश्चिति के द्वारा बुद्धि के स्वाभाविक चतुर्विध भगलक्षण विद्योदय का कारण बनता हुआ बुद्धियोग के उदय कारण बन जाता है । इस प्रकार एक ही मन दो विरुद्ध वृत्तियों से बन्धन-मुक्ति का कारण बन जाता है । चिति (कर्म्मचिति) दोनों ही अवस्थाओं में है । परन्तु एकचिति बंधन की प्रवर्त्तिका है, इसी को काम्यकर्म्मचिति, किं वा सृष्टिचिति कहा जाएगा । एकचिति मुक्ति की प्रवर्त्ति का है, इसी को निष्कामकर्म्मचिति, किं वा मुक्तिचिति कहा जाएगा । इन दोनों ही चितियों की प्रवृत्ति-कामना से होती है । कामना मन का धर्म्म है । दोनों में अन्तर केवल इतना है कि मुक्तिचिति में अन्तर्मन की आत्ममयी **कामना** का साम्राज्य है एवं सृष्टिचिति में बहिर्मन की विषयमयी **इच्छा** का साम्राज्य है । कामना से जो संस्कार होते हैं, उनकी प्रतिष्ठा भी मन ही है । इस प्रकार चितिप्रवर्त्तकत्वेन, चित्याश्रय भूतत्वेन उभयथा मन ही चिदात्मा कहला सकता है । अभी बहिर्मन की दृष्टि से विचार कीजिए ।

"मनश्चन्द्रेण लीयते"-**"चन्द्रमा मनसो जातः"**–इत्यादि वचनों के अनुसार **बहिर्मन, सर्वेन्द्रियमन, अतीन्द्रियमन, प्रज्ञानमन** इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध मन चन्द्रमा का ही प्रत्यंश है । आकाशविहारी चन्द्रमा सोमपिण्ड है । सोमतत्त्व भृगुवंशी होने से स्नेहगुणक है । इसी स्नेहगुण के प्रभाव से चन्द्रमा में **संयुक्तरूपग्राहित्वलक्षण** आसक्तिधर्म्म का उदय हो जाता है । इसी स्वरूपधर्म्म के कारण चन्द्रमा तत्तन्नाक्षत्रिक रसों के योग से तत्तन्नाक्षत्रिक रसाकाराकारित बन जाता है । इसी आधार पर **आज अश्विनी का चन्द्रमा है, आज भरणी का चन्द्रमा है**–इत्यादि व्यवहार होते हैं । इन व्यवहारों का **आज चन्द्रमा अश्विनीरस से युक्त है, आज भरणीरसाकाराकारित है,** यही तात्पर्य्य है । जब कि हमारा प्रज्ञान-मन अन्न द्वारा चन्द्रमा का अंश है, तो इस में भी संयुक्तरूपग्राहिता का रहना अनिवार्य हो जाता है । अपने इसी स्नेहमूलक संयुक्तरूपग्राहित्वलक्षण स्वाभाविक धर्म्म की कृपा से मन तत्तद्विषयों के साथ युक्त होता हुआ तत्तद्विषयाकाराकारित बन जाता है । हमने हाथी देखा, इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि हमारा सोममयमन हाथी के आकार में परिणत हो गया । पहले पहल जब हाथी के साथ मन का योग होता है तो मन पर हाथी की तस्वीर उतर आती है । मन पर प्रतिबिम्बित यह हाथी सांस्कारिक हाथी है । यही पहली चिति है । चिति का अर्थ है, **'चेजा'** । जो प्रक्रिया एक भवननिर्म्माण में होती है, ठीक वही प्रक्रिया यहाँ होती है । भवननिर्म्माण में **क्या-क्या अपेक्षित है** ? पहले इसका विचार कीजिए । सम्पत्तिशाली एक व्यक्ति की इच्छा होती है कि अपना एक भव्य भवन बनावें । इस कामना से वह इच्छानुसार नक्शा बनवाता है । जब नक्शा बन कर तय्यार हो जाता है तो चतुर शिल्पी के द्वारा भवननिर्म्माण का कार्य्य आरम्भ करवाता है । शिल्पी मालिक की इच्छानुसार ईंट-पत्थर-चूना-मिट्टी आदि सामग्रियाँ इकट्ठी करता है । मजदूर आते हैं । चूना मिट्टी पानी के सहारे मिला दिए जाते हैं । गारा तय्यार हो जाता है । नियत धरातल पर नींव लगा दी जाती है । कार्य्य आरम्भ हो जाता है । मजदूर गारा-ईंटें सौंपते जाते हैं, शिल्पी करणी से गारा मिट्टी रख कर ईंट रखता है, उस पर फिर गारामिट्टी रखता है । फिर दूसरी ईंट रखता

है । इस प्रकार प्रत्येक ईंट के दोनों ओर गारा मिट्टी लगाता हुआ यह चतुर शिल्पी ईंट पर ईंट रखता हुआ कालान्तर में बडा ऊँचा भवन बना डालता है । इस प्रकार मकान मालिक, उसकी इच्छा, इच्छानुसार द्रव्य, शिल्पी, चूनामिट्टी, पानी, ईंटें, मजदूर, करणी इन अनेक कारणों के समन्वय से मकान तय्यार होता है ।

इसी क्रम का आध्यात्मिक भवन में समावेश कीजिए । आनन्द-विज्ञान-मनोमूर्त्ति मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा धरातल (जमीन) है । इसी पर मकान खड़ा होने वाला है । मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा मकान बनाने की इच्छा रखने वाला गृहपति है । बुद्धि नक्शा बनाने वाली है । मन शिल्पी है । इन्द्रियाँ मजदूर हैं । विषयसंस्कार ईंटें हैं । पूर्वजन्म के सञ्चित संस्कार चूनामिट्टी हैं । इन्हीं की कृपा से ईंटें जमती हैं । यदि यह न हो तो ईंटों की चिति असम्भव है । मन में रहने वाला सोमरूप चूना-मिट्टी-ईंट को एकसूत्र में बद्ध करने वाला श्रद्धारस पानी है–**"श्रद्धा वा आपः"** । इस प्रकार बौद्ध नक्शे के अनुसार मनःशिल्पी इन्द्रियों के द्वारा विषयसंस्काररूप ईंटों को ले कर उन्हें संचित कर्म्म संस्काररूप गारे से युक्त करता हुआ ईंट-पर-ईंट रखता हुआ चेजा बना डालता है । इसी समानता को लक्ष्य में रख कर महर्षियों ने इस संस्कारपुञ्ज को **"चिति"** शब्द से व्यवहृत किया है । यह ठीक है कि चिति का फल किसी अन्य (कर्म्मात्मा) को भोगना पड़ता है, फिर भी चिति कहलाती है शिल्पी की ही ! सब शिल्पी के शिल्प की ही प्रशंसा करते हैं । इसीलिए हम भी हम अपने चतुर शिल्पी मन को ही चिदात्मा कहेंगे ।

हम कह रहे थे कि मन पर जो हाथी की तस्वीर उतर आई, वही पहली ईंट है, पहली चिति है । मकान एक ही ईंट से तो नहीं बन जाता । इसी प्रकार केवल प्रथमसंस्कारात्मिका प्रथमाचिति से ही तो आसक्तिमय भवन नहीं बन सकता । अनेक ईंटें अपेक्षित हैं, अनेक संस्कार अपेक्षित हैं । इसके लिए एक ही विषय पर मन का बार-बार जाना आवश्यक है । किसी वस्तु को एक बार आपने देखा, दुबारा देखा, तिबारा देखा, चिरकाल तक देखते ही गए । जितनी बार आप देखते हो, उतनी बार संस्कारों का पुट लगता है । संस्कार पर संस्कार की तह जमती गई । इस संग्रह से कालान्तर में वह संस्कार सचमुच चितिरूप में परिणत हुआ ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध से मन के साथ बद्ध हो जाएगा । स्नेहगुणकसोम की कृपा से ही मन पर आने वाले संस्कार चितिरूप में परिणत होते हुए दृढमूल बन जाते हैं ।

महद्गर्भित गूढोत्मा आत्मा है । इस ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र दो ज्ञानधाराएँ निकलती हैं । वे ही दोनों धाराएँ **विज्ञान-प्रज्ञान** नाम से प्रसिद्ध हैं । विज्ञान में भी **सोम, चिदंश, प्राण**-नाम की तीन कलाएँ हैं । ऐसी दशा में यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रज्ञान आगत विषय संस्कारों के साथ सोमलक्षण स्नेहधर्म्म के कारण जब आसक्त हो जाता है तो विज्ञान का भी आसक्त होना अनिवार्य है ? कारण इसका यही है कि प्रज्ञानवत् विज्ञान में भी सोमलक्षण स्नेहगुण समान रूप से विद्यमान है । ऐसी स्थिति में चितिधर्म्म का अधिष्ठाता विज्ञान भी जब चिदात्मा है, तो फिर प्रज्ञानमन को ही चिदात्मा कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि यद्यपि सोम-चिदंश-प्राणत्वेन विज्ञान-प्रज्ञान समान हैं, तथापि दोनों की तीनों कलाओं के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है–इन दोनों के वास्तविक स्वरूपपरिचय के लिए इनके प्रभवों की शरण में चलिए । विज्ञान (बुद्धि) का **प्रभव सूर्य्य है**, प्रज्ञान का प्रभव **चन्द्रमा**

है। सूर्य्य विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। सौरप्राण **इन्द्र** नाम से प्रसिद्ध है। यह इन्द्रतत्त्व दिव्यलोक की वस्तु है, प्रकाश का अधिष्ठाता है, गति का सञ्चालक है। यही दिव्य इन्द्र–"**रूपं रूपं मघवा बोभवीति**" के अनुसार "**मघवा**" नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि स्वस्वरूप से विद्युन्मूर्त्ति यह दिव्य मघवा इन्द्र गतिशील है, परन्तु हृदयभाव की प्रतिष्ठा के कारण नियतिभाव (नियतभाव-स्थिरभाव) से युक्त रहता हुआ यह स्थितिभाव का ही प्रयोजक बना हुआ है। हृदय की कृपा से ही सूर्य्य स्वस्थान पर स्थिर रहता हुआ प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि "**नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता**"–इत्यादि से स्पष्ट है। विश्व हृदय ही विश्व-समाधि का कारण है। समाधि स्थिर आत्मधर्म्म है। जैसा कि "**समाधावचलाबुद्धिः**"–इत्यादि प्रकरण में कहा जा चुका है। हृल्लक्षण स्थिरभावमयी षोडशी आत्मा की इस समाधि में प्रतिष्ठित चञ्चल भी सौर प्राणेन्द्र स्थिर बना रहता है। इसी आत्मानुग्रह लक्षण, स्थिरभाव के कारण–"**इन्द्रो ह वै षोडशी**"–इत्यादि रूप से **षोडशी** (आत्मा) शब्द से सम्बोधित किया जाता है। यही सूर्य्य की पहली प्राणकला है। इसी को लक्ष्य में रख कर–"**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**"–यह प्रसिद्ध है। दूसरी सोमकला है। सौरइन्द्रात्मक सावित्राग्निदाहक है। अग्नि स्वभावतः अन्नाद होता है। अपने स्वाभाविक विशकलन धर्म्म से प्रतिक्षण विस्रस्त होते रहना अग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है। इस विस्रस्ति को यदि अन्नाहुति से पूरा नहीं किया जाए तो सौर अग्नि थोड़े ही समय में उत्क्रान्त हो जाए। इसी आधार पर हमें यह मानना पड़ता है कि अवश्य ही कोई द्रव्य निरन्तर सौर अग्नि में आहुत होता रहता है। तभी तो सूर्य्य को "**अग्निहोत्र**" कहा जाता है–"**सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्**"। सूर्य्य आपोमय परमेष्ठी-मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। इस समुद्र में **ब्रह्मणस्पति** नाम का पवित्र सोम प्रतिष्ठित है। अग्नि सुत होने के कारण ही "**सूयते-असौ**"–इस निर्वचन के अनुसार इसे **सोम** कहा जाता है। यह सोमतत्त्व दाह्य (जलने) है, उधर सौर अग्नि को दाहक (जलाने वाला) बतलाया गया है। दाहक अग्नि में हुत सोम जल पड़ता है। यही प्रकाशात्मक इन्द्रप्राण का विकास है। "**आ कृष्णेन रजसा वर्तमानः**"–इस सिद्धान्त के अनुसार सौर अग्नि भी घोर कृष्ण है एवं "**ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु**–"**चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः**"–के अनुसार सोम भी घोर कृष्ण है। प्रकाश उत्पन्न होता है, दोनों के समन्वय में। आप जो प्रकाश देख रहे हैं, विश्वास कीजिए, वह सोम जल रहा है। प्रत्यक्ष में देखिए न। जब तक अग्नि में आप (सोमात्मक) काष्ठादि जलते रहेंगे, तब तक अग्नि प्रज्वलित होता हुआ प्रकाशित रहेगा। आहुति बंद करते ही थोड़े समय में अग्नि सर्वात्मना विस्रस्त होता हुआ उत्क्रान्त हो जाएगा। जब तक अन्न खाते रहेंगे, शरीर में गर्मी बनी रहेगी, जिस दिन अन्नाहुति बंद हो जाएगी, गर्मी शान्त हो जाएगी–"**यदेवेह तदमुत्र**"।

यह एक और आश्चर्य का विषय है कि साधारण मनुष्यों ने अग्नि में जो 'ताप' (गर्मी) समझ रक्खा है, वह ताप भी अग्नि का धर्म्म नहीं है। प्राणाग्नि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि-पाँचों तन्मात्राओं से रहित है। यही प्राण का प्राणत्व है। तभी तो सत्ताप्रवर्त्तक सन्मूर्ति प्राण को प्राणतत्त्ववेता महर्षि लोग "**असत्**" शब्द से सम्बोधित करते हैं। सोम के सम्बन्ध से घर्षणरूप प्राणदपानत् व्यापार होता है। इसी से नवीन ताप का उदय होता है। तापलक्षण अग्नि ही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। "**वैश्वानरो यतते सूर्येण**"–"**आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्**"–इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार सोमाहुति से उत्पन्न तापलक्षण वैश्वानर अग्नि सौरमण्डल में व्याप्त रहता हुआ हमें ताप का अनुभव करा रहा है। यदि सोम न रहे तो

न तापलक्षण वैश्वानर का विकास हो, न प्रकाशलक्षण प्राणेन्द्र का विकास हो। इतना और ध्यान रखिए कि ताप की प्रतिष्ठा सौर प्राणाग्नि है, प्रकाश की प्रतिष्ठा सौर प्राणेन्द्र है। सौरमण्डल में इन्द्राग्नी का समन्वय है। अग्नि कभी प्रकाश का अधिष्ठाता नहीं है, प्राणेन्द्र कभी ताप का प्रवर्त्तक नहीं है। एक ही सोम से प्राणाग्नि वैश्वानररूप में परिणत हो जाता है, प्राणेन्द्र प्रकाशरूप में परिणत हो जाता है। सचमुच महामहिमशाली महिष सोम का यह अद्भुत कर्म्म है। वही प्राणेन्द्र में ओज प्रदान करता है। वही प्राणाग्नि में ताप का सम्बन्ध उदित करता है। वही सूर्य्य में प्रकाश उत्पन्न करता है। वही अग्नीसोमात्मक संवत्सरयज्ञ का प्रवर्त्तक बनता हुआ विश्व सम्भूति का कारण बनता है, जैसा कि **ईशभाष्यान्तर्गत- "सम्भूतिं च विनाशं च"**-इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। **पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति** सोम की इसी महिमा का यशोगान करते हुए ऋषि कहते हैं—

१–महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः॥[1]

२–अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुः॥[2]

३–पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम्।
द्विता भुवद्रयिपती रयीणामृतं भरत्सुभृतं चार्विन्दुः॥[3]

४–एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा।
द्रप्साँ ईरयन् विदथेष्विन्दुर्वि वारमव्यं समयाति याति॥[4]

५–या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन्राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय॥[5]

६–त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥[6]

७–पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत॥[7]

---

१ ऋग्वेद मं० ९।९७।४१। २ ऋग्वेद मं० ९।९७।४०। ३ ऋग्वेद मं० ९।९७।२४।
४ ऋग्वेद मं० ९।९७।५६। ५ ऋग्वेद मं० १।९१।४। ६ ऋग्वेद मं० १।९१।२२।
७ ऋग्वेद मं० ९।८३।१।

सूर्य्य में इन्द्र और अग्नि दोनों का समन्वय है, अतएव यहाँ प्रकाश और ताप दोनों की प्रतिष्ठा है। प्रकाश इन्द्र का ही प्रातिस्विक धर्म्म है, ताप अग्नि का ही प्रातिस्विक है। साथ ही में यह भी निश्चित समझिए कि प्रकाश का अधिष्ठाता एकमात्र सूर्य्यसम्बन्धी **मघवा इन्द्र** ही है एवं ताप का अन्यतम अधिष्ठाता **वैश्वानर अग्नि** है। एकतप्त लोहखण्ड में प्रकाश का अभाव है, एक जुगनू में प्रकाश है, परन्तु ताप का अभाव है। यही पार्थक्य इस बात में प्रमाण है कि प्रकाश और ताप भिन्न-भिन्न पदार्थों के धर्म्म हैं। अस्तु, इस विषय का अधिक उपबृंहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में इस स्थिति से हमें केवल यह बतलाना है कि सूर्य्य में प्रकाशाधिष्ठाता इन्द्रप्राण भी है, वैश्वानर अग्नि भी है। सोम भी है। इनमें सोम और वैश्वानर अग्नि दोनों भूतभाग हैं, प्राणेन्द्र देवताभाग है। भूतभाग यहाँ गौण है, देवताभाग प्रधान है, जैसा कि "**चित्रं देवानामुदगात्**"–इत्यादि से स्पष्ट है। इसी भूतभाग की दृष्टि से सूर्य्य को वाङ्मय भी कहा जाता है–"**या सा वाक् असौ स आदित्यः**"–"**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**"–अग्नि में आहुत सोम अग्निमूर्ति ही बन जाता है। ऐसी अवस्था में सोम का स्नेहगुण उच्छिन्न हो जाता है। सोम की कृपा से चिदंश अवश्य ही सूर्य्य में आता है। सोम वीध्र पदार्थ है। बिना इसके चेतना का आगमन असम्भव है। परन्तु यहाँ का सोम अग्निमूर्ति बनता हुआ, अग्नि के असंग धर्म्म से आक्रान्त रहता हुआ अपने स्वाभाविक स्नेहगुण से वञ्चित हो जाता है। सोम ऋत है, अग्नि सत्य है। सत्याग्नि के गर्भ में आता हुआ, अतएव सत्यरूप में परिणत होता हुआ सौर सोम अपने ऋतभाव को छोड देता है। अग्नि की सत्यता उसी हृदयभाव पर प्रतिष्ठित है। सोम की सत्यता अग्नि पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार हृदयमूलक किं वा हृदयरूप असंग चिदात्मा के अनुग्रह से सौर इन्द्राग्नी सत्य बनते हुए सोम को भी इन्द्राग्नीरूप में परिणत करते हुए सत्य बना डालते हैं। फलतः इन्द्राग्निवत् सौरमण्डलस्थ सोम भी असंग बन जाता है। इसी असंगभाव के कारण सूर्य्य भौतिक संस्कारों में लिप्त नहीं होता, जैसा कि–"**सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः**"–इत्यादि से स्पष्ट है। इस प्रकार सूर्य्य के चिदंश-सोम-प्राण तीनों ही सर्वथा असंग है। आत्मा की मन-प्राण-वाक् तीनों कलाओं के अनुग्रह से ही सूर्य्य में उक्त तीनों कलाओं का विकास होता है। चिदंश मनोमय है। सोम (एवं अग्नि) वाङ्मय है। प्राणेन्द्र प्राणमय है। हृदयभाव के कारण ही सूर्य्य में मन-प्राण-वाङ्मय आत्मा का पूर्ण विकास है। हृदयभाव के कारण ही सूर्य्य में ही अमृतलक्षण ज्ञान एवं मृत्युलक्षण कर्म्म दोनों समतुलित हैं, जैसा कि–"**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**"–"**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**"–इत्यादि से स्पष्ट है। ऐसे असंग सूर्य्य का प्रत्यंश ही विज्ञानात्मा (बुद्धि) का स्वरूपसमर्थक बनता है। यह विज्ञानात्मा **चाक्षुषपुरुष** नाम से सम्बोधित हुआ है। जो धर्म्म सूर्य्य के हैं, वे ही धर्म्म इसके हैं। विज्ञानगत सोम असंगभाव के कारण कभी चिति का अधिष्ठाता नहीं बन सकता। प्राणेन्द्राग्नि के स्वाभाविक विशकलन से जो संस्कार इस पर आते हैं, दूर हट जाते हैं। हृदय में (हृदयस्थ मन पर) प्रतिष्ठित यह सत्यमूर्ति विज्ञानात्मा दीपशिखावत् सर्वथा स्थिर है। यही तो इसका स्वाभाविक बुद्धियोग है। इसी **दक्षिणाक्षिपुरुषविज्ञान** को लक्ष्य में रख कर, साथ ही में इसकी (विज्ञानात्मा की) और उसकी (आदित्यपुरुष की) अभिन्नता बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

१–"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः । य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ । रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)" ।[1]

२–"अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिला मृदुलोहिताः ।।
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्य्यमण्डलम् ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम् ।।"[2]

३–"कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्मा, अभयं रूपम्" ।।[3]

प्रश्न हुआ था कि जब विज्ञानात्मा में भी प्रज्ञानात्मवत् स्नेहगुणक सोम प्रतिष्ठित है तो उस पर विषयसंस्कारों की चिति क्यों नहीं होती ?–इस प्रश्न का समाधान हो गया । अब प्रज्ञानात्मा एवं इसके प्रभव की विचार कीजिए । पूर्व में कहा गया है कि प्रज्ञानात्मा का प्रभव चन्द्रमा है । चन्द्रमा सोमप्रधान है । यहाँ अग्नि का एक प्रकार से नितान्त अभाव है । चन्द्रमा के गर्भ में अवश्य ही अग्नि है । परन्तु वह न के समान है । अग्नि के तिरोहित रहने से ही चन्द्रमा स्वज्योतिःसम्पत्ति से वञ्चित है । यह सूर्य्य-ज्योति को ले कर परज्योति बना हुआ है । आत्मप्रकाश का भी इसके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है एवं ज्योति (भूतप्रकाश) भी इसकी अपनी सम्पत्ति नहीं है । **"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्-इत्था चन्द्रमसो गृहे"**–इस मन्त्रवर्णन के अनुसार सूर्य्यप्रकाश से ही चन्द्रमा में प्रकाश होता है । सौर-ज्योति का चन्द्रमा के साथ दो तरह से भोग होता है । योगसम्बन्ध से भी चन्द्रमा पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है एवं विभूति सम्बन्ध से भी प्रतिष्ठित है । पात्रस्थ पानी में सूर्य्य प्रतिबिम्बित है । इस प्रतिबिम्बत सूर्य्य का और पानी का योगसम्बन्ध है । जिस प्रकार त्रैलोक्यव्यापक सूर्य्यप्रकाश सर्वत्र व्याप्त है, एवमेव इस प्रतिबिम्ब पर भी इसका अनुग्रह है । यही विभूतिसम्बन्ध है । विभूतिसम्बन्ध आतप (धूप) से सम्बन्ध रखता है, योग-सम्बन्ध रश्मिजनित प्रतिबिम्ब से सम्बन्ध रखता है । ठीक यही बात यहाँ समझिए । सूर्य्य का जो प्रत्यंश चन्द्रमा में आ कर प्रतिबिम्बत हो गया, वह चन्द्रमा की अपनी वस्तु बन गई, अतएव इसे **"चन्द्रिका"** कहा जाने लगा । यह चन्द्रमा की अपनी ज्योति बन गई । ऊपर से आतपरूप प्रकाश का जो अनुग्रह हुआ, वह सर्वथा असंग रहा ।

चूँकि चन्द्रमा में सोम की प्रधानता है, अतएव इसमें स्नेहगुण का पूर्ण विकास है । इसी स्नेह धर्म्म के कारण पूर्वकथनानुसार इसमें संयुक्तरूपग्राहित्वभाव का उदय हो जाता है । सोम संकोचधर्म्मा

१ बृहदा० उप० ५।५।२ । २ मैत्रा०उप० ६।३० । ३ बृहदा० उप० ४।३।७,२१ ।

है, अतएव आसक्तिमय है। कैसे ? इसके लिए अध्यात्मसंस्था पर दृष्टि डालिए। अंगिरा और भृगु इन दो तत्त्वों की क्रीडा से ही सम्पूर्ण विश्व का एवं विश्व में रहने वाली सम्पूर्ण प्रजा का निर्म्माण हुआ है। अङ्गिरा अग्नि है, भृगु सोम है। अङ्गिरोऽग्नि अङ्गों से प्रतिक्षण विस्रस्त होता है, भृगुसोम अङ्गों को वेष्टित किया करता है। अङ्गिरा को पकड़े हुए चलना "बिभ्रत्-गच्छति" ही भृगुसोम का प्रातिस्विकधर्म्म है। हृदय से परिधि की ओर जाते हुए निरन्तर बाहर निकलते रहना, बाहर निकलने का प्रयास करते रहना, विशकलनधर्म्मा अग्नि का स्वाभाविकधर्म्म है।

ठीक इसके विपरीत परिधि से केन्द्र की ओर आते रहना उस विशकलित अग्नि का स्तम्भन करते रहना संघातलक्षणसंकोचधर्म्मा भृगु का काम है। अग्नि वस्तु को फाड़ता रहता है, सोम वस्तु को जोड़ता रहता है। दोनों के समन्वय से संसार चल रहा है। सोम सम्भूति का कारण है, अग्नि विनाश का कारण है। सोम पुर निर्म्माण कर अग्नि को उस पुर में अवरुद्ध कर देता है। इस सोमपुर में बद्ध अग्नि ही पुरुष कहलाता है। "**अग्रे गच्छति**" ही अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति है। अग्रि ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में "**अग्नि**" कहलाता है। आगे-आगे जाते हुए अग्नि को रोकते रहना ही सोम का प्रधान काम है। उस अग्नि पुरुष की यह सोम स्त्री है। घर बनाना (पुर बनाना) इसका काम है। यदि यह शिथिल है तो घर बिगड़ जाता है। "**स्त्यै-ष्टयै-शब्दसंघातयोः**" में से प्रकृत में संघात अर्थ ही अपेक्षित है। पुरुष (मनुष्य) में अग्नितत्त्व प्रधान है, स्त्री में सोमतत्त्व की की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में यह कहिए कि स्त्रीरूप सोम की प्रधानता के कारण स्त्री 'स्त्री' कहलाती है एवं पुरुषरूप अग्नि की प्रधानता के कारण पुरुष 'पुरुष' कहलाता है। वेद ने स्त्री को ही घर (पुर) की अधिष्ठात्री माना है। प्रत्यक्ष में भी हम यह देखते हैं कि यदि स्त्री की प्रतिष्ठा उखड़ जाती है किं वा उखाड़ दी जाती है तो पुरुष अमर्यादित बन जाता है, घर नष्ट हो जाता है। स्त्री उग्र पुरुष को शान्त कर सकती है, शान्तपुरुष को उग्र बना सकती है। स्त्री की प्रतिष्ठा में ही अग्निपुरुष की प्रतिष्ठा है। सोम की प्रतिष्ठा में ही अग्नि प्रतिष्ठित है। इसी प्रकृतिसिद्धविज्ञान के आधार पर भारतीय समाज शास्त्रियों ने स्त्रीरक्षा पर विशेष जोर दिया है। देखिए प्रधान समाजशास्त्री मनु के इस सम्बन्ध में क्या विचार हैं—

१–"पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥[1]

२–यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥[1]

३–शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥[1]

---

१ मनु० ३।५५-५७।

४–जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥[1]

५–तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥[1]

६–संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥[1]

७–यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥[1]

८–स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥[1]

केवल शरीर की दृष्टि से अग्नि-सोम का विचार कीजिए । शरीर में अग्नि भी है, सोम भी है । कारण इसकी उत्पत्ति सोमप्रधान अग्निगर्भित शुक्र एवं अग्निप्रधान सोमगर्भित शोणित के मिथुनभाव से हुई हैं । हस्तपाद-मस्तकादि का विकास अग्निप्रधान है । शरीरसंघटन सोमप्रधान है । सोमायतन में प्रतिष्ठित अग्नि ही शरीर है । सोम महन्मूर्त्ति हैं । यही अग्नि की योनि है । महत्सोम का जितना आकार है, बस, वह अग्नि उस आयतनसीमा में ही फैल सकता है । इस आयतन से बाहर भी अग्नि जाता अवश्य है, परन्तु मलरूप से । विशुद्ध अग्नि सदा सोमायतन के भीतर ही रहता है । आकृतिमय सोम पहले से ही अग्निविकास के लिए धरातल नियत रखता है । महत्-सोम की ये आकृतियाँ गिनीगिनाई ८४००००० चौरासी लाख हैं । एक पीपल का पेड हजारे के वृक्ष जितना नहीं रह सकता, हजारा पीपल जितना नहीं हो सकता । सब की आकृतियाँ नियत हैं । अपनी आयतनसीमा तक ही अग्नि फैल सकता है, फैलता है । आयतन सत्य है । इसके बाहर ऋतसोम की परिधि है । परिधि पर पहुँचे हुए अग्नि को ऋतसोम भीतर आता हुआ स्तब्ध कर देता है । यमवायु के आगमन से जब शिवसोम का आगमन दूर जाता है तो अग्नि स्वतन्त्र होता हुआ उच्छिन्न हो जाता है । यही शरीर का निधनकाल है । शारीर अग्नि के वे पांच विकास क्रमशः दो हाथ, दो पैर, मस्तक है । दोनों हाथों से अग्नि निकलता है, दोनों पैरों से अग्नि निकलता है, मस्तक के ऊर्ध्वभाग से, विशेषतः मुख से अग्नि निकलता है । धड़ से संलग्न हाथों के कक्ष-स्थान (कांख) निर्गमन का पहला द्वार है, हथेली दूसरा द्वार है । कटिप्रदेश से संलग्न पैरों के सन्धि-

---

1. मनु० ३।५८–६२ ।

स्थान (रागें) निर्गमन का पहला द्वार है पगथलिएँ दूसरा द्वार हैं। कपाल पहला है, मुख दूसरा द्वार है। इस प्रकार ६ द्वार हो जाते हैं। ये ही षडङ्ग वैश्वानर अग्नि के ६ द्वार हैं। समष्टिरूप से दो हाथ, दो पैर, मस्तक ये पाँच विकास हैं, इसी आधार पर अग्नि पञ्चचितिक कहलाता है। व्यष्टिरूप से **१–दो कक्ष, २–दो हथेलिएँ, ३–दो रागें, ४–दो पगथलिएँ, ५–कपाल, ६–मुख ये ६** द्वार हैं। इसीलिए इस वैश्वानर अग्नि को षडङ्ग कहा जाता है। अग्नि हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदयस्थ अग्नि केन्द्र से चारों ओर वितत होता हुआ उक्त ६ मार्गों से बाहर की ओर निकलता रहता है। परिणाम इसका यह होता है कि इन ६हों द्वारों पर शीतगुणक सोम का अधिक आक्रमण नहीं होता। हाथ पैरों को सर्दी नहीं सता सकती, मस्तक पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकती। सर्दी का विशेष आक्रमण होता है छाती और पीठ पर। इसका कारण यही है कि उक्त ६ओं द्वारों की परिधियों से सोम केन्द्र की ओर आता रहता है। सोम का आगमन उन द्वारों से होता है, आ कर वह विशेषरूप से मध्यभाग में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ अग्नि निर्बल है। फलतः यहाँ शीत की कृपा से सहधर्म्मा फल प्रबल बन जाता है। शीत का पहला आक्रमण फुफ्फसों पर होता है, यही न्यूमोनिया है। अधिक आक्रमण से रसवाहिनी एवं वायुवाहिनी शिराओं में कफ भर जाता है। श्वासप्रक्रिया शिथिल हो जाती है। प्राण संकट में पड़ जाते हैं। इसी को लोक भाषा में–**"डब्बा"** कहा जाता है। १६ वर्ष से नीचे-नीचे सोम की प्रधानता रहती है, अतएव उक्त दोनों रोगों का आक्रमण विशेषरूप से बच्चों पर ही होता है। साथ ही में यह भी एक स्वाभाविक बात है कि कपाल-हथेली-पगथली ये ही सोम के आगमनद्वार हैं, अतः इन्हें तैलादि से सुरक्षित रखना आवश्यक है। पृष्ठ-छाती प्रतिष्ठास्थान हैं, अतः इन्हें भी तैल-वस्त्रादिकृत्रिम साधनों से सुरक्षित रखना आवश्यक है।

अग्नि की प्रतिष्ठा रक्त है। रक्त में पानी का हिस्सा भी रहता है। पानी वारुणभाग है। वरुणदेवता सदा दोष उत्पन्न किया करते हैं। सड़ान पैदा किया करते हैं। इन दोषों को रुधिरस्थ अग्नि जलाया करता है। यह दग्धरुधिरभाग काला पड़ जाता है। यह अग्नि का विरोधी भाव है, अतएव अग्नि इसे रुधिर में नहीं रहने देता, अपि तु, धक्का दे कर बाहर फैंक देता है। बाहर रूक्ष याम्यवायु व्याप्त है। इसके आघात से अग्नि द्वारा वारित कृष्णमल जम जाता है। इसी का नाम वार-वाल-कि वा केश है। जहाँ-जहाँ अग्नि अधिक वेग से चलता है, वहाँ-वहाँ बाल भी अधिक होते हैं। कपाल में अत्यधिक बाल है। मुख के दोनों ओर दाडी-मूँछें हैं। कक्ष में बाल हैं। रागों में एवं उपस्थ के चारों ओर बाल हैं। ब्रह्मचारी को कभी बाल नहीं कटवाने चाहिए। कारण इसका यही है कि बार-बार वपन कराने से अग्नि को अधिक मात्रा से बाहर निकलने का अवसर मिल जाएगा, अग्नि निर्बल बन जाएगा, अग्निसम्बन्धिनी बुद्धि निर्बल हो जाएगी। गृहस्थी को कक्ष-उपस्थ-शिखा को सुरक्षित रखते हुए वपन कराना चाहिए। संन्यासी को सब कटवा देने चाहिए। इसी आधार पर शास्त्र ने क्रमशः **ब्रह्मचारी, गृहस्थी, सन्यासी**–तीनों के लिए **जटी-शिखी-मुण्डी** ये तीन मार्ग नियत किए हैं। अस्तु, कहना यही है कि शरीरसंस्था में सोम से ही अग्नि की रक्षा है। साथ ही में अग्नि ही सोम की प्रतिष्ठा है। प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

हम कह रहे थे कि चन्द्रमा सोमप्रधान है। इसी पर विज्ञानघन सूर्य्य के चिदंशमय प्रकाश का प्रतिबिम्बरूप से आगमन होता है। यह चान्द्रसोम मर्त्यसोम है, सौरसोम अमृतसोम था। चन्द्रमा में

रहने वाला प्राणेन्द्र अन्तरिक्षसंचारी वायुमय **विद्युत्** है। विद्युत् में प्रतिष्ठा का अभाव है। इस प्रकार चन्द्रमा के सोम-चिदंश-प्राण तीनों सूर्य्य के तीनों से विजातीय बन जाते हैं। हमारा प्रज्ञान इसी का अंश है। चान्द्र रस की पार्थिव उख्याग्नि में आहुति होती है। ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों की शारीराग्नि में आहुति होती है। हुत अन्न ही रसमल के क्रमिक विशकलन से रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओजरूप में परिणत होता हुआ सर्वान्त में मनोरूप में परिणत हो जाता है। इसीलिए मन को अन्नमय कहा जाता है। अन्नमय मन सचमुच सोमप्रधान है। बुद्धि अग्निप्रधाना है। अग्नि की कृपा से बुद्धि पर चिति नहीं होती, सोम की कृपा से मन पर ही चिति होती है। इसी वैज्ञानिक स्थिति के आधार पर हमने मन को ही चिदात्मा कहा है। चिदंश आत्मा की मनःकला है, प्राण प्राण-कला है, सोम वाक्कला है। इस प्रकार विज्ञानवत् विज्ञान द्वारा प्रज्ञान पर भी मनःप्राणवाङ्मय आत्मा का अनुग्रह हो रहा है। मन का चिदंश प्रज्ञामात्रा की प्रतिष्ठा है, प्राण प्राणमात्रा की प्रतिष्ठा है। सोम भूतमात्रा की प्रतिष्ठा है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि चिदंश प्रज्ञाभाव का जनक है। प्राण इन्द्रियग्राम का उपकारक है। सोम भूतों का प्रवर्त्तक है। चिदंशयुक्त सोम प्रज्ञात्मक ज्ञान है, प्राण क्रिया है। प्रज्ञा-प्राणात्मक अतएव उभयात्मक, मन ही चिति का अधिष्ठाता है। प्रज्ञा और प्राण दोनों अविनाभूत हैं। इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। प्राणोऽस्मि वा प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व। तस्यैषैव दृष्टिः एतद्विज्ञानम्"।[1]

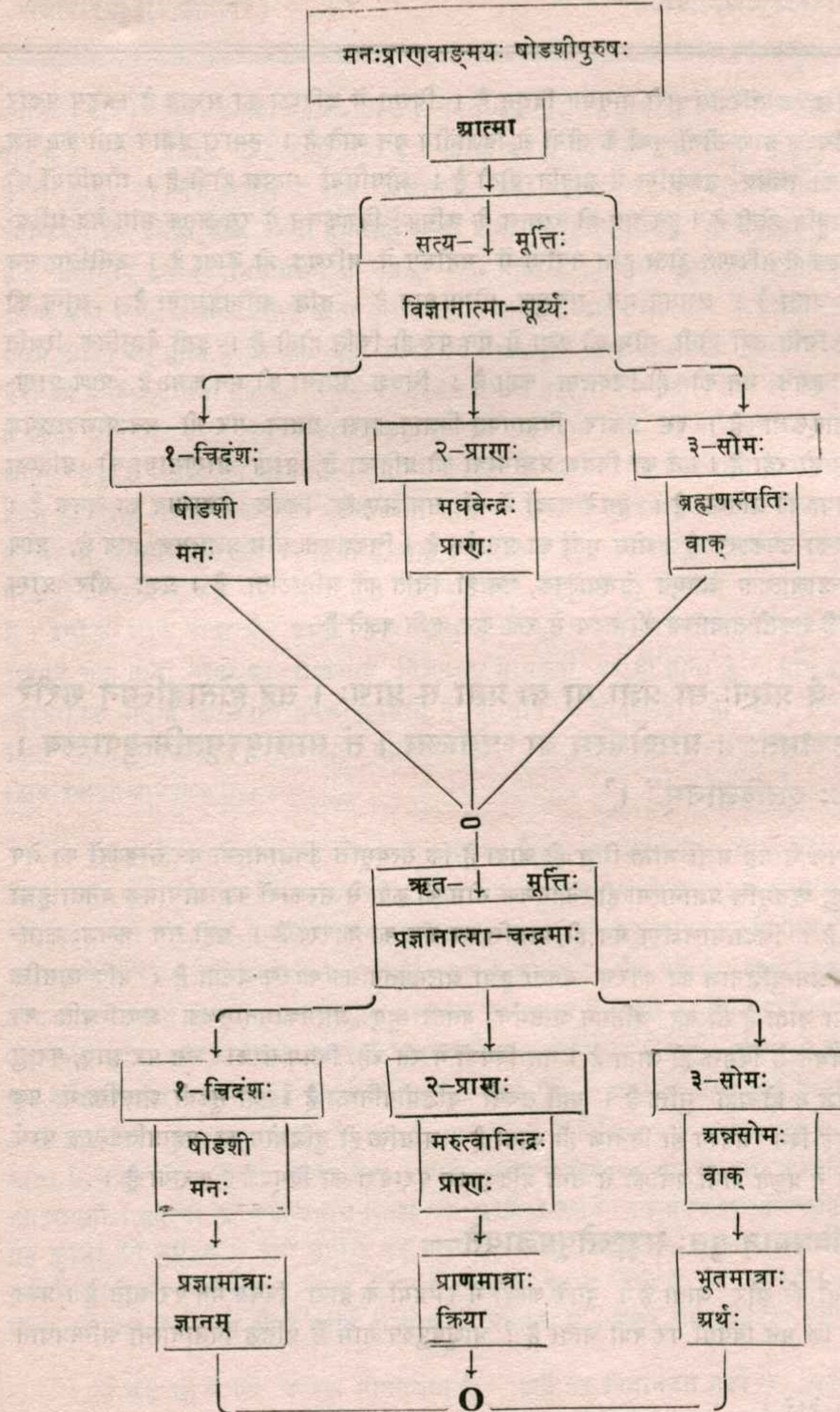
पूर्व निरूपण से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि सत्यमूर्त्ति विज्ञानात्मा पर संस्कारों का लेप नहीं होता, अपि तु, ऋतमूर्त्ति प्रज्ञानात्मा ही स्नेहगुणक सोम की कृपा से संस्कारों का आधायक बनता हुआ चिदात्मा बनता है। चिदात्मालक्षण मन ही आसक्तिरूप संग का कारण है। यही संग क्रमशः काम-क्रोध-मोह-स्मृतिविभ्रम-बुद्धिनाश का कारण बनता हुआ आत्मपतन का कारण बनता है। यदि आसक्ति रूप संग हटा दिया जाता है तो वह बहिर्मन अन्तर्मन बनता हुए आत्मकामनामूलक अन्तश्चिति का प्रवर्तक बन कर बंधन से विमुक्त हो जाता है। मन विषयों में रत रहे, विषय संस्कार उस पर आए, परन्तु वह संस्कारों में बद्ध न हो-यही मुक्ति है। यही सच्ची बुद्धियोगनिष्ठा है। जो मूढधी आसक्ति में पड़ जाते हैं, उनका एक दिन अवश्य ही विनाश ही जाता है। आसक्ति ही बुद्धियोग का महाप्रतिबन्धक धर्म्म है। बस, भगवान् ने प्रकृत दोनों श्लोकों से उसी प्रतिबन्धक परम्परा का दिग्दर्शन कराया है।

१—ध्यायतो विषयान् पुसः सङ्गस्तेषूपजायते—

मन विषयों की ओर जाता है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के द्वारा विषय मन पर आते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि मन विषयों पर क्यों जाता है? चाक्षुषपुरुष नाम से प्रसिद्ध विज्ञानात्मा अग्निप्रधान

---

१ कौषी० उप० ३।२।


मनःप्राणवाङ्मयः षोडशीपुरुषः
आत्मा
सत्य- मूर्त्तिः
विज्ञानात्मा-सूर्य्यः
१-चिदंशः
षोडशी
मनः
२-प्राणः
मघवेन्द्रः
प्राणः
३-सोमः
ब्रह्मणस्पतिः
वाक्
ऋत- मूर्त्तिः
प्रज्ञानात्मा-चन्द्रमाः
१-चिदंशः
षोडशी
मनः
२-प्राणः
मरुत्वानिन्द्रः
प्राणः
३-सोमः
अन्नसोमः
वाक्
प्रज्ञामात्राः
ज्ञानम्
प्राणमात्राः
क्रिया
भूतमात्राः
अर्थः

होने से असंग है, प्रज्ञानात्मा सोमप्रधान बनता हुआ ससंग है। सौर अग्नि तेजःप्रधान होने से असंगभाव की मूलप्रतिष्ठा है, चान्द्रसोम स्नेहप्रधान होने से संग की मूलप्रतिष्ठा है। विज्ञानात्मा विद्या-अविद्यात्मक सूर्य्य का अंश है। फलतः तदंशभूत विज्ञानात्मा (बुद्धि) में भी दोनों भागों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। विद्या-अविद्या की समता से स्वस्वरूप से स्थिर बने हुए इस विज्ञानात्मा का यदि प्रज्ञान-मन की ओर झुकाव हो जाता है तो मन पर आए हुए अविद्यासंस्कारों के संसर्ग से बुद्धि का अविद्याभाग प्रबल बन जाता है। भौतिक विषय तमोमय होने से आवरक बन कर अञ्जन का काम करते हैं। यही इनकी जड़ता है। इन अञ्जनलक्षण तमोमय जड़विषयों में इन्द्रियों द्वारा मन आसक्त होता हुआ विषयों की जड़ता खरीद लेता है। मन का यह स्वभाव है कि वह विषयों की ओर निरन्तर अनुधावन करता रहता है, दौड़ लगाता रहता है। कारण इसका यही है कि मन की मूलप्रतिष्ठा सच्चिदानन्दघन आत्मा है, जैसा कि पूर्वपरिलेख से स्पष्ट है। आनन्द ही मन की जीवनीय-सामग्री है। बिना आनन्द के मन क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। हम जब तक जीवित हैं, निरन्तर आनन्द लेते रहते हैं। जिस समय आनन्द का एकान्ततः उच्छेद हो जाएगा, मन उत्क्रान्त हो जाएगा, अध्यात्मसंस्था उच्छिन्न हो जाएगी। जिसे आप महादुःखी समझ रहे हैं, विश्वास कीजिए उस में भी थोड़ी बहुत आनन्द की मात्रा अवश्य ही विद्यमान है। आनन्द के बिना क्रिया का उदय हो ही नहीं सकता। फाँसी के तख्ते की ओर जाने वाला मनुष्य आनन्द से ही जा रहा है। उसे मालूम है कि मैं सीधी तरह न जाऊँगा तो डण्डे पड़ेंगे। इसी दुःख से बचने के लिए उसे चलना पड़ता है। दुःखाभावमूलक आनन्द ही यहाँ गति का हेतु बना हुआ है। एक व्यक्ति विषपान करने में दुःख का अनुभव करता है। परन्तु वह समझता है कि इससे मेरे वर्त्तमान दुःख छूट जाएँगें। इस प्रकार आनन्द की प्रत्याशा से ही वह आत्महत्या में प्रवृत्त होता है। निदर्शनमात्र है। आनन्द ही सर्वात्मना हमारी मूल प्रतिष्ठा है। **"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"**- यह सर्वथा निश्चित सिद्धान्त है। भला आनन्दघन आत्मा से उत्पन्न मन बिना आनन्द के जीवित रह भी कैसे सकता है ? सुख की चाह करना, सुखप्राप्ति के लिए सतत प्रयास करते रहना, प्राणिमात्र का स्वाभाविक धर्म्म है। मन की यही सुखकामना, किं वा **सुखैषणा "अशनाया"** नाम से प्रसिद्ध है। भोजन-वसन-गमन-चलन-आदि सभी पदार्थ मन के अन्न हैं। अन्न को ही **"अशिति"** कहा जाता है। आनन्दलालसा से प्रेरित मन में इन अशितियों के लेने की जो स्वाभाविक वृत्ति है, उसी का नाम "अशनाया" है, यही बुभुक्षा (भूख) है। हरवख्त मन में कोई न कोई अशनाया जागृत रहती है। साथ ही में मन निरन्तर इसे अशिति द्वारा शान्त करने की चेष्टा किया करता है। अपनी इसी अशनायाशान्ति के लिए मन में जो एक प्रकार की उछाल होती है, वही मन की गति है। इस गति के द्वार-वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रियाँ हैं। एक ६ महिने के बच्चे में जब अशनाया का उदय होता है तो उसका मन वागिन्द्रिय का सहारा लेता है। भूखा बच्चा रोने लगता है। माता स्तनपान कराती है, अशनाया शान्त हो जाती है, बच्चा चुप हो कर खेलने लगता है। इन्द्रियों के सभी द्वार बहिर्मुख हैं। जो चक्षु बाहर के रूपों को देखा करता है, वह भीतर के दृश्यों को देखने में असमर्थ है। जाने दीजिए, भीतर के दृश्यों को, आँख अपने आप को ही नहीं देख सकती। भला जो अपना स्वरूप भी नहीं देख सकती, वह हृदयस्थ आत्मा के दर्शन क्योंकर कर सकती है ? जो श्रोत्रेन्द्रिय दुनियाभर के शब्द सुनने में

समर्थ है, वह अपने शरीर के (आध्यात्मिक) नाद को सुनने में असमर्थ है। इसी प्रकार घ्राण-रसना आदि सभी इन्द्रियाँ स्वस्वरूप को देखने में असमर्थ बनती हुई, अतएव आत्मदर्शन में नितान्त असमर्थ होती हुई केवल बहिरंग विषयभोगों में ही लिप्त रहती हैं। कारण इसका यही है कि अन्तर्य्यामी की नियति ने इन "ख" रूप इन्द्रियों के द्वारों का रुख बाहर की ओर ही रक्खा है। जिधर रास्ता होगा उधर ही तो इन्द्रियों का गमन होगा। प्रजापति की इसी नियति का बडे सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥[1]

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो।
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" ॥[2]

विषयभोग से आनन्द अवश्य आता है। परन्तु विचार करने से यह मान लेना पड़ता है कि विषयों में जो आनन्द की मात्रा उपलब्ध होती है, वह विषयों की प्रातिस्विक (निजी) सम्पत्ति नहीं है, अपि तु, इन्द्रियों की देन है। इन्द्रियानन्द ही विषयानन्द का कारण है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियानन्द ही विषयों में प्रतिभासित होने लगता है। जिस प्रकार सूर्य्यस्थानीय चक्षु से निकल कर विषयाकाराकारित बनती हुई रश्मियाँ रूपदर्शन का कारण बनती हैं, ठीक इसी प्रकार इन्द्रियों में से निकलने वाली आनन्दरश्मियाँ तत्तद्विषयों से टकरा कर तत्तद्विषयाकाराकारित बनती हुई प्रतिफलित हो कर तत्तद्विषयानन्दानुभव का कारण बन जाती हैं। इन्द्रियानन्दगर्भ में आ कर इन्द्रियानन्द से संश्लिष्ट बन कर ही विषय आनन्द का कारण बनते हैं। एक चमत्कार और है। जिन-जिन भौतिक विषयों के संसर्ग से हमें आनन्द आता है, वे-वे भूत मात्रा रूप से पहले से ही ऐन्द्रियक जगत् में प्रतिष्ठित रहते हैं। जिस भूतमात्रा का संस्कार इन्द्रियों में पहले से विद्यमान नहीं रहता, तद्भूतविषयक आनन्द कभी नहीं आ सकता। इन मात्राओं के तारतम्य से इन्द्रियजन्य अनुभवों में तारतम्य होता है। एक व्यक्ति को गन्ध से विशेष आनन्द आता है, एक को कम, एक को सर्वथा नहीं। एक व्यक्ति के मिर्च को खाते ही आँखों में पानी भर जाता है, एक व्यक्ति मिर्च के प्रपितामह को खाने पर भी तिक्तता का अनुभव नहीं करता। इसी तारतम्य के आधार पर हमें मानना पड़ता है कि जिन भौतिक विषयों से हम आनन्द का अनुभव करते हैं, वे मात्रारूप से प्राणरूप से पहले से ही इन्द्रियों में प्रतिष्ठित हैं। इस विवेकज्ञान के अभाव से सहसा हम यह मान बैठते हैं कि विषयों में भी आनन्द है। देखिए न, जब तक इन्द्रियाँ स्वस्थ रहती हैं, अविकल रहती हैं, सबल रहती हैं, तभी तक ऐन्द्रियक विषय आनन्दमय प्रतीत होते हैं। इन्द्रियों की अस्वस्थता में निर्बलता में वे ही विषय दुःख के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियानन्द से विषय आनन्द के कारण है, इन्द्रियदुःख की प्रतिच्छाया से विषय दुःख के कारण है। सुख-दुःख दोनों इन्द्रियों की उच्चावच वृत्तियाँ हैं। विषय न सुख के कारण हैं, न दुःख के।

१ कठोप० २।१।१। २ केनोप० १।३।

अब इन्द्रियानन्द का विचार कीजिए। इन्द्रियों में जो आनन्द का विकास देखा जाता है, वह भी इन्द्रियों की प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। इन्द्रियाधिष्ठाता मन के आनन्द की प्रतिच्छाया से इन्द्रियाँ आनन्दमयी बन रही हैं। प्रत्येक ऐन्द्रियक ज्ञान में मानस ज्ञान अनुस्यूत रहता है। बिना मानस ज्ञान के रहती हुई भी इन्द्रियाँ विषयभोग में असमर्थ हैं। बिना मन के देखना-सुनना-खाना-पीना-सब नीरस है। "फिर से कहना मैने सुना नहीं, मेरा मन और तरफ चला गया था, मैने तो नहीं देखा, उस समय मेरा मन और तरफ था"–इत्यादि व्यवहारों से हमें मानना पड़ता है कि इन्द्रियाँ मन की कृपा से ही जीवित हैं। मनोज्ञान से इन्द्रियाँ ज्ञानवती हैं। जब तक मन स्वस्थ रहता है, तभी तक देखने, खाने, पीने, सुनने, बोलने में आनन्द आता है। मन की अस्वस्थता में रहती हुई भी इन्द्रियाँ दुःख का कारण बन जाती हैं। मनोविकलता में कुछ नहीं सुहाता। फलतः सिद्ध हो जाता है कि मानस आनन्द की प्रतिच्छाया से ही इन्द्रियाँ सुखी हैं एवं मानसविकलता की प्रतिच्छाया से इन्द्रियाँ दुःखी हैं।

मन में जो आनन्द की मात्रा है, वह भी इस मन की अपनी पूँजी नहीं है। विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धिगत आनन्द की मात्रा से ही मन आनन्दमय बना हुआ है। आत्मानन्द के अतिसन्निकट होने से से विज्ञान आनन्दघन है। इसी की थोड़ी सी प्रतिच्छाया से मन आनन्दमय बनने का अभिमान करता रहता है। मन का आनन्द विज्ञानानन्द की देन है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि तारतम्य से मन के आनन्दानुभव में भी तारतम्य हो जाता है। मन प्राणिमात्र में समान है। विज्ञान (बुद्धि) में तारतम्य है। विज्ञान प्रयत्नसाध्य है, प्रज्ञान स्वाभाविक है। **आहार-निद्रा-भय-मैथुन**–ये सब के सामान्य धर्म्म हैं। इन सामान्य धर्म्मों का मन के साथ सम्बन्ध है। एक पिपीलिका से ले कर शाहंशाह तक इन मानस धर्म्मों में समान हैं। परन्तु बुद्धि सब में विशेष है। बुद्धि का तारतम्य ही प्राणी का छोटा-बडापन है। बुद्धि की ही संसार में कीमत होती है। मानसज्ञान से एक लेखक किसी ग्रन्थ की सुन्दर से सुन्दर प्रतिलिपि बना कर भी यशस्वी नहीं बनता, उधर विज्ञान के प्रभाव से ग्रन्थनिर्म्माता अमर हो जाता है। एक मजदूर सुबह से शाम तक भार ढोहकर भी रु०-आठ आना प्राप्त करता है, उधर एक बुद्धिमान् हस्ताक्षर मात्र से हजारों का वेतन पा लेता है। जिसमें बुद्धि का जितना अधिक विकास है, वह उतना ही अधिक आनन्द का उपभोग करता है। साधारण मनुष्य के लिए काले अक्षर भैंस बराबर हैं, बुद्धिमान् के लिए वे ही अक्षर आनन्द के कारण हैं। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहाँ चन्दनगन्ध आनन्द का कारण है, एक गर्दभ के लिए वह चन्दन सामान्य काष्ठभार से कोई अधिक मूल्य नहीं रखता–"**यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु सौरभस्य**"। विज्ञान में ही आनन्द हैं। बुद्धिनाश ही तो सर्वनाश का कारण है। जिसकी अकल मारी गई, वह क्या कर सकता है? और देखिए। जब जाग्रदवस्था में मन पर विज्ञानप्रकाश का विभूतिरूप से अनुग्रह रहता है, तभी तक मन आनन्द का उपभोक्ता बना रहता है। सुषुप्तिकाल में जब विज्ञान अपने प्रभव आत्मानन्द में लीन हो जाता है तो मनरूप चन्द्रमा अमावास्या से आक्रान्त होता हुआ निस्तेज बन जाता है। हृदय पर विज्ञान प्रतिष्ठित है। जब प्रज्ञान ब्रह्मरन्ध्र पर चला जाता है तो इसका अधोभाग प्रकाशित हो जाता है। इस अवस्था में प्रकाशित मन से ब्रह्मरन्ध्र के अधोभाग में रहने वाली इन्द्रियाँ प्रकाशित हो जाती हैं। यही पूर्णिमा है। यही जाग्रदवस्था है। जब मन नीचे आता हुआ कण्ठ देश में आ जाता है तो ऊपर के अन्धकारयुक्त भाग की कृपा से इन्द्रियों में अंधेरा हो जाता

है, उरःस्थल में प्रतिष्ठित सांस्कारिक विषयों पर ही प्रकाश रहता है। यही अष्टमी है। यही स्वप्नावस्था है। जब मन हृदयस्थ विज्ञान में डूब जाता है तो वे संस्कार भी अंधेरे में आ जाते हैं। यही सूर्य्येन्दुसंगमलक्षणा अमावास्या है। यही सुषुप्तिकाल है। मनोराज्य की इन तीनों अवस्थाओं से तो यह सर्वथा ही स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रमास्थानीय मन में जो प्रकाश है, वह सूर्य्यस्थानीय विज्ञानप्रकाश की ही देन है।

विज्ञान में जो आत्मप्रकाशलक्षण आनन्द है, वह भी विज्ञान की अपनी दौलत नहीं है। अपि तु 'सत्त्व' नाम से प्रसिद्ध, अहंभावप्रवर्त्तक, महद्गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मानन्द की प्रतिच्छाया से विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है। जब तक "अहं" रूप आत्मप्रकाश है, तभी तक विज्ञानसूर्य्य प्रकाशित है, तभी तक प्रज्ञानचन्द्र प्रकाशित है, तभी तक तारकस्थानीय इन्द्रियाँ प्रकाशित हैं। तभी तक विद्युत्स्थानीय चलसंस्कार प्रकाशित हैं। तभी तक अग्निमूर्त्तिशरीरयष्टि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। शरीराग्नि, संस्कारविद्युत्, इन्द्रियतारक, प्रज्ञानचन्द्र, विज्ञानसूर्य्य–सब प्रकाश उसी प्रकाश से प्रकाशित हैं। जब तक हम (आत्मा) हैं, तब तक सब प्रकाशित है। आप मरा और जग परल (प्रलय)। आत्मप्रकाश की इसी व्याप्ति का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥[1]

सचमुच जब अहंभाव मूर्च्छित हो जाता है अथवा शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है तो तत्काल अध्यात्मसंस्था का उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा आत्मानन्द पर ही विश्राम मानना पड़ता है एवं इसी को मुख्य आनन्द कहना पड़ता है। यह अनुभूत विषय है कि अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए हम जो धन उधार लेते हैं, वह वास्तविक आनन्द का कारण कथमपि नहीं बन सकता। आनन्द की कथा तो दूर रही, ऋणग्रस्त व्यक्ति तो और भी चिन्ता में पड़ जाता है। आने वाली वस्तु एक दिन अवश्य जाएगी। **"संयोगा विप्रयोगान्ताः"**–यह शाश्वत सिद्धान्त है। विषय, इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञान-(मन), विज्ञान (बुद्धि) इन सब में हम जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, वह सब आत्मानन्द का ऋण है। कर्जदारी है। आगन्तुक है—**"तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति"**। तभी तो कामनामय इन आनन्दों को **"यावानर्थ उदपाने०"**–इत्यादि रूप से भगवान् ने अतितुच्छ कहा है। आगन्तुक आनन्द अस्थायी, क्षणिक बनता हुआ कभी चिरशान्ति का कारण नहीं बन सकता। यद्यपि आनन्द स्वस्वरूप से शाश्वत है, परन्तु अशाश्वत बुद्धि-मन-इन्द्रिय-भूतों के संसर्ग से यह क्षणिक बना हुआ है। इन अध्रुवों से ध्रुव आनन्द की आशा करना दुराशामात्र है। साथ ही में विषयबद्ध इन्द्रियानन्द, इन्द्रियबद्ध मानस आनन्द, मनोबद्ध विज्ञानानन्द सभी उन पराङ्मुख इन्द्रियों की कृपा से विषयानुगामी बनते हुए हृदयस्थ आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए है। आपके पास प्रभूत सम्पत्ति है, आपका मन बडा उदार है, आप बुद्धिमान् भी

१ कठोप० २।२।१५।

आवश्यकता से अधिक हैं. परन्तु आप कभी उस आत्मानन्द के अधिकारी नहीं बन सकते । धनिक, मनस्वी, बुद्धिमान्, शास्त्रों का पारंगत कोई भी तो वहाँ नहीं पहुँच सकता । इसी अभिप्राय से महर्षि कठ कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।[1]

आत्मप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में एक स्थान पर आत्मपरायण, विदितवेदितव्य महात्मा तुलसीदास ने कहा है–"**जो जाने जेहि देहि जनाई**" । निष्कामबुद्ध्या कर्म्म करते रहो । कालान्तर में इस बुद्धियोग के प्रभाव से जिस इन्द्रिय-मन-बुद्धि पर से विषयसंस्कार हट जाएँगे, आवरण दूर हो जाएगा; उस दिन आदित्यवत् स्वतः प्रकाशित आत्मा प्रकट हो जाएगा । जिस प्रकार वायु सूर्य्यप्रकाश उत्पन्न नहीं करता, अपि तु, मेघावरण हटा देता है, पहले से ही विद्यमान, प्रकट सौर प्रकाश हमारी दृष्टि में आ जाता है, ठीक इसी प्रकार शास्त्रोपदेशयुक्त बुद्धियोग आत्मानन्द उत्पन्न नहीं करता, अपि तु, आवरणमात्र हटा देता है । नित्य प्रकाशित आत्मा के विज्ञानद्वारा दर्शन हो जाते हैं–"**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः**"[2] । उसके लिए सिवाय बुद्धियोग के अन्य साधन अनपेक्षित हैं । इसीलिए तो–"**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्य चक्षुरमृतत्वमिच्छन्**"–यह कहा जाता है । चक्षु विज्ञानात्मा, किं वा चाक्षुषपुरुष है । जब तक यह चक्षु मनोऽनुगामिनी बनती हुई विषयानुगामिनी बनी रहती है, तब तक आवरणरूप संस्कार नहीं हट सकते एवं जब तक संस्कार नहीं हट जाते, तब तक बुद्धि उसके दर्शन नहीं कर सकती । धीर पुरुष ही चक्षु को लौटा कर उसे मन के फन्दे से निकाल कर निरावरण बनते हुए प्रत्यगात्मदर्शन करने में समर्थ होते हैं ।

उक्त आनन्दपरम्परा से पाठकों को यह मान लेने में भी कोई आपत्ति न होगी कि विज्ञानात्मा आत्मा के समीपतम है, अतएव उसमें मन-इन्द्रियादि की अपेक्षा अधिक आनन्द है । इसी आनन्दाधिक्य के कारण विज्ञान बिना विषयों के भी आनन्दलाभ किया करता है । विशुद्ध विज्ञान के उपासक आत्मरत बिना भौतिकसम्पत्ति के सम्पत्तिशालियों से कहीं अधिक तुष्ट एवं तृप्त रहते हैं । इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है । क्यों कि इन्द्रियादि की अपेक्षा मन विज्ञान के समीप है । भौतिक विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में आनन्द की मात्रा अधिक है, क्यों कि भूतों की अपेक्षा इन्द्रियाँ मन के समीप हैं । फलतः विषयों में आनन्द की स्वल्पमात्रा का पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । गीताशास्त्र संस्कारबन्धन-प्रतिरोधक है । इन्हें हटाना ही गीता का मुख्य उद्देश्य है । गीता भौतिक विषयसम्बन्ध से विरोध नहीं करती, अपि तु, विषयों से उत्पन्न संस्कारों के बंधन से विरोध करती है । संस्कार इन्द्रियों से इधर है, संस्कारजनक विषय इन्द्रियों से उधर है । उधरवालों के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं । आपत्ति उनसे है जो इन्द्रियों द्वारा आ कर मन के साथ ग्रन्थिबंधन जोड़ते हुए इन्द्रिय और मन के बीच में प्रतिष्ठित हो गए हैं । बस, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने आत्मा-बुद्धि-मन-इन्द्रिय-विषय यह क्रम न रख कर आत्मा-बुद्धि-मन-विषय (अर्थ)-इन्द्रिय यह क्रम रक्खा है, जैसा कि निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है—

१ कठोप० १।२।२३ ।   २ मुण्डक०उप० २।२।७ ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥[1]

शरीर से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से परे अर्थ हैं, अर्थ से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे आत्मा है । अस्तु, इस सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है । वह उक्त श्लोकप्रकरण से ही गतार्थ होगा । यहाँ केवल यही सिद्ध करना है कि जिन विषयों की ओर फलकामना से मन अनुधावन करता है, वे विषय स्वल्पानन्दमय हैं ।

अपनी स्वरूपरक्षा के लिए आनन्द का इच्छुक मन पराङ्मुख इन्द्रियों के वश में पड़ कर आनन्द की खोज में बाहर निकलता है । वहाँ सिवाय विषय के और कुछ है नहीं । अगत्या आनन्दकामुक मन आनन्दलालसा से विषयों पर जाता है । परन्तु परिणाम इस विषयानुगमन का सर्वथा विपरीत होता है । यह एक प्रकृति का स्वाभाविक नियम है कि अपने से अधिक संपत्ति के आगमन से ही आनन्द का उदय होता है । "**यो वै भूमा तत् सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति**"–इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूमा-भाव आनन्द का कारण है, अल्पता ही दुःख की जननी है । दूसरे शब्दों में भूमा ही स्वयं आनन्द है, अल्पता ही स्वयं दुःख है । बहुत्व सुख की मूलभित्ति है, अल्पत्व दुःख की मूलभित्ति है । हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जिन खिलोनों से एक बच्चा आनन्दित होता रहता है, एक बडी आयु वाले के लिए खिलोने व्यर्थ हैं । कोषाधिपति को १०–५० रुपये से क्या आनन्द आ सकता है ? प्रत्येक दशा में आनन्द के विकास के लिए अपने आनन्द से अधिक आनन्द अपेक्षित है । यही समृद्धि कहलाती है । क्या आप यह विश्वास कर सकते हैं कि मन को कहीं स्वयं अपने से अधिक आनन्द मिल जाएगा ? असम्भव । मन आसक्तिरूप अविद्या की कृपा से विज्ञान द्वारा आए हुए उस अपने भूमारूप आत्मानन्द से विस्मृत होता हुआ आनन्द की खोज के लिए इन्द्रियों के द्वारा विषयों पर जाता है । परन्तु मनमहोदय को यह विदित नहीं है कि विषयों में जो अतिस्वल्प आनन्द आता है, वह पूर्व कथनानुसार इन्द्रियों की देन है एवं इन्द्रियानन्द स्वयं मेरा (मन का) अनुग्रह है । दूसरे शब्दों में भौतिक जड़ विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियों की अपेक्षा स्वयं मुझ (मन) में अधिक आनन्द है । इस प्रकार की विवेकबुद्धि से वञ्चित काम-फलासक्त अविद्याग्रस्त मन धोखे में पड़ कर विषयों में पहुँच ही तो जाता है । परन्तु होता वही है, जो होना होता है । विषयासक्त मन को राजा **ययाति** की–"**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते**"–इस मनोवेदना के अनुसार अन्ततोगत्वा पश्चात्ताप ही करना पड़ता है । भूमानन्द के न मिलने से मन किसी भी विषय पर चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रहता । "**अतिपरिचयादवज्ञा**"–इस अनुभूत सिद्धान्त के अनुसार थोड़े-थोड़े समय में मन तत्तद्विषयों से घृणा करने लगता है । थोड़े दिन एक विषय पर रहता है, भूमानन्द न मिलने से तृप्ति होती नहीं, दूसरे शब्दों में अभिलषित आत्मानन्द मिलता नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है । वहाँ भी चाहा हुआ आनन्द नहीं मिलता । फलतः तीसरे पर, तीसरे से चौथे, पाँचवें छठे पर इस प्रकार विविध विषयों में अनुधावन करता हुआ यह कामकामी मन क्षुब्ध होता

---

१ गीता ३।४२ ।

हुआ अपनी स्वाभाविक आत्मशान्ति से और वञ्चित हो जाता है। यही इस मन का चाञ्चल्य है। यही क्षोभ है। क्षोभ ही अशान्ति है। अशान्ति सुख का महाप्रतिबन्धक है–**"अशान्तस्य कुतः सुखम्"**। सचमुच कामासक्त, अतएव सर्वथा कृपण, दयनीय, शोचनीय मन की इस क्षुब्धवृत्ति के सम्बन्ध में–**"गए थे चौबेजी बनने, दुब्बेजी में ही सन्देह हो गया"**–यह लोकोक्ति सर्वात्मना चरितार्थ होती है। लेने गए थे तृप्तिलक्षण आत्मानन्द, मिला आवरणरूप दुःख, क्षोभ, अशान्ति। आनन्द की लालसा से विषयासक्त बने हुए इस अविवेकी मन को पुरस्कार में आत्मानन्द को आच्छादित करने वाला वासनात्मक विषयसंस्कार ही मिलता है। इन वासनासंस्कारों से आनन्द के स्थान में मन मृत्युरूप महादुःखार्णव में निमग्न हो जाता है। संस्कार भूतमय हैं। भूतों का जनक मृत्युमय क्षरत्व है। तमोमूल क्षर अविद्यामय है। ऐसे अविद्यात्मक भौतिक विषयों के संस्कार भी अविद्यारूप ही हैं। इस अविद्यात्मक संस्कारावरण से मन भी अविद्यामय बन जाता है। ऐसे मलिन मन से संलग्न वह सर्वथा निर्दोष-विचारी बुद्धि भी मलिन हो जाती है। दूसरे शब्दों में बुद्धि का ज्योतिर्म्मय भगमूर्त्ति विद्या भाग भी अविद्या से आवृत बन जाता हैं, तमोमय क्लेशमूर्त्ति अविद्याभाग सबल बन जाता है। बुद्धि के इस अविद्याप्राबल्य से बुद्धि का वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। यही बुद्धिनाश है, किं वा नष्टबुद्धि है। इस अविद्यामयी नष्टबुद्धि के योग से विद्या कर्म्ममय आत्मा का कर्म्म भाग उपकृत होता हुआ, प्रबल बनता हुआ आत्मा के विद्याभाग को भी आवृत कर देता है। यही विनाश है। सर्वत्र अज्ञानान्धकार का साम्राज्य हो जाता है। यही अज्ञान मोह की मूल प्रतिष्ठा है, किं वा अज्ञान ही मोह है–**"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"**।

उपर्युक्ता मोहमयी बुद्धि को ही **"मोहकलिला"** बुद्धि कहा जाता है, जैसा कि–**"यदा ते मोहकलिलम्"**–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकृत में केवल यही कहना है कि अहोरात्र विषयों में आसक्त रहने वाले मन पर विषय-संस्कारों का लेप हो जाता है। इस लेप का ही नाम संग है। संग ही काम का जनक है। काम ही क्रोध का जनक है। क्रोध ही मोह का जनक है। मोह ही स्मृतिविभ्रम का कारण है। स्मृतिविभ्रम ही बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश ही अध्यात्मसंस्था का सर्वनाश है। इसी धाराक्रम को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने–**"ध्यायतो विषयान् पुंसः"**–इत्यादि कहा है।

भगवान् ने अर्जुन से कहा कि अर्जुन! यदि मनुष्य निरन्तर विषयों का ध्यान किया करता है तो कालान्तर में विषयों से उत्पन्न संस्कारों के साथ मन का ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। इसी को सङ्ग, किं वा **आसक्ति** कहते हैं। ठीक है। अवश्य ही हमारा मन विषयचिन्तन से सङ्गभाव को प्राप्त हो जाता है। यही नहीं, सङ्ग से उत्पन्न होने वाले क्षोभ का भी हम अनुभव करते रहते हैं। यह सब कुछ अनुभूत, अतएव निःसन्दिग्ध विषय है। परन्तु क्या एतावता ही सहसा हम भगवदादेश पर विश्वास करने के लिए तय्यार हैं? भगवान् के ही प्रत्यंशभूत मन में भगवान् के ही द्वारा दिए गए तर्क को रोक लेना हमारी शक्ति के बाहर है। वह तर्क क्या है? सुनिए!

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्"–इस गीतासिद्धान्त के अनुसार ही इन्द्रियाधिष्ठाता मन सर्वथा चञ्चल है। **"काम! जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायते"**–इत्यादि के अनुसार चञ्चलमन संकल्प-विकल्पात्मक है। विषय को पकड़ना संकल्पवृत्ति है, विषय को छोड देना विकल्पवृत्ति है। एक

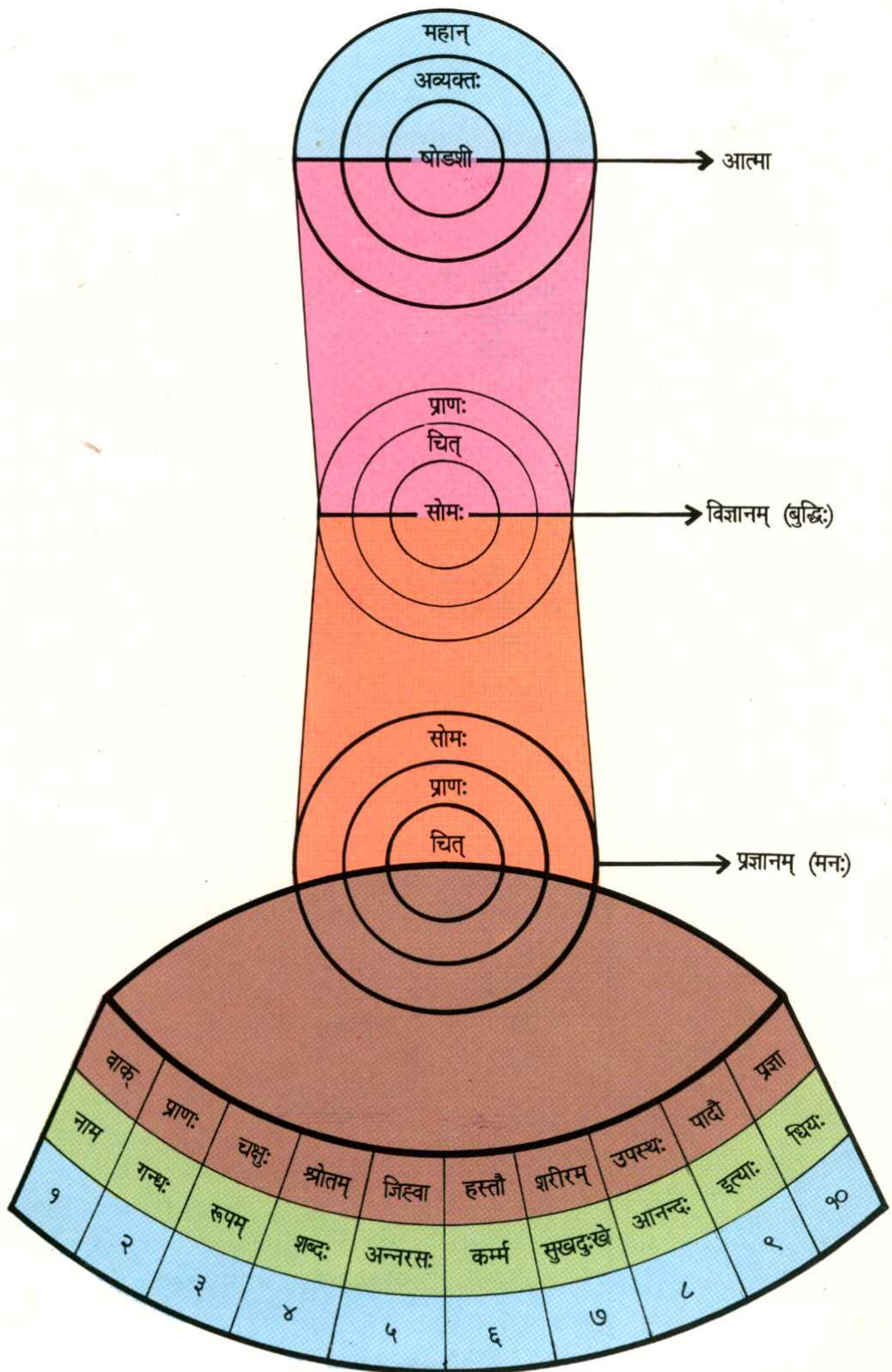
को छोड़ा, दूसरे को पकड़ा, दूसरे को छोड़ा तीसरे को, चौथे को, इस प्रकार विषयों का ग्रहण-परित्याग करने वाला मन वास्तव में चञ्चल ही है। ग्रहणपरित्यागलक्षण संकल्प-विकल्प मन के स्वाभाविक धर्म्म हैं। मन एक विषय पर कहीं त्रिकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, नहीं रहता। आज यहाँ है तो कल वहाँ है। अभी-अभी घर में है, लीजिए क्षणमात्र में बाहर चला गया। जागते सोते मन इसी प्रकार अपनी अस्थिरवृत्ति के कारण से दूर से दूर दौड़ लगाया करता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट ही श्रुति मन को "शिवसंकल्पमस्तु" इत्यादिरूप से संकल्पविकल्पकात्मक बतलाती हुई चञ्चल बतला रही है। ऐसी परिस्थिति में मन का विषयसंस्कारों के साथ सङ्ग बतलाना असङ्गत प्रतीत होता है। संगभाव के लिए चिरकाल तक मन का एक विषय पर ठहरना आवश्यक है। मन में स्वाभाविक चञ्चलता के कारण चिरकालिकत्व है नहीं। फिर मन कैसे आसक्तिबन्धन से बद्ध हुआ? उक्त सिद्धान्त में यही एक जटिल समस्या है। क्षणिकमन, किं वा क्षणपरिग्रह, क्षणत्यागमय मन में चिरकालित्व का सर्वथा अभाव है। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए हमें विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध **चाक्षुषपुरुष** का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

विज्ञानात्मा को हमने सूर्य्य का अंश बतलाया है। चूँकि विज्ञानप्रभव सूर्य्य स्थिर है अतएव तदंशभूता यह विज्ञान (बुद्धि) भी स्थिर है। इस स्थिर बुद्धि के साथ मन का नित्य सम्बन्ध रहता है। बुद्धि की स्थिरता से ही चञ्चलमन में त्रिकालिकत्व का उदय होता है। दोनों ही तत्त्व विलक्षण हैं। दोनों का समन्वय **"दग्धाश्वरथन्याय"** को चरितार्थ कर रहा है। एक व्यक्ति के पास रथ था, घोड़े मर गए थे, एक के पास घोड़े थे रथ जल गया था। दोनों ने परस्पर में रथ-अश्व का समन्वय कर काम बना लिया। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। बुद्धि के पास स्थिरता है परन्तु संगभाव का अभाव है। मन के पास प्रज्ञालक्षण संगभाव है, परन्तु स्थिरता का अभाव है। विषयासक्ति के लिए बुद्धि अपनी स्थिरता प्रदान करती है, मन अपना संगभाव समर्पण करता है। मन आसक्त हो जाता है। स्थिरबुद्धि की स्थिरता से अस्थिर भी मन स्थिर बनता हुआ सोम के प्रभाव से **"ओकःसारी"** बन जाता है। प्रज्ञात्मक प्राण को इन्द्र कहा गया है। प्रज्ञागत स्नेहगुणक सोम के प्रभाव से प्राज्ञ इन्द्र सचमुच ओकःसारी बन जाता है। जैसा कि—**"ओकःसारी वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति एवं तत्रापरं गच्छति"**[2]—इत्यादि ऐतरेय वचन से स्पष्ट है। बुद्धि की स्थिरता से एवं अपने स्नेहधर्म्मा सोम के प्रभाव से प्रज्ञाप्राणेन्द्र जहाँ जिस विषय पर एक बार चला जाता है, बार-बार उसी की ओर अनुधावन करता रहता है। "**गृहा वा ओकः**"—इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार घर को ही **"ओक"** कहा जाता है। मन का स्वाभाविक धर्म्म (सार) ओक (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे ओकःसारी कहना सर्वात्मना चरितार्थ हो जाता है। विशुद्धरूप से प्राणमूर्त्ति इन्द्र असंग है, परन्तु सोमसंसर्ग से इसमें

१ यजुर्वेद ३४।१। २ ऐत० ब्रा० २६।२।१७।



महान्
अव्यक्तः
षोडशी
आत्मा
प्राणः
चित्
सोमः
विज्ञानम् (बुद्धिः)
सोमः
प्राणः
चित्
प्रज्ञानम् (मनः)
वाक्
प्राणः
चक्षुः
श्रोतम्
जिह्वा
हस्तौ
शरीरम्
उपस्थः
पादौ
प्रज्ञा
नाम
गन्धः
रूपम्
शब्दः
अन्नरसः
कर्म्म
सुखदुःखे
आनन्दः
इत्याः
धियः
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०

आसक्ति का उदय हो जाता है । "जिस घर पर (विषय पर) गए, वहीं के हो गए," यही ओकःसार है । यदि बुद्धि का इसे सहयोग प्राप्त नहीं होता है तो कभी मन में चिरकालिकत्व का उदय नहीं होता है । एक ही विषय का बार-बार ध्यान करते रहना, यह बुद्धि का व्यापार है । ध्यानविषयीभूत विषय के साथ प्रज्ञा द्वारा चिपक जाना मन का व्यापार है ।

प्रकारान्तर से विचार कीजिए । वासनासंस्कार का मन के ऊपर लेप बतलाया गया है । इस वासना का आप्तपुरुष—

"मनसो विषयाकाराकारितत्वं वासना नाम संस्कारः" ।
"वासना नाम भोगजन्यसंस्कारः" ।

—इत्यादि लक्षण करते हैं । हमारा मन जिस विषय पर जाता है, उसके आकार में परिणत हो जाता है । काच पर पुरोऽवस्थित एक व्यक्ति की फोटू उतर जाती है । काच तस्वीर बन जाता है । यह तस्वीर काच के प्रातिस्विक स्वरूप को आवृत कर लेती है, अतएव **"वासयति-आच्छादयति-आवृणोति दर्पणम्"**—इस निर्वचन के अनुसार हम इस तस्वीर को **"वासना"** शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं । मन में रहने वाला सोमतत्त्व ही **"श्रद्धा"** नाम से व्यवहृत होता है । यह ऋततत्त्व है । ऋतपदार्थ का यह स्वभाव है कि वह जिस आकार की वस्तु से संयोग करता है, तदाकाराकारित बन जाता है । उसका अपना कोई आकार नहीं है । अपितु—**"यद्यत्स्वरूपमादत्ते तेन तेन स युज्यते"**—के अनुसार वह जिन-जिन विषयों से युक्त होता है, तदाकाराकारित हो जाता है । जैसा कि—**"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"**—इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । **"तं यथा यथोपासते तथैव भवति"**—इत्यादि श्रौतसिद्धान्त का भी यही रहस्य है । इसी द्वेषमूला आसक्ति से रावण-कंसादि मुक्त हो गए हैं । राग की अपेक्षा द्वेष में अधिक बन्धन है । ईश्वरद्वेषियों रावणादि का मन द्वेषवश सदा रामादि के आकार से ही आकारित रहता था । खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते निरन्तर वे उस रामादिस्वरूप का ही (द्वेषबुद्धि से) चिन्तन किया करते थे । इसीलिए कालान्तर में पूर्वोक्तचितिविज्ञान के प्रभाव से मुक्त हो गए थे । इसी आधार पर—**मूर्ख तो मित्र भी बुरा, विद्वान् शत्रु भी अच्छा**"—यह सूक्ति प्रतिष्ठित है । देखिए न । इसी संस्कार की कृपा से एक कीट दूसरे कीट को अपने स्वरूप में परिणत कर डालता है । वक्तव्य यही है कि श्रद्धासोममय मन पर विषयों की जो तस्वीर उतर आती है, उस तस्वीर का ही नाम वासना-संस्कार है । इस अवस्था में मन संस्कार रूप बना रहता है । विना विषयप्रतिमा के चिति का आत्यन्तिक अभाव है । चिति इन्द्रियज्ञान के ही आधीन है । इन्द्रियाँ विषयों के साथ ही योग करने समर्थ हैं । इसी चिति (अन्तश्चिति) सिद्धि के लिए भारतीय वैज्ञानिक महर्षियों ने उपासनाकाण्ड में प्रतिमापूजन का समावेश किया है, जैसा कि **विषयकाण्डान्तर्गत उपासनारहस्य** में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इस संस्कारों में मन आसक्त हो जाता है । आसक्ति का—

"स्वजनितसंस्कारद्वारा विषये मनसो बन्धनमासक्तिः" ।

—यह लक्षण किया जाता है। विषयों से जो मन पर नवीन संस्कार आ जाते हैं, उन संस्कृतविषयों के आकर्षण से ही मन उन विषयों में फंसा रहता है, जो कि विषयसंस्कार के कारण बने थे। हमने आज एक उत्तम अभिनय देखा। उसका मन पर संस्कार हो गया। यही संस्कार हमारे मन को उस अभिनयात्मक विषय को बार-बार देखने के लिए प्रेरित करता है। इसी वृत्ति का नाम बन्धन है। इस बन्धन का मूलकारण बुद्धिप्रदत्त वही चिरकालिकत्व है—

"मनसानुभवजन्यसंस्कारस्याधानेऽनुभवस्य चिरकालिकत्वं हेतुः"।

—इस अभियुक्त-सिद्धान्त के अनुसार मन की कामना से जो संस्कार मन पर आते हैं, उनका पुनः-पुनः स्मरणरूप अनुभव चिरकालित्व पर ही निर्भर है। प्राथमिक संस्कार से उक्तलक्षणा बन्धनमूला आसक्ति नहीं हो सकती। इसके लिए एक ही संस्कार का बार-बार चिन्तन अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में चिरकाल तक संस्कारावच्छिन्न विषय पर जब तक मन प्रतिष्ठित नहीं होता, तब तक संस्कारों के साथ मन का बन्धन किं वा आसक्ति नहीं हो सकती। इधर स्वयं क्षणिक मन इस चिरकालिक अनुभव में असमर्थ है। ऐसी स्थिति में हमें मानना पड़ता है कि बुद्धिसहकृत मन ही संस्काराधायक बनता है। विशुद्धमन स्थिर रहे अथवा अस्थिर, उसका कोई मूल्य नहीं है। कारण, विशुद्धमन कभी स्थिर रह ही नहीं सकता। ऐसा अस्थिरमन चिरकालिकत्वलक्षण अनुभव में सर्वथा असमर्थ है। फलतः ऐसा मन विषयसंस्कारों को लेता हुआ भी उनमें आसक्त होने में असमर्थ है। बुद्धि की स्थिरता ही चिरकालिकत्व का कारण बनती हुई मन को आसक्ति में फँसाती है। निष्कर्ष यह हुआ कि संस्कारितत्व किं वा संस्कारग्रहणयोग्यत्व मन का धर्म्म है एवं चिरकालिकत्व, किं वा अनुध्यानत्व बुद्धि का धर्म्म है। बुद्धिधर्म्म से युक्त मन ही विषयों में आसक्त होता है।

मन बुद्धि का सहारा ले कर आसक्ति का कारण बनता है, यह बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति और उपस्थित होती है। सूर्य्यात्मिका बुद्धि को चन्द्रात्मक मन पर प्रतिष्ठित बतलाया गया है। प्रज्ञान के आधार पर ही विज्ञान हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि हम अन्न खाना बन्द कर देते हैं तो अन्न के आधार से जीवित मन शिथिल हो जाता है। **"पञ्चदशाहानि माशीः"**—इस छान्दोग्यसिद्धान्त के अनुसार यदि १५ दिन तक अन्नाहुति बन्द कर दी जाती है तो मन सर्वथा निर्बल बन जाता है। ऐसी स्थिति में हमें कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता। सारी विज्ञानशक्ति ग्रस्त हो जाती है। इस प्रत्यक्षानुभूत स्थिति के आधार पर हमें मानना पडता है कि प्रज्ञान ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। इस परिस्थिति से हमें यह भी मान लेना पड़ता है कि बुद्धि कभी मन के बिना नहीं रह सकती। न बुद्धि मन से कभी पृथक् रह सकती, न मन कभी बुद्धि से पृथक् रह सकता। दोनों परस्पर में नित्य सम्बद्ध रहते हुए अन्योऽन्याविनाभूत हैं। श्रुति स्पष्ट ही इस अविनाभाव का समर्थन कर रही है। देखिए !

"कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः। तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्मा, अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया

संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं। एवमेवायं पुरुषः (विज्ञानात्मा-बुद्धिः) प्राज्ञेनात्मना (मनसा) संपरिष्वक्तः"।[1]

इस प्रकार जब मन-बुद्धि का सम्बन्ध नित्य है तो सदा ही सभी विषयों में आसक्ति होनी चाहिए। संस्कारग्राहक मन एवं दृढतोत्पादिका बुद्धि इन दोनों का समन्वय ही तो आसक्ति का कारण है। परन्तु हम देखते हैं कि हमारा मन कितने ही विषयों से घृणा रखता है। उनके स्मरणमात्र से मन में उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। इस उद्वेग का क्या कारण? आसक्तिप्रवर्तिका सामग्री के सदा विद्यमान रहते हुए भी कहीं आसक्ति हो, और कहीं आसक्ति न हो, यह वैषम्य क्यों? जिस बुद्धि ने पूर्व की विप्रतिपत्ति का निराकरण किया था, वही बुद्धि प्रकृत वैषम्य का भी निराकरण करेगी। बुद्धितत्त्व **उपेक्षाबुद्धि-अपेक्षाबुद्धि** भेद से दो भागों में विभक्त है। इन दोनों में से अपेक्षाबुद्धि मन की अनुचरी है, उपेक्षाबुद्धि मन की अधिष्ठात्री है। जो बुद्धि मन की सेविका बनी हुई है, वही मनःकर्म्म में उपयुक्त हो सकती है। जब उपेक्षाबुद्धि का उदय हो जाता है तो मन इस पर कोई प्रभाव नहीं जमा सकता। ऐसी बुद्धि मन के साथ रहती हुई भी अपनी स्वाभाविक स्थिरता से मन पर अनुग्रह नहीं करती। फलतः उपेक्षाबुद्धिसहकृत मन कभी आसक्ति का कारण नहीं बनता। विषयसंस्कारबन्धन की दृष्टि से अपेक्षाबुद्धि मन की अपेक्षा सबल है एवं उपेक्षाबुद्धि मन की अपेक्षा निर्बल है। बुद्धि की प्रबलता में मन की क्षणिकता निर्बल बन जाती है, सबला अपेक्षाबुद्धि की स्थिरता मन पर आक्रमण करती हुई मन की क्षणिकता का विध्वंस करती हुई उसे संस्कारों में स्थिर बना देती है। ठीक इसके विपरीत मन की प्रबलता में बुद्धि की स्थिरता निर्बल बन जाती है, सबल मन की क्षणिकता बुद्धि पर आक्रमण करती हुई बुद्धि की स्थिरता का विध्वंस करती हुई मन को विषयसंस्कारों के साथ बद्ध नहीं होने देती। विषय बडा अटपटा-सा है। बुद्धियोग की कृपा से ही ग्रन्थि सुलझेगी। इन प्रकृत पंक्तियों से ऊपर अनुपद में ही हमने यह कहा है कि अपेक्षाबुद्धि मन की अनुचरी है एवं उपेक्षाबुद्धि मन की अधिष्ठात्री है। इधर यह कहा जा रहा है कि अपेक्षाबुद्धि में मन निर्बल है, उपेक्षाबुद्धि में मन सबल है। दोनों बातें सहसा विरुद्ध प्रतीत होती हैं। इस विरोध-परिहार के लिए **विषय और आत्मा** इन दो भावों का आश्रय लेना पड़ेगा। आत्मा की दृष्टि से अपेक्षाबुद्धि निर्बला है, मन सबल है। कारण इसका यही है कि अपेक्षाभाव से बुद्धि मन की अनुग्राहिणी बन जाती है। बुद्धि का स्थिरभाव मन में उपयुक्त है। इस प्रकार बुद्धि की स्थिरता ले कर मन तो सबल बन जाता है एवं अपनी स्थिरता मन के समर्पित कर बुद्धि आत्मोदय में असमर्थ बनती हुई निर्बल बन जाती है। विषयदृष्टि से वही अपेक्षाबुद्धि सबला है एवं मन निर्बल है। कारण, क्षणिकता मन का स्वाभाविक बल है। यदि बुद्धि मन के द्वारा सांस्कारिक विषयों की अपेक्षा रखती है तो मन की स्वाभाविक क्षणिकता का उच्छेद हो जाता है, यही विषयानुगत मन की निर्बलता है। अपेक्षा स्थिरभावमूला है। स्थिरभाव बुद्धि का स्वाभाविकबल है। विषयासक्ति में इस स्थिरभाव का उदय रहता है, तभी तो विषयासक्ति होती है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से वही अपेक्षाबुद्धि सबला मानी जा सकती है। अब इन्हीं दोनों

---

१ बृहदा॰ उप॰ अ॰ ४।३।७ व २१।

दृष्टियों से उपेक्षाभावप्रधाना बुद्धि का विचार कीजिए। आत्मा की दृष्टि से उपेक्षाबुद्धि सबला है, मन निर्बल है। कारण इसका यही है कि उपेक्षाभाव में बुद्धि की स्थिरता का उपयोग सांसारिक विषयों में न हो कर बुद्धियोगलक्षण आत्मयोग पर होता है। आत्मोदय करना बुद्धि का स्वाभाविकबल है, अतः इस उपेक्षाबुद्धि को आत्मदृष्टचा अवश्य ही सबल कहा जा सकता है। बुद्धि की उपेक्षा से मन का संगबल उच्छिन्न हो जाता है। जिस अपेक्षाबुद्धि की स्थिरता को ले कर मन अपने स्नेहगुणक संगबल को आसक्तिरूप में चरितार्थ करने में समर्थ होता है, वह संगबल अपेक्षा हटते ही नष्ट हो जाता है। यही आत्मदृष्टचा मन की निर्बलता है। इसी प्रकार विषयदृष्टचा उपेक्षाबुद्धि निर्बला है, मन सबल है। उपेक्षाभावमयी बुद्धि अपनी स्वाभाविक स्थिरता के रहते हुए भी विषयसंस्कारों का आसक्तिरूप उपकार करने में असमर्थ रहती है।

यही विषयदृष्टचा उपेक्षाबुद्धि की निर्बलता है। बुद्धि की उपेक्षा से मन की स्वाभाविक क्षणिकता सुरक्षित है। इस क्षणिकदृष्टि से मन उपेक्षाभाव में अवश्य ही सबल कहा जा सकता है। चमत्कार तो यह है कि निर्बल मन बुद्धि को अपना दास बना लेता है, सबल मन स्वयं बुद्धि का दास बन जाता है। क्षणभाव रहित मन निर्बल है, इस अवस्था में बुद्धि इसकी नौकर है। बुद्धि की स्थिरता का उपयोग इस समय यह यथेच्छा विषयसंस्कारो पर करता है। क्षणभाव युक्त मन सबल है। इस अवस्था में यह स्वयं बुद्धि का नौकर है। बुद्धि अपनी स्थिरता से इस अवस्था में अपने आपको भी आत्मा के समर्पित कर देती है एवं मन को भी विषयबन्धन से छुडा कर आत्मानुगामी बना देती है। संस्कारों का सतत ध्यान करना जहाँ अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन का काम है, वहाँ आत्मा का सतत ध्यान करना उपेक्षाबुद्धिसहकृत मन का काम है। बुद्धचपेक्ष्य मन भूतचिति का अनुग्राहक है, मनोऽपेक्ष्या बुद्धि आत्मचिति का कारण है। निष्कर्ष यह हुआ कि—

"अपेक्षाबुद्धिसहकारे बुद्धचा विषयग्रहणस्य चिरकालिकत्वात्, सहकृतस्य मनसश्चिरकालिकत्वमुपपद्यते"।

इस आप्तसिद्धान्त के अनुसार जब विषय पर अपेक्षाबुद्धि का अनुग्रह हो जाता है तो विषय संस्कार में चिरकालिकता उत्पन्न हो जाती है। इस चिरकालिकत्वावच्छिन्ना अपेक्षा बुद्धि के साथ मन का भी नित्य सम्बन्ध है। परिणाम इसका यह होता है कि अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन भी उस चिरकालिकत्व से युक्त होता हुआ विषयों में आसक्त हो जाता है।

जिसे लोकभाषा में **"गौर करना"** कहा जाता है, वही अपेक्षाभाव है एवं लापरवाही ही उपेक्षा है। किसी विषय को हमने देखा, मन का व्यापार हो गया। यदि इस समय उपेक्षा रही, लापरवाही रही, तो वह देखना, न देखने के समान हो जाएगा। इसको सामान्यदृष्टि कहा जाता है। यही सरसरी नजर कहलाती है। गौर से देखेंगे तो वह देखना दृढमूल बन जाएगा। **"स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः"**—इस पातञ्जलसिद्धान्त के अनुसार चिरकाल तक गौर करते रहने से सचमुच गौर की हुई

वस्तु कालान्तर में दृढमूल बन जाएगी । "**गौर करो**" इसी का नाम विशेष दृष्टि है । विशेषभाव का बुद्धि से सम्बन्ध है, सामान्यभाव का मन से सम्बन्ध है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में कहा जा चुका है । गौर करो का अर्थ है–बुद्धि से काम लो, बुद्धिबल बढ़ाओ । इसी से संस्कार दृढ होगा, अन्यथा संस्कार निर्बल रहेगा । इसी उपेक्षा-अपेक्षा के तारतम्य से मनोदृष्टचा समानश्रेणि में रहते हुए शिष्यों में से कोई विद्वान् बन जाता है, कोई पढ-लिख कर भी मूर्ख का मूर्ख ही रहता है । सुनता है, लिखता है, पढता है, मन से जो-जो काम होने चाहिए-सब करता है । परन्तु बुद्धि में अपेक्षा नहीं है । फलतः विद्यासंस्कार दृढ नहीं होते । पढने के साथ-साथ ही भूलने का पवित्र कर्म्म करता रहता है । बुद्धि मन के साथ उभयावस्था में विद्यमान है । बुद्धि का रहना न रहना आसक्ति अनासक्ति का कारण नहीं है, अपि तु, बुद्धि की अपेक्षा-उपेक्षा वृत्ति का रहना न रहना आसक्ति-अनासक्ति का कारण है । इतना स्मरण रखिए कि अपेक्षाभाव में भी स्वयं बुद्धि कभी संस्कारों के आकार से रञ्जित नहीं होती । कभी विषयाकाराकारिता नहीं बनती । कारण वह सत्याग्निप्रधाना बनती हुई असंग है । चूंकि मन पूर्वकथनानुसार चान्द्रसोममय होने से संयुक्तरूपग्राहक है एवं वह बुद्धि से संयुक्त है, अतः बुद्धि असंग रहती हुई भी मनोदृष्टचा ससंग मान ली जाती है । वस्तुतः संस्काराधायकत्व एकमात्र ऋतसोममय मन का ही प्रातिस्विकधर्म्म है । मन जिस विषयसंस्कार से सम्बन्ध कर अपेक्षाबुद्धि के चिरकालिकत्वरूप अनुध्यान के बल से बद्ध हो जाता है, उस विषयबन्धन का ही नाम–"**आसक्ति**" है । साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि बुद्धि की यह अपेक्षा बुद्धि के अविद्याभाग से ही सम्बन्ध रखती है । बुद्धि में विद्या-अविद्या दो भाग बतलाए गए हैं । विद्यात्मिका बुद्धि आत्मदृष्टचा जहाँ अपेक्षाबुद्धि है, वहाँ मानसविषयदृष्टचा उपेक्षाबुद्धि है । अविद्यात्मिका बुद्धि आत्मदृष्टचा जहाँ उपेक्षाबुद्धि है, वहीं मानसदृष्टचा अपेक्षाबुद्धि है । इस प्रकार –

१–"अविद्याबुद्धिसहकृतेन मनसा चिरकालिकं विषयानुचिन्तनमनुध्यानम्" ।

२–"प्रज्ञाने विज्ञानानुष्वङ्गोऽनुध्यानम्" ।

३–"अविद्यारूपयाऽपेक्षाबुद्ध्या मनोगृहीतार्थविषयकं चिरपरिग्रहणमनुध्यानम्" ।

–इत्यादि लक्षणों के अनुसार अविद्याबुद्धि से युक्त मन के द्वारा चिरकाल तक विषयों का चिन्तन करना ही अनुध्यान है, किं वा प्रज्ञान में विज्ञान का लिप्त हो जाना ही अनुध्यान है, किं वा अविद्यात्मिका (अतएव विषयदृष्टचा) अपेक्षाबुद्धि से मन के द्वारा पकड़े हुए संस्काररूप विषयों का अधिक काल तक पकड़े रहना ही अनुध्यान है, यह फलितार्थ निकलता है । इसी बौद्धव्यापारलक्षण ध्यान किं वा अनुध्यान से मन का संस्कारों में बद्ध हो जाना ही मन का संग किं वा **आसक्ति** है । इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते" ।[1]

॥ १ ॥

---

१ गीता २।६२ ।

२–सङ्गात् सञ्जायते कामः—

"चिरकालिको मानसो विषयसंयोगो बन्धनात्मकः सङ्गः"।

–इस लक्षण के अनुसार मन में प्रतिष्ठित, मन के आकारित अतएव **"मानस"** (मनोमय) नाम से प्रसिद्ध बन्धनात्मक विषयसंयोग ही सङ्ग किं वा आसक्ति है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भगवान् कहते हैं, सङ्ग से **काम** का उदय होता है। आसक्ति ही काम की जननी है—

"मनसि संस्काररूपेण प्रतिष्ठितस्य सांस्कारिकस्य विषयाधारेण संस्काजनकेषु बहिर्धा (बहिर्जगति) प्रतिष्ठितेषु पञ्चभूतात्मकेषु तत्तत्स्थूलविषयेषु मनसो वारम्वारमनुधावनं कामः"–"मनसाकारिते विषये बहिर्धा मनसो जिघृक्षा कामः"–"संस्कारात्मकविषयाकर्षणद्वारा तत्सम्बन्धिविषयानुगतामनोऽभिलाषा कामः"।

–इत्यादि लक्षणों के अनुसार मन का संस्कारसम्बन्धी विषयों की ओर बार-बार दौड़ना ही काम किं वा इच्छा है। तात्पर्य्य कहने का यह है कि जिन विषयों का संस्कार अविद्याबुद्धि की अपेक्षा से सम्बन्ध रखने वाले अनुध्यानलक्षण चिरकालिकत्व के अनुग्रह से चिरकाल के लिए मन में बद्ध हो जाता है, उन संगरूप (आसक्तिरूप) सांस्कारिक विषयों का उन-उन स्थूल विषयों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जिन स्थूल विषयों के आधार से मन में संस्कार उत्पन्न हुए थे। इसी सजातीय आकर्षण से आकर्षित संस्कारमय मन उन उन स्थूल विषयों की निरन्तर कामना किया करता है। एक बार किसी विषय का संस्कार दृढमूल बन जाना चाहिए। बस, इस संग के प्रभाव से मन सदा उसके लिए लालायित रहेगा। मन की इसी वृत्ति का नाम "काम" है। विषय में डूबा हुआ मन ही काममय कहलाता है। इसी अवस्था में आ कर-**"यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, एवं तत्रापरं गच्छति"**–इस श्रुति को सर्वात्मना चरितार्थ होने का अवसर मिलता है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। विषय की कामना संग की जननी है। जब तक मन काम (इच्छा) न करेगा, तब तक कभी उसके ऊपर विषयसंस्कार न आएँगे। जब तक संस्कार न आएँगे, तब तक बुद्धि का चिरकालिकत्व व्यापार न होगा। जब तक बुद्धि का चिरकालिकत्व व्यापार न होगा, तब तक मन संगरूप आसक्ति में न फंसेगा एवं जब तक संग न होगा तब तक काम का उदय न होगा। इस परम्परा से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि काम (इच्छा) हो, तब विषयसंस्कार आएँ, विषय-संस्कार हों, तब बुद्धि अपना व्यापार करे, बुद्धि का व्यापार हो, तब अनुध्यान हो। अनुध्यान हो, तब संग हो। सङ्ग हो, तब काम हो। इस प्रकार जिस सङ्ग को भगवान् काम का मूल बतला रहे हैं, वह सङ्ग भी स्वयं काममूलक बन रहा है। संग हो तब काम हो, काम हो तब संग हो, क्या सङ्ग-काम का यह अन्योऽन्याश्रय नहीं हैं? यदि है तो तो फिर–**'सङ्गात् संजायते कामः"**–यह कैसे कहा गया? फिर

तो भगवान् को "(पूर्वं) **कामात् संजायते सङ्गः–सङ्गात् सञ्जायते कामः**"–यह कहना चाहिए था। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए हमें काममय प्रजापति की ही शरण में जाना पड़ेगा।

संकेतभाषा के अनुसार–"**आत्मप्राणपशुत्वं प्रजापतित्वम्**"–प्रजापति का यह लक्षण किया जाता है। जिस तत्त्व में **आत्मा–प्राण–पशु** ये तीन पर्व होते हैं, वही तत्त्व प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। यही त्रिकल प्रजापति विश्ववितान करने के कारण गीताशास्त्र में–"**तद्ब्रह्म**" नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि सामान्य रूप से आगे के सातवें उपदेश में एवं विशेष रूप से–"**ओं–तत्–सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः-स्मृतः**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। आगमपरिभाषा के अनुसार प्रजापति की उक्त तीनों कलाएँ **पशुपति–पाश–पशु** नाम से प्रसिद्ध हैं। दार्शनिकपरिभाषानुसार ये तीनों कलाएँ **ज्ञान–क्रिया–अर्थ** नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मज्ञानपक्ष में ये ही तीनों **मन–प्राण–वाक्** नाम से प्रसिद्ध हैं। विज्ञानपरिभाषा के अनुसार ये ही तीनों **उक्थ–अर्क–अशिति** नाम से प्रसिद्ध हैं एवं सामान्यव्यवहार के अनुसार ये ही तीनों **भोक्ता–भोगसाधन–भोग्य** नाम से व्यवहृत हुई हैं—

प्रजापतिः–तद् ब्रह्म				
१–आत्मा	←——	२–प्राणः	←——	३–पशवः
१–पशुपतिः	←——	२–पाशः	←——	३–पशुः
१–ज्ञानम्	←——	२–क्रिया	←——	३–अर्थः
१–मनः	←——	२–प्राणः	←——	३–वाक्
१–उक्थम्	←——	२–अर्काः	←——	३–अशितयः
१–भोक्ता	←——	२–भोगसाधनम्	←——	३–भोग्यम्

अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् १	अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नं चैतन्यम् २	विषयावच्छिन्नं चैतन्यम् ३

उक्त कलाभेदों से प्रकृत में विशेषरूप से **उक्थ–अर्क–अशिति** इन तीन नामों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। उक्थ उस तत्त्व का नाम है जिस में से चारों ओर रश्मियों का प्रसार हुआ करता है। प्रभवस्थान ही उक्थ है। केन्द्र से बद्ध रहती हुईं उक्थमयी रश्मियाँ ही अर्क हैं। इन रश्मियों से बद्ध पदार्थ ही अशिति नाम से प्रसिद्ध है। उदाहरण के लिए संवत्सराधिष्ठाता सूर्य्य प्रजापति को अपने

सामने रखिए। सूर्य्यबिम्ब से-सूर्य्य केन्द्र से बद्ध रहती हुई चारों ओर रश्मियाँ निकल रही हैं। इस रश्मिमण्डल ही का नाम प्रकाशमण्डल किं वा ज्योतिर्मण्डल है। इन रश्मियों का उत्थान किं वा विनिर्गम सूर्य्यबिम्ब से ही हुआ है, सूर्य्य ही रश्मियों का प्रभव है अतएव **"यत उत्तिष्ठन्ते रश्मयः"**-इस निर्वचन के अनुसार इस सूर्य्य को हम अवश्य ही "**उक्थ**"-नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। सूर्य्य-उक्थ से निकलने वाली प्रत्येक रश्मि-**"अस्य प्राणदपानती"**, इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राणापानव्यापार करती हुई विषयग्रहण करती हैं। पीछे हटते हुए आगे चलना ही प्राणदपानत् है। प्रत्येक गति का यह स्वाभाविक धर्म्म है। पीछे हटना अपानत् है, आगे बढना प्राणन है। रश्मिप्रसादरूपा रश्मिगति में दोनों का समन्वय है। इसी वृत्ति को ब्राह्मण-श्रुति ने-**"अर्चंश्चरति"** कहा है। इसी निर्वचन के कारण प्राणदपानद् व्यापारवती इन रश्मियों को हम अवश्य ही "**अर्क**" नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। सूर्य्य के रश्मिमण्डल में प्रतिष्ठित शनि-मंगल-बृहस्पति-देवसेना-चन्द्रमा-बुध-शुक्र-पृथिवी आदि सब उपग्रह सूर्य्य के प्रवर्ग्य (उच्छिष्ट) भाग हैं। ये सब सूर्य्य-रश्मियों के आकर्षण से आकर्षित हैं। इन्हीं से रश्मियों के द्वारा उक्थ-सूर्य्य का जीवन है। आरम्भदशा में सूर्य्य से उत्पन्न इन उपग्रहों के अंशों को रश्मि द्वारा खा कर ही सूर्य्य स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। सूर्य्योदर में सब भुक्त हैं। भुक्तभाग ही अन्न कहा जाता है। अन्न ही **"अशिति"** कहलाता है, अतएव सौररश्मिमण्डल में प्रतिष्ठित इन त्रैलोक्य के यच्चयावत् पदार्थों को हम सूर्य्य की अशिति (अन्न) कह सकते हैं। अन्नात्मिका अशिति पशु है। ये पशु उन रश्मिपाशों से बद्ध रहते हुए उस उक्थरूप सूर्य्यपशुपति के लिए बलिदान हो रहे हैं।

वेद में एक सिद्धान्त है कि-**"अशितियों से महदुक्थ आप्यायित होता है"-अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते"**। वास्तव में बात यथार्थ है। हम ने सूर्य्य को उक्थ बतलाया है। परन्तु उक्त श्रुति के अनुरोध से अब हम सूर्य्य को उक्थ न कह कर महदुक्थ कहेंगे। पिण्ड का ही नाम उक्थ है, मूर्ति को ही उक्थ कहा जाता है। इस दृष्टि से पिण्डात्मक सूर्य्य अवश्य ही उक्थ भी कहा जा सकता है। परन्तु रश्मियों की अपेक्षा हम इसे महदुक्थ ही कहेंगे। सूर्य्य की रश्मि क्या है? यह विचार कीजिए। मौलिक वेदविद्या के अनुसार सूर्य्यपिण्ड ही उत्तरोत्तर कम होता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है। एक-एक रश्मि उत्तरोत्तर दहरोत्तर (छोटे बडे) एकसहस्र सूर्य्यों का संकलनमात्र है। भूपिण्ड पर रहने वाले हम मनुष्य जिस सूर्य्यमूर्ति के दर्शन कर रहे हैं, वह मूलसूर्य्य कभी नहीं है। अपि तु, हमारी आँख पर आया हुआ जो रश्मिरूप सूर्य्य है, उसे ही हम देख रहे हैं। जिस प्रकार एक चित्र में चित्र के साथ-साथ दूरी की भी प्रतिच्छाया खचित हो जाती है, उसी प्रकार रश्मि, सूर्य्य के साथ-साथ हमारे नेत्रपटल पर दूरी भी प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसीलिए हमें ऐसा भाव होता है कि मानों हम सूर्य्य को खगोल प्रदेश में देख रहे हैं। वस्तुतः हम उसी सूर्य्य को एवं उसी दूरी को देख रहे हैं, जो कि नेत्रपटल पर प्रतिबिम्बित हैं। यदि हम पृथिवी से दूर शुक्र अथवा बुधमण्डल पर होते तो वहाँ सूर्य्य को और भी छोटा देखते। भला जो मूलसूर्य्य भूपिण्ड से भी कई सहस्रगुणित बडा है, उसे हम क्यों कर देख सकते हैं? इस स्थिति से कहना हमें यही है कि सूर्य्य की हजार रश्मियों में प्रत्येक रश्मि सहस्र-सहस्र छोटे-बड़े सूर्य्यों का संकलनमात्र ही है। इसी आधार पर-**"सहस्रधा महिमानः सहस्रम्"**-यह कहा जाता है। इस प्रकार रश्मिरूप अर्क सूर्य्यमूर्तियों का संग्रहमात्र है। इन सब मूर्तियों से पुनः स्वतन्त्र रश्मियाँ उसी

प्रकार निकलती हैं, जैसे कि रश्मि के आने से पात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य्य में से पुनः रश्मिप्रसार होने लगता है। इसी प्रसार के भूमा-भाव से सौरमण्डल सर्वात्मना प्रकाशित हो रहा है। यदि रश्मियों में से अन्य रश्मियों का विनिर्गमन होता तो प्रकाश में हमें छिद्र मिलते। परन्तु हम देखते हैं कि प्रकाश सर्वथा अच्छिद्र बना हुआ है। यह रश्मियों की अवान्तर प्रसार की कृपा का ही फल है। इसी विज्ञान को सूचित करने के लिए ऋषि ने सूर्य्य रश्मि को–**"अच्छिद्रपवित्र"** नाम से सम्बोधित किया है।

सूर्य्य-रश्मियाँ भी स्वतन्त्र उक्थ हैं। जिस प्रकार मूलसूर्य्य रश्मिप्रसार के कारण इन रश्मियों का उक्थ कहलाता है एवमेव रश्मिगत सहस्रों तूल-सूर्य्य भी स्वतन्त्र रश्मिप्रसार के कारण अवश्य ही **"उक्थ"** नाम से व्यवहृत किए जा सकते हैं। मूल उक्थ को इन तूल उक्थों से पृथक् करके समझने के लिए ही ऋषि ने इन दोनों के क्रमशः **महोक्थ** किं वा **महदुक्थ** एवं **उक्थाग्द** नाम रख दिए हैं। इन रश्मिरूप अनन्त उक्थों का मूल वही मूल सूर्य्यपिण्ड है, अतः इनकी अपेक्षा हम अवश्य ही उसे **महदुक्थ** कह सकते हैं, सचमुच ऋग्रूप अनन्त उक्थों का मूलभूत महदुक्थ सूर्य्य ऋचाओं का समुद्र है।

महदुक्थसूर्य्य के प्रत्यंशों से ही पूर्वोक्त उपग्रह उत्पन्न हुए हैं। यही नहीं आज भी सब उपग्रह सूर्य्यांश का ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार प्रजापतिसूर्य्य सृष्टि के आरम्भ से आज तक निरन्तर अपनी मात्राएँ बाँटता चला आ रहा है। यही प्रजापति के अंगों का शाश्वत विस्रंसन किं वा विस्रस्ति है। परन्तु आश्चर्य है कि उपग्रह, प्रजा आदि के सतत निर्म्माण में अपने अंश खर्च करता हुआ भी सूर्य्य ज्यों का त्यों विद्यमान है। सूर्य्य की इस अशिति को देखते हुए मानना पड़ता है कि सूर्य्य जितना भाग बाँटता है, उतना रश्मियों के द्वारा उन्हीं उपग्रह एवं प्रजा आदि से लेता भी रहता है। इस आदानवृत्ति के कारण ही तो वह **"आदित्य"** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। विसर्ग के साथ-साथ आदान भी हो रहा है। किन से ? अर्करूप रश्मियों से। किनका ? अर्कगृहीत उपग्रहादिरूप अशितियों का। क्यों ? अपने प्रातिस्विक महदुक्थ-स्वरूप की पूर्त्ति के लिए, तृप्ति के लिए। उसके भाग से हम उत्पन्न हुए हैं, उसी के भाग को खा कर हम जीवित हैं, वह हमारा अन्न है। साथ ही में वह भी हमें निरन्तर खा रहा है। **"एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्"**– **"अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि"**। यही तो विश्वयज्ञ की सर्वश्रेष्ठता है–**"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म"**। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर पूर्व में–**"अशितिभिर्महदुक्थमाप्यायते"**–यह कहा है।

निदर्शनमात्र है। **"कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते"**- इस तर्कसिद्धान्त के अनुसार कारण के गुण ही कार्यस्वरूप के आरम्भक (उपादान) बनते हैं। सौर त्रिलोकी में रहने वाले जितने भी चर-अचर पदार्थ हैं, सब का कारण एकमात्र सूर्य्य ही है, जैसा कि **"नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि"** **"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"**- इत्यादि मन्त्र-वर्णनों से स्पष्ट है। फलतः सूर्य्यांशभूतकार्यरूपपदार्थ मात्र में, **उक्थ-अर्क-अशिति** इन तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। त्रिकल प्रजापति (सूर्य्य) से उत्पन्न प्रजामात्र तीनों कलाओं से युक्त होती हुई एक-एक स्वतन्त्र प्रजापति है–**"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च"**। समष्टि एवं व्यष्टिरूप से उभयथा सर्वत्र उक्थ-अर्क-अशितिरूप प्रजापति का ही साम्राज्य है। उक्थ पर प्राणरूप अर्क आहित हैं, आहितप्राणात्मक अर्क पर वाग्रूपा अशिति उपहिता है।

उक्थ मन है, अर्क प्राण है, अशिति वाक् है । इस वाग्रूपा अशिति के अन्तर्बहिरूप से दो विवर्त्त हैं । आत्मा से नित्यसम्बद्ध अतएव आत्मा के उक्थरूप में ही अन्तर्भूत अशिति आभ्यन्तर अशिति है । इससे तो आत्मा की स्वस्थतामात्र है । इसे कभी आत्ममहिमा से पृथक् नहीं किया जा सकता । यह आत्मा का प्रातिस्विक नियतभाग है । उदाहरण के लिए शरीर को आभ्यन्तर अशिति समझिए । शरीर भी वाङ्मय होने से अशिति है एवं जिन वस्तुओं का, भौतिक पदार्थों का हम उपभोग करते हैं, वे भी वाङ्मय बनते हुए अशिति हैं । शरीर हमारा प्रातिस्विक भोग है । बाहर के पदार्थ बहिरंग अशिति हैं । इसी से उक्थ आत्मा का आप्यायन होता है । जहाँ उक्थ है, वहाँ अर्क अवश्य है । जहाँ अर्क है, वहाँ अशिति अवश्य है । तीनों का समुच्चितरूप ही प्रजापति है । इस प्रजापति का अध्यात्मसंस्था के साथ समन्वय कीजिए । उक्थरूप आत्मा मनोमय है । अर्करूप प्राण प्राणमय है, अशितिरूपा वाक् पशुप्रधाना है । मन एक प्रकार का बिम्ब है । इससे जो रश्मिएँ निकलती हैं, वे ही काम किं वा इच्छा नाम से प्रसिद्ध हैं । इसी कामसूत्र किं वा इच्छासूत्र को "**अशनाया**" कहा जाता है । मन से ही अशनाया का उदय होता है । यह इच्छा अशनमयी है, भोग्यमयी है, विषयमयी है, अतएव इसे अशनाया कहना अन्वर्थ बनता है । हमारा जन्म इसी काम की कृपा से हुआ है । पूर्वजन्मकृत संस्कारपुञ्ज ही उक्थमन के उक्थभाव का स्वरूपसमर्पक बना है । उसी संचित संस्काररूप उक्थमन से कामना का उदय होता है । इसी कामना के आधार पर पूर्व प्रतिपादिता आसक्ति का उदय होता है ।

यह विश्वास कीजिए कि काम और सङ्ग दोनों में प्राथम्य काम का ही है, जैसा कि–"**कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**"–इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । कर्म्माश्वत्थ का मूलबीज काम ही है, अतएव–"**काममय एवायं पुरुषः**" "**कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता, काम एवैतत्तत्**"–इत्यादि श्रुतियाँ इस प्रज्ञानपुरुष को काममय ही मानती हैं । यही काम आरम्भ में आत्मकाम था । परन्तु विषयससंग से आगे जा कर यही सांस्कारिक उक्थ बन गया है । उसी संगरूप काममय उक्थ से हमें गर्भ में आना पड़ा है । गर्भस्थ संगरूप उक्थ ही हमारे जीवन में होने वाली विषयकामनाओं का मूल है । प्रश्न यह था कि संग हो तब काम हो, काम हो तब संग हो । इसके लिए पूर्वजन्मकृत संचित कर्म्मसंस्कारों का ही आश्रय लेना पड़ेगा । इन प्रारब्ध कर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले काम का प्रवर्त्तक जीवात्मा नहीं है, स्वयं-मन नहीं हैं, अतएव इस काम को हम काम नहीं कह सकते हैं । प्रारब्धकर्म्मजनित काम से उत्पन्न जो नवीन उक्थरूप संग उत्पन्न होगा एवं इससे जो नवीन काम का उदय होगा, उसे ही हम मन का "**काम**" कहेंगे । कारण, मन इसमें स्वतन्त्र है । यह केवल मन का प्रज्ञापराध है । प्रारब्धकर्म्मजनित काम का तो उपभोग होगा ही–"**प्रारब्धकर्म्मणां तु भोगादेव क्षयः**" । यह प्रपञ्च मन के नियन्त्रण से बाहर की वस्तु है, अतएव भगवान् ने प्रारब्धकर्म्मजनित प्राथमिक काम का प्रकृत में उल्लेख न कर संग से उत्पन्न जो नवीन काम है, उसी को प्रधान माना है । प्रारब्धकर्म्मवश कामना हुई । दूसरे शब्दों में प्रारब्ध उक्थरूप संग से मन में कामना का उदय हुआ । विषयसंस्कार आए । इन से एक स्वतन्त्र उक्थ बन गया । पुनः इस से काम का उदय हुआ । इस उदय का कारण एकमात्र आसक्ति ही है । यदि प्रारब्ध कर्म्मजनित काम से उपेक्षाबुद्धिपूर्वक मन संस्कारों को लेता रहता तो कभी नवीन उक्थ न बनता, फलतः

आगे की कामवृत्ति अवरुद्ध हो जाती, परन्तु अविद्यामय अपेक्षाभाव की कृपा से स्वाभाविक काम अतएव कामजनित संग से इसे कामना के कुचक्र में फँस जाना पड़ता है।

एक व्यक्ति मद्यपान नहीं करता अतएव उसके मन में मद्य का उक्थ नहीं है। फलतः मद्यपान सम्बन्धी अर्क (इच्छा) भी नहीं हैं। जो कभी मद्यपान नहीं करता, उसे कभी मद्यविषयिणी इच्छा नहीं होती। क्योंकि इच्छा किं वा काम का मूल तो संस्कारपुञ्जरूप उक्थ ही है। दुर्भाग्य से इस व्यक्ति की एक मद्यपी के साथ मित्रता हो जाती है। मद्यपी इसके सामने मद्य के गुणों का बखान करने लगता है। उसके सामने शराब पीता हुआ शराब की स्तुति करता है। शराबी की शराब से निकलने वाले परमाणु, शराब की स्तुतिपरक शब्दों के संस्कार धीरे-धीरे उस व्यक्ति के अन्तःपट पर खचित होने लगते हैं। यदि इन संस्कारों का चिरकाल तक आक्रमण होता रहता है तो एक संस्कार पर दूसरे संस्कार का पुट, दूसरे पर तीसरा, चौथा, पाँचवां इस धारावाहिक क्रम से मन में संस्कारों की चिति हो जाती है। दुर्भाग्य से यदि इस चिति को बुद्धि का अपेक्षाबल मिल जाता है तो वह दृढमूल बन कर स्वतन्त्र उक्थ बन जाती है। उक्थ बनते ही अर्क निकल पड़ते हैं–**"देखें तो सही शराब कैसी लगती है"**–यह इच्छा ही उक्थ से निकलने वाले अर्क हैं। वह उक्थ संग था, संग की कृपा से निकलने वाला इच्छासूत्र, मद्यापानेच्छा ही संग से उत्पन्न होने वाला काम है। देखिए, इस मद्यपानरूप काम का एकमात्रप्रभव उक्थरूप संग ही है। इस संगोत्पत्ति के लिए पहले कोई काम न था। इसकी इच्छा से यह संगरूप उक्थ उत्पन्न नहीं हुआ है, अपितु, इस संग का कारण संग ही है। मद्यपी का सहवास ही कालान्तर में उक्थरूप सङ्ग बन गया है। ऐसी स्थिति में पूर्वप्रतिपादित अन्योऽन्याश्रय दोष का कोई अवसर नहीं रहता।

सहवासलक्षण संगदोष ही उक्थलक्षण कामजनक सङ्ग का कारण है। इसीलिए आर्य महर्षियों ने सब दोषों में संगदोष को प्रधानता दी है। सचमुच कुसङ्ग हमारा सर्वनाश कर देता है, सुसङ्ग उद्धार कर देता है। कुसङ्गवश एक महापुरुष भी निन्दनीय कर्म्म करने लगता है, सुसङ्ग-महिमा से एक नीच मनुष्य भी महापुरुष बन जाता है। इस प्रकार व्यवहार एवं परमार्थ दोनों कोटियों की अपेक्षा से संग ही काम का कारण बनता है। काम से बचने का उपाय है, सङ्ग से बचना। संग से बचने का उपाय है उपेक्षाबुद्धिपूर्वक मन को कर्म्म में प्रवृत्त रखना। **"उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु"**–यही असङ्गभाव का मौलिक रहस्य है। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि मन जिन-जिन विषयों की कामना किया करता है, उन-उन विषयों के संस्काररूप उक्थरूप संग पहले से भी मन में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार इन सङ्गरूप उक्थों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। **"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"**–इत्यादि प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि मन में सांस्कारिक कर्म्मव्यूह प्रतिष्ठित रहता है। व्यूहान्तर्गत एक-एक अभिक्रमरूप पुरुषार्थकर्म्मपुञ्ज एक-एक स्वतन्त्र उक्थ है। यह पहला **"१-सङ्ग"** है। जो सङ्गरूप कर्म्म प्रारब्ध हो गया, जिसके आरम्भ से हमने धरातल पर जन्म ले लिया-वही प्रारब्धसङ्ग दूसरा **"२-सङ्ग"** है। इस सङ्ग से उत्पन्न काम को अपेक्षाबुद्धि से युक्त कर नवीन संस्कारों की चितिरूप प्रज्ञापराध से उत्पन्न नवीन "सङ्ग" (उक्थ) तीसरा **"३-सङ्ग"** है एवं कुसङ्गरूप बुरे सहवास से बिना ही कामना के नवीन उत्पन्न "सङ्ग" चौथा **"४-सङ्ग"** है। चारों ही सङ्ग उक्थमर्य्यादा से आक्रान्त

रहते हुए सङ्गकोटि में प्रविष्ट हैं। चारों ही कामनाओं के जनक हैं। इन चारों में से पूर्वजन्म से सञ्चित पहला सङ्गवर्ग भी कोई हानि नहीं करता। प्रारब्ध सङ्ग भी कोई हानि नहीं करता। हानि करने वाले उत्तर के दो सङ्ग हैं। यदि इन दो को हटा दिया जाता है तो प्रारब्धसंगजनितसंस्कार बन्धन के कारण बनते नहीं एवं संचित उक्थरूप सङ्ग भस्मसात् हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि मिथ्या आहार-विहार, दुर्जन-सहवास, अकर्म्म-संग आदि सङ्गों से बचते हुए उपेक्षाबुद्धिसहकृतमन से कर्म्म करने वाले व्यक्ति के कर्म्म निष्कामकर्म्म बनते हुए आगामी सङ्ग का भी अवरोध कर देते हैं, सञ्चित का उच्छेद कर देते हैं, प्रारब्धकर्म्मजनित हर्ष-शोकमय क्षोभ को शान्त कर देते हैं। इसी सारे चतुर्विध, कामजनक सङ्ग के मौलिक रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"सङ्गात् सञ्जायते कामः"

॥ २ ॥

—०—

३—कामात् क्रोधोऽभिजायते—

"**विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः**"—इस सूक्ति के अनुसार तो व्यक्ति प्रज्ञापराधवश (नासमझी से) एकबार सङ्ग के कुचक्र में फँस गया, उसे फिर सम्भलने का अवसर न मिला। वह उत्तरोत्तर गर्त्त में ही फँसता गया। सङ्ग से काम उत्पन्न हुआ। यही काम आगे जा कर क्रोध का जनक बन जाता है। वस्तुतस्तु काम क्रोध का जनक नहीं है, अपितु—"**कामसिद्धिप्रतिबन्धोके विरुद्धकामःक्रोधजनकः**"—इस लक्षण के अनुसार काम को विफल बनाने वाला जो विरुद्ध काम है, वही क्रोध का जनक है। हमें ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि भगवान् स्वयं आगे जा कर काम और क्रोध को रागजनित बतलाने वाले हैं। देखिए—

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥"[1]

रजोगुण से ही काम उत्पन्न होता है एवं रजोगुण ही क्रोध का पिता है। उधर—

"रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म्मसङ्गेन देहिनम्॥"[2]

—इत्यादि के अनुसार रजोगुण को भगवान् रागात्मक बतलाते हुए तृष्णामय सङ्ग को उसकी उत्पत्ति का कारण मान रहे हैं एवं आगे जा कर कहते हैं कि हे कौन्तेय! तृष्णासङ्ग से उत्पन्न रागात्मक

१ ३।३७ गीता। २ गीता १४।७।

रजोगुण ही इस देही (आत्मा) को कर्म्मसङ्ग से बद्ध कर देता है। इस प्रकार एक स्थान पर भगवान्–"विषयचिन्तन से सङ्ग उत्पन्न होता है, सङ्ग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है"–यह कह रहे हैं एवं उन्हीं भगवान् के मुख से अन्य स्थान में "काम और क्रोध दोनों रजोगुण से उत्पन्न हुए हैं, रजोगुण रागमय है, यह रागात्मक रजोगुण तृष्णासङ्ग से उत्पन्न हुआ है। तृष्णासङ्ग से उत्पन्न यह रजोगुण ही तृष्णा से बाँध देता है"–ये अक्षर निकल रहे हैं। किस क्रम को सिद्धान्त पक्ष माना जाए? पाठकों के सामने तीनों सिद्धान्त उपस्थित हैं। उन्हें तीनों का समन्वय करना चाहिए। जब तक विरुद्ध प्रतीत तीनों पक्षों का समन्वय नहीं कर लिया जाएगा, तब तक–"**कामात् क्रोधोऽभिजायते**"–इस वाक्य के रहस्यार्थ का उद्घाटन न हो सकेगा। पूर्वापरप्रकरण की इन ग्रन्थियों ने ही तो व्याख्याताओं का व्यामोहन किया है।

१– { १–अनुध्यानात्——→सङ्ग उपजायते
२–सङ्गात्——→कामः सञ्जायते
३–कामात्——→क्रोधोऽभिजायते } →प्रथमः पक्षः १

—❀—

२– { १–रजोगुणेन कामक्रोधावुत्पद्येते } →द्वितीयः पक्षः २

—❀—

३– { १–तृष्णासङ्गेन——→रागात्मकरजोगुणोदयः
२–रागात्मकेन रजसा→कर्म्मसङ्गोदयः } →तृतीयः पक्षः ३

—❀—

तृष्णा ही मूलकाम है। इस मूलकाम से युक्त रहने वाला मन ही तृष्णासङ्गमन है। इसी तृष्णासक्ति का नाम रजोगुणमय "राग" (विषयासक्ति) है। विषयों में मन का चिरकालपर्यन्त अनुरक्त रहना ही अनुध्यान है। रागमूलक, किं वा रागात्मक यह अनुध्यान ही विषयसंस्कारचितिलक्षणसंग का जनक है। फलतः "**सङ्गात् सञ्जायते कामः, रजो गुणसमुद्भवः, रजो रागात्मकं विद्धि**"–इन तीनों पक्षों में कोई विरोध नहीं रहता। राग ही अनुध्यान का मूल है, राग ही सङ्ग का प्रवर्त्तक है। सङ्गद्वारा राग ही कामक्रोध का जनक है। आसक्ति का नाम ही राग है–यही सङ्ग है। यह रागात्मिका आसक्ति अनुकूल-प्रतिकूल भेद से दो भागों में विभक्त है। विषय को ले कर जो आसक्ति होती है, वह अनुकूल रागासक्ति है। विषय को न लेते हुए जो आसक्ति है, वह प्रतिकूल रागासक्ति है। अनुकूल रागासक्ति काम की जननी है, प्रतिकूल रागासक्ति क्रोध की जननी है। दोनों में प्रतिकूल रागासक्ति अधिक प्रबल है। बन्धन ही काम

है, बन्धन ही क्रोध है । अनुकूलबन्धन काम है, प्रतिकूलबन्धन द्वेष है । सीधी गांठ काम है, उलटी गांठ क्रोध है । दो व्यक्ति आमने-सामने खड़े हैं । दोनों अलग-अलग हैं, परन्तु दोनों की दृष्टि एक लक्ष्य पर प्रतिष्ठित है । यही अनुकूल बन्धन है । दोनों के पृष्ठभाग मिल गए । पार्थक्य पहले की अपेक्षा से भी कम हो गया । दोनों के शरीर संस्पृष्ट हो गए । परन्तु दृष्टिकोण बदल गया । एक पूर्व की ओर देखने लग गया, एक की दृष्टि पश्चिम की ओर अनुगत हो गई । अनुकूलराग में रागसम्बन्धी विषय मन की जिघृक्षा बन रहा है । प्रतिकूलराग में मन विषय से दूर भाग रहा है । फिर भी बन्धन अधिक है । अनुकूलराग स्नेह का मूल है, प्रतिकूलराग द्वेष का मूल है । दूसरे शब्दों में अनुकूल रागात्मक काम स्नेह का प्रवर्त्तक है, प्रतिकूलरागात्मक क्रोध द्वेष का प्रवर्त्तक है । जिन व्यक्तियों के साथ हमारा द्वेष रहता है, उन व्यक्तियों से हम कालसर्प की तरह घृणा किया करते हैं । उनका मुँह भी नहीं देखना चाहते । परन्तु आश्चर्य है, रात-दिन द्वेषविषयीभूत वे शत्रु हमारी दृष्टि पर चढे रहते हैं । मित्र को तो हम कभी-कभी भुला भी देते हैं, परन्तु शत्रु कभी दृष्टि से नहीं उतरता । कारण इसका यही है कि स्पृहा की अपेक्षा घृणा मन की वृत्ति को और भी अधिक दृढ बना देती है । शोक-द्वेष-क्रोध आदि को जितना हम भुलाना चाहते हैं, वे उतना ही अधिक आक्रमण करते हैं । इनसे बचने का उपाय तो एकमात्र तितिक्षामूला उपेक्षा ही है, जैसा कि–"**तान् तितिक्षस्व भारत**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । प्रकृत में हमें इस प्रपञ्च से केवल यही बतलाना है कि आसक्ति ही बन्धन है–यही राग है । अनुकूलता में यही राग काम का जनक है । प्रतिकूलता में अपनी कामवृत्ति से अवरुद्ध बनता हुआ यही राग विरुद्ध काममय बनता हुआ क्रोध का जनक बन जाता है । काम सुखसंस्कार है, क्रोध दुःख-संस्कार है, जैसा कि "**सुखानुशयी रागः**"–"**दुःखानुशयी द्वेषः**"–इत्यादि पातञ्जल सूत्रों से स्पष्ट है ।

"**अनुकूलसंयोगलक्षणः सुखानुशयी संस्कारः कामः**"–इस लक्षण के अनुसार हमारा मन जिस विषय की कामना करता है, मन की यह कामना सफल हो जाती है, दूसरे शब्दों में मन को अभिलषित फलसंस्कार मिल जाता है तो ऐसे समय में मन सुखी बन जाता है । सुखात्मक कामपूर्त्तिजनित यह संस्कार ही "**काम**" है । कामपूर्त्ति ही इस कामसंस्कार के उदय का कारण बनी है । यह संस्कार उत्पन्न भी काम से ही हुआ है एवं स्वयं भी काममय ही है । तभी तो कामसिद्धि (इच्छासिद्धि) के सम्बन्ध में भी–"**काम बन गया**"–इत्यादि रूप से काम शब्द का प्रयोग होता है । काम वही काम है जो संस्कार उत्पन्न कर दे, अपने अनुकूल (ऐच्छिक) विषयसंस्कार का मन के साथ सम्बन्ध करा दे । यदि संस्कार उत्पन्न नहीं हुआ, दूसरे शब्दों में ऐच्छिक वस्तु न मिली तो वही काम दुःखानुशयी बनता हुआ क्रोध का जनक बन जाता है । बस, इसी स्थिति को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने–"**कामात् क्रोधोऽभिजायते**"–यह कहा है–"**प्रतिकूलसंयोगलक्षणो दुःखानुशयी संस्कारः क्रोधः**"–इस लक्षण के अनुसार यदि अभिलषित काम में विघ्न डालने वाले प्रतिबन्धक धर्म्म आ जाते हैं तो इसे अपनी कामपूर्त्ति से निराशा हो जाती है । तत्काल उन प्रतिबन्धक विषयों के संस्कार से क्रोध का उदय हो जाता है । यह संस्कार दुःखानुशयी है । दुःख-मिश्रित मानसक्षोभ ही क्रोध है । जो काम अनुकूल संयोगभाव में राग का उत्तेजक बना हुआ था, वही काम प्रतिकूल संयोगभाव में क्रोध का जनक बन बैठता है ।

प्रकारान्तर से काम-क्रोध के स्वरूप का विचार कीजिए। "**काममयेऽभीप्सितविषये अन्याक्रमणाभावनिश्चयेन तत्प्राप्तौ प्रवृत्तस्य मनसो निश्चितव्यापारप्रभावेण प्राप्तफलसम्बधेनोत्पन्ना शारीर क्षोभशान्तिः कामः**"–इस लक्षण के अनुसार काममय मन काममय अभिलषित फल के सम्बन्ध में जब यह निश्चित कर लेता है कि मेरे इस काम में किसी प्रतिबन्धक का सम्बन्ध नहीं है तो ऐसे अवसर पर वह अपनी कामवृत्ति की उस अभिलषित फलप्राप्ति के लिए निश्चितरूप से प्रयत्नशील बन जाता है। इस व्यापार से अभिलषित फल मिल जाता है। इस फल की आगति से शरीराग्नि में रहने वाला आशामय क्षोभ शान्त हो जाता है। सुखानुशयिकसंस्कारात्मिका इसी शान्तिवृत्ति का नाम काम है। ठीक इसके विपरीतदशा में क्रोध का उदय है। मान लीजिए, आप किसी वस्तु की कामना करते हैं। एक दूसरा व्यक्ति भी उसी वस्तु की कामना कर रहा है। दोनों के कामों का (इच्छाओं का) अधिकरण समान है। इस कामसामानाधिकरण्य से आपको उस कामविषयीभूत फलप्राप्ति में सन्देह हो जाता है। "शायद मिल भी जाए–न भी मिले" इसी का नाम संशयवाद है। **स्याद्वाद** ही संशयवाद है। इस प्रतिबन्धक की कृपा से मन एक प्रकार से निराश सा हो जाता है। फल इसका यह होता है कि शरीर का अग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। आशा से क्षुब्ध शरीराग्नि निराशामुख बन कर और भी अधिक क्षुब्ध हो जाता है। इस अग्निक्षोभ का ही नाम क्रोध है। ऐसी स्थिति में क्रोध के हम "**कामसमानाधिकरणः कामः क्रोधः**"–"**अभीप्सितविषयेऽन्याक्रमणशङ्कायां तदप्राप्तिसम्भावनायां शारीराग्नावुत्पन्नः क्षोभः, अशान्तिर्वा क्रोधः**"–यह लक्षण कर सकते हैं। अग्निक्षोभ ही शुक् का मूल बनता हुआ शोक की प्रतिष्ठा है। "काम क्रोध का जनक है, इसका "कामप्रतिबन्ध क्रोध का जनक है"–यही अर्थ समझना चाहिए–"**कामप्रतिबन्धकत्वं क्रोधजनकत्वम्**"। इस प्रकार काम की कृपा से ही आगे जा कर क्रोधसंस्कार का उदय हो जाता है। काम में कोई प्रतिबन्धक न आया, काम बन गया। इस कामपूर्त्तिदशा में भी समय-समय पर क्षोभलक्षण क्रोध का उदय हुआ करता है। आई हुई वस्तु एक दिन जाएगी, एक दिन क्या जाएगी, आज भी उसे दूसरा ले जा सकता है। काममय एक वस्तु आपने घर में रख रक्खी है। अब यदि कोई उसे छू लेता है, देखने लगता है तो उसी समय शरीर उबल पड़ता है। "हमारे काम की चीज के तुमने हाथ क्यों लगाया, क्यों देखा, क्यों इधर-उधर किया"–यह क्रोधमूलक उद्‌गार प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार कामसंस्कार को खरीदने वाला मन एक प्रकार से साथ-साथ क्रोधसंस्कार भी सदा के लिए खरीद लेता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं–"**कामात् क्रोधोऽभिजायते**"।

॥ ३ ॥

—०—

४–क्रोधाद् भवति संमोहः।

पूर्व के–"**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार के साथ "**मोह**" का स्वरूप बतलाया जा चुका है, अतः यहाँ पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता नहीं है। मन की जो वृत्ति बुद्धि को सारासारविवेकभाव से गिरा देती है, उसी वृत्ति का नाम "**मोह**" है। मोह ही यहाँ "**संमोह**" नाम से सम्बोधित हुआ है। मोह की प्रबलता से मन भी आवृत होता हुआ अपना स्वरूप खो देता है,

मनोयुक्ता अतएव मन के मोह से कलिला, विषयानुगता ऐसी अपेक्षाबुद्धि भी अपना स्वरूप खो बैठती है। मन-बुद्धि का विवेक नष्ट हो जाता है। दोनों मिल कर एक वृत्ति में तल्लीन हो जाते हैं। मोह में मन बुद्धि का एकीकरण ही संमोह है। "सम्" शब्द एकीभाव का ही सूचक है। ऐसा संमोह क्रोध से ही उत्पन्न होता है। सचमुच क्रोध के आवेश में न हमारी बुद्धि ठिकाने ठहरती, न मन वश में रहता। कुछ का कुछ कर बैठते हैं, कुछ का कुछ समझ लेते हैं। कर्त्तव्यविवेक से सर्वात्मना वञ्चित होते हुए अकर्त्तव्य कर्म्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।

कामात्मक संस्कार, क्रोधात्मक संस्कार दोनों की आवासभूमि उक्थात्मक सङ्गसंस्कार ही बनता है। उसी सङ्ग की कृपा से कामसंस्कार का उदय होता है, उसी सङ्ग की कृपा से कामप्रतिबन्धात्मक काम द्वारा क्रोधसंस्कार का उदय होता है। दोनों का धरातल एक है। परन्तु समान धरातल पर प्रतिष्ठित दोनों ही संस्कार परस्पर में सर्वथा विजातीय हैं। एक सुखानुशयी है, दूसरा दुःखानुशयी है। एक अनुकूलरागमूलक है, दूसरा प्रतिकूलरागमूलक है। काम से उक्थसंस्कार में-आशामयफलप्राप्तिरूप कामसंस्कार प्रतिष्ठित है, कामप्रतिबन्धकात्मक काम से उसी उक्थसंस्कार में निराशामय फलाप्राप्तिरूप क्रोधसंस्कार प्रतिष्ठित है। जिस घर के मनुष्यों का स्वभाव समान होता है, उस घर में भी शान्ति रहती है एवं घर में रहने वाले उन समानशीलव्यसनी व्यक्तियों में भी परस्पर में शान्ति रहती है। परन्तु जिस घर के मनुष्यों का स्वभाव परस्पर में नहीं मिलता, वह घर भी अशान्त रहता है, साथ ही में विरुद्ध स्वभावानुगामी उन व्यक्तियों में भी संघर्ष होता रहता है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। उक्थसंस्कारावच्छिन्न प्रज्ञानमन एक घर है। जब तक इसमें कामात्मक समानजातीय संस्कार निवास करते हैं, तब तक गृहरूप स्वयं प्रज्ञान भी शान्त रहता है एवं प्रज्ञानमूर्ति सङ्गात्मक उक्त संस्काररूप गृह में प्रतिष्ठित सङ्गसमानजातीय कामसंस्कार भी परस्पर में मिलजुल कर रहते हैं। यदि विजातीय क्रोध संस्कारों का इन कामसंस्कारों में आगमन हो जाता है तो दोनों लड़ पड़ते हैं। दोनों में संघर्ष हो जाता है। एक तो स्वयं क्रोधसंस्कार ही क्षोभमय था। दूसरे इसकी उस कामसंस्कार से और भिड़न्त हो गई, **"गिलोय और नीम चढी"** किंवदन्ती चरितार्थ हो गई। क्षोभ पराकष्ठा पर जा पहुँचा। क्रोधागमन से क्षुब्ध शरीराग्नि विजातीयसंस्कारद्वयसंघर्ष से क्षोभ की चरम सीमा पर जा पहुँचा। बस, विरुद्ध संस्कारद्वयप्रत्याघात से उत्पन्न इस आत्यन्तिक क्षोभ का ही नाम संमोह है। यद्यपि कामक्रोध दोनों संस्कारों के संघर्ष से उत्पन्न होने वाले आत्यन्तिक क्षोभलक्षण इस संमोह के लिए-**"कामात्-क्रोधाद् भवति संमोहः"**-यह कहना चाहिए था, परन्तु संमोह का मूल कारण तो क्रोध ही बनता है। न क्रोध आता, न दोनों संस्कारों में कभी मुठभेड होती, न संमोह उत्पन्न होता। अनर्थ की जड़ तो क्रोधसंस्कार ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने-**"क्रोधाद् भवति संमोहः"**-यही कहना उचित समझा है।

पाठकों को उन असुरों की कथा याद होगी, जो आपस में लड़ कर नष्ट हो गए थे। वही दशा यहाँ होती है। कामसंस्कार क्रोधसंस्कार की सत्ता नहीं देख सकता, क्रोधसंस्कार कामसंस्कार की सत्ता नहीं देख सकता। एक गरम है, दूसरा ठण्डा है। गर्मी में सर्दी नहीं रह सकती, सर्दी में गर्मी नहीं रह सकती। या तो दोनों में से एक रहेगा अथवा दोनों ही मर जाएँगे, फलतः किसी तीसरे स्वरूप का उदय होगा। जिस प्रकार शान्त शुक्र, एवं उग्रशोणित का द्वन्द्वभाव दोनों के स्वरूपनाश का कारण बनता

हुआ प्रजारूप अपूर्वभाव की उत्पत्ति का कारण बन जाता है, ठीक इसी प्रकार शान्त कामसंस्कार, उग्र-क्रोधसंस्कार का द्वन्द्वभाव दोनों के स्वरूपोपमर्द का कारण बनता हुआ संमोहरूप अपूर्व संस्कार की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। अनुभव कीजिए इस परिस्थिति का। आपने किसी वस्तु की कामना की। कामनाकाल में ही कामनाविषयीभूत विषय का संस्कार मन पर चढ गया। यही कामसंस्कार कहलाया। अभी यह संस्कारचिति दृढ भी नहीं हुई थी कि उसी वस्तु की कामना रखने वाले दूसरे व्यक्ति के आक्रमण का आपको पता लग गया। इससे आशामय फलसंस्कार का प्रतिद्वन्द्वी निराशामय फलाभावरूप संस्कार भी उत्पन्न हो गया। यही क्रोधसंस्कार भी कहलाया। अभी क्रोध का उदय कि वा आगमन हुआ ही है। अभी दोनों में संघर्ष नहीं हुआ है। क्रोध की इस आरम्भदशा में (जब तक कि काम एवं क्रोध में संघर्ष उत्पन्न नहीं होता) हमारा मन और बुद्धि दोनों ही आंशिक रूप से सम्भले हुए रहते हैं। इस अवसर में बुद्धिसहकृत मन क्रोध रहते भी फलाशा की आशा से कुछ न कुछ प्रयत्न करता रहता है। गुस्सा आता रहता है, मन काम करता रहता है। परन्तु क्रोध का वेग जब बढ जाता है तो दोनों संस्कार टकरा जाते हैं। इस स्थिति में मन, बुद्धि दोनों अपना काम छोड़ बैठते हैं। रहा सहा उद्योग भी नष्ट हो जाता है। यही अवस्था मन-बुद्धि का संमोह है। न बुद्धि ठिकाने है, न मन ठिकाने है। जो अवस्था स्वप्नावस्था में मन की रहती है, वही अवस्था मोहमलिन मन एवं मोहकलिला बुद्धि की रहती है। इसी आधार पर–"**मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः**"–यह कहा जाता है। देखता हुआ भी नहीं देखता, करता हुआ भी नहीं करता, समझता हुआ भी नहीं समझता। इस कुंठित वृत्ति का नाम संमोह है। इस प्रकार उक्त स्थिति के आधार पर संमोह का–"**उक्थात्मके सङ्कल्पे सञ्चितसंस्कारधरातले प्रतिष्ठितानां, परस्परात्यन्तविरुद्धानां सुखानुशयिकरागात्मकानां कामसंस्काराणां, दुःखानुशयिकद्वेषात्मकानां क्रोधसंस्काराणां च विजातीयतया अन्योऽन्यप्रत्याघातादुपमर्दनोत्पन्नो बुद्धिमनसोः कुण्ठितभावप्रवर्त्तकोऽपूर्वसंस्कारविशेषः संमोहः**"–यह लक्षण किया जा सकता है। इसी आधार पर–"**सङ्कल्पात्मकसंस्कारसहयोगनित्यौ हीमौ संस्कारौ भवतः। तयोर्विरुद्धसंयोगः संमोहं जनयति। अन्योऽन्यप्रत्याघातात् संस्काराणामुपमर्दः संमोहः**"–यह कहा जाता है। इसी सारी प्राकृतिक परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"क्रोधाद् भवति संमोहः"।

॥ ४ ॥

—०—

५–संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।

संमोह के अव्यवहितोत्तरकाल में ही स्मृतिविभ्रम हो जाता है। स्मरणशक्ति लुप्त हो जाती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि मन में उक्थरूप से सञ्चित संस्कार ही तत्तत्संस्कारसम्बन्धी तत्तद्विषय सम्बन्धिनी स्मृति (स्मरण) के उदय के कारण बनते हैं। स्मृति के जनक संस्कार ही हैं। आज हमने कोई वस्तु देखी। मन पर उसका संस्कार हो गया। यह संस्कारावच्छिन्न ज्ञान ही "**ब्रह्म**" नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार विषय के देखने से संस्कार का उदय होता है, एवमेव शब्द सुनने से भी नवीन संस्कार उत्पन्न हो जाता है। घट-शब्द सुनते ही मन घटाकाररूपसंस्कार से युक्त हो जाता है। इस प्रकार विष-

यदर्शनवत् शब्दश्रवण भी संस्कार-ज्ञान का जनक बन जाता है। विषयावच्छिन्न सांस्कारिक ज्ञान जैसे ब्रह्म कहलाता है, एवमेव शब्दावच्छिन्न सांस्कारिक ज्ञान को विज्ञानभाषा में **"वेद"** कहा जाता है। विषय और शब्द से जो प्राथमिक संस्कार अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन पर प्रतिष्ठित होता है, वह बुद्धि के चिरकालिकत्व से कालान्तर में दृढमूल बन जाता है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। विषय-शब्द द्वारा आगत, बुद्धि की कृपा से दृढ़मूल बना हुआ यह संस्कारपुञ्ज ही दार्शनिक भाषा में **"अनुभवाहित संस्कारजन्यज्ञान"** नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी को विज्ञान भाषा में **"विद्या"** कहा जाता है। विद्यात्मक संस्कार स्थिर संस्कार है, उक्थरूप है। जो अनुध्यान नहीं कर सकता उसका देखना-सुनना व्यर्थ चला जाता है। उसके लिए–**"अजी ! उसने तो केवल पोथी पढी है, शब्द सुना है, विद्या नहीं पढी है"**–यह कहा जाता है। शब्दात्मक किं वा शब्दजनित, विषयात्मक किं वा विषयजनित प्राथमिक संस्कार चितिमर्य्यादा से बहिर्भूत रहते हुए विद्यामर्य्यादा से बाहर है। पढना-लिखना प्राथमिक संस्कार है। गुणना चितिसंस्कार है, यही विद्यासंस्कार है। देखो, सुनो, मनन करो मनन द्वारा उस श्रुतविषय को दृढमूल बनाओ। इस निदिध्यासन से विद्यारूप उक्थसंस्कार का उदय होगा–**"आत्माऽरे वायं द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"**। कहना यही है कि दर्शनश्रवणादिरूप ज्ञानीय संस्कार ही कालान्तर में उक्थ बन जाता है। यही उक्थसंस्कार समय-समय पर स्मृतिज्ञान को उदित करता रहता है। याददाश्त ही स्मृतिज्ञान है। याददाश्त की मूलभित्ति वह संस्कारपुञ्ज ही है। संस्कार सिलसिलेवार मन में प्रतिष्ठित रहते हैं। इनका कामनानुसार उदय हुआ करता है। इसी संस्कारधरातल पर हमने काम-क्रोध संस्कारों का संघर्ष बतलाया है। जिस प्रकार दो पहलवानों की कुश्ती से वहाँ की भूमि अस्त-व्यस्त हो जाती है, ठीक इसी तरह काम-क्रोध के संघर्ष से इनका प्रतिष्ठाभूमिरूप संस्कारधरातल अस्त-व्यस्त हो जाता है। यही व्यस्तता संमोह है। इस याथार्थ्यविच्छेद से इन्हीं के आधार से विकसित होने वाला स्मृतिज्ञान उच्छिन्न हो जाता है। क्रोध से मोह हुआ, मोह से संस्कारों के उपमर्दनपूर्वकस्मृतिविभ्रम हुआ। सचमुच क्रोध की निःसीमावस्थारूप संमोहदशा में हम सब कुछ भूल जाते हैं। काम-क्रोध के संघर्ष से इस प्रकार हम अपनी कमाई और खो बैठते हैं। इसी आधार पर अभियुक्त कहते हैं—

"संस्कारस्वरूपयाथार्थ्यविच्छेदात् संस्कारोपजनितं स्मृतिज्ञानं विभ्रंशते"। इसी आधार पर हम स्मृतिविभ्रम का–**"काम-क्रोधजनितसंघर्षद्वारकेण संमोहेन संचितसंस्काराणामुपमर्दात्तेषामस्तव्यस्ततया तदाधारकज्ञानोच्छेदो स्मृतिविभ्रमः"**–यह लक्षण कर सकते हैं। इस प्रकार संमोह की कृपा से हमारी अध्यात्मसंस्था अपना आपा भूलती हुई विनाश के और भी अधिक समीप पहुँच जाती है। सङ्ग काम, क्रोध,-ये तीन तो विनाश के पूर्वरूप हैं, संमोह विनाश का प्रधान सूचक है एवं स्मृतिविभ्रम विनाशकर्म्म का आरम्भ है। संमोह एक प्रकार का चित्तक्षोभ है। चित्तक्षोभ ही चित्त की अस्थिरता है। यही अस्थिरता उन संचित संस्कारों को विचलित बनाती हुई स्मृतिज्ञान को अवरुद्ध करने का कारण बनती है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"संमोहात् स्मृतिविभ्रमः"।

॥ ५ ॥

६—स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।

स्मृति का स्व-स्वरूप से च्युत हो जाना ही बुद्धिनाश है । भगवान् ने स्मृति की स्वरूपविच्युति बतलाई है । स्मृति का नाश नहीं बतलाया है । कारण इसका यही है कि स्मृति संस्कारमूला है । संस्कार के नष्ट होने पर ही स्मृति का नाश सम्भव है । संमोह से संस्कार की नियतधारा अस्त-व्यस्त हो जाती है । इस व्यस्तता से संस्कारसम्बन्धिनी स्मृति भी अस्त-व्यस्त हो जाती है । याद करना चाहते हैं कुछ, दूसरी ही बात याद आ जाती है । वख्त पर काम की बातें तो याद आती नहीं, और-और ख़याल दौड़ा करते हैं । यही स्मृति का विभ्रमभाव है । स्मृतिज्ञान मन पर प्रतिष्ठित है । संस्कारज्ञान ही तो स्मृति का जनक है । जब संस्कार मन पर प्रतिष्ठित हैं तो तत्सम्बन्धी स्मृतिज्ञान की प्रतिष्ठा भी मन ही कहा जाएगा । मनन-स्मरण मन के व्यापार हैं । संमोह से संस्कार विचलित हुए । संस्कारों के विचलित होते ही तन्मय स्मृतिज्ञान विचलित हुआ । यही प्रज्ञान की प्रज्ञा की अस्थिरता है । इसके अस्थिर होते ही मन से संलग्ना बुद्धि चञ्चल बनती हुई अपना प्रातिस्विक व्यवसायधर्म्म छोड़ बैठती है । यही बुद्धि का नाश है ।

प्रकारान्तर से बुद्धिनाश का विचार कीजिए । स्मृतिज्ञान ही विज्ञानवृद्धि का कारण है एवं संस्कारवृद्धि ही स्मृतिज्ञानवृद्धि का कारण है । पूर्वकथनानुसार दृष्टि-श्रुति से मन पर भावनावासनात्मक ज्ञानकर्म्मजनित संस्कारों का उदय होता है । जो जितना अधिक देखता है, जितना अधिक सुनता है, उतने ही अधिक संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसे बहुश्रुत, बहुदर्शी विद्वान् को ही "संस्कारी" जीव कहा जाता है । जिस का मन संस्कारों से शून्य है, वह यथाजात एक असंस्कृत पशु से अधिक मूल्य नहीं रखता । वह अपने कोई संस्कार नहीं रखता, अपितु, दूसरों के संस्कारों के आश्रय से इस मूढ की जीवनयात्रा का निर्वाह होता है । मन ऋतप्रधान होने से अपना कोई स्वतन्त्र आकार किं वा आयतन नहीं रखता । जैसा कि उपदेशारम्भ में सूर्य्यचन्द्र का स्वरूप बतलाते हुए विस्तार से कहा जा चुका है । मन में जैसे, जितने संस्कार आएँगे, वह वैसा, उतना ही बन जाएगा । जिसमें संस्कार जितने कम होंगे, उसका मन उतना ही छोटा रहेगा । संस्कारों की अल्पता ही मन की अल्पता का कारण है एवं संस्कारों का बहुत्व ही मन के भूमा-भाव का कारण है । अल्पता दुःख की जननी है किं वा अल्पता स्वयं दुखरूपा है एवं भूमा-भाव सुख का जनक है किं वा भूमा स्वयं ही सुखरूप है । "नाल्पे सुखमस्ति" । एक बच्चे में संस्कारों का प्रायः अभाव सा रहता है अतएव उसका आशय बहुत छोटा रहता है । संस्काराभावात्मिका इसी अल्पाशयता के कारण वह जरा-जरा सी बात पर रोने लगता है । किसी ने कह दिया कि अरे ! वह बन्दर आया, वह हौआ आया, बस, तत्काल बच्चा भयसंत्रस्त हो कर रोने लगेगा । परन्तु एक मनुष्य कभी इन बातों से नहीं डरता । परन्तु विद्यात्मक संस्कारों की दृष्टि से मूर्ख मनुष्य का मन भी एक बच्चे के मन से अधिक महत्व नहीं रखता अतएव जरा-जरा से शोक-हर्षाक्रमणों से वह रोने एवं हँसने लगता है । जरा आपत्ति आई, घबड़ा गए; थोड़ी सी सम्पत्ति मिली, खिल गए । अल्पाशयमना इन मूढ मनुष्यों में विवेकबुद्धि का सर्वथा अभाव रहता है । सदसद्विवेक करने में असमर्थ होने के कारण ही यह इस प्रकार के उच्चावच भावों में आन्दोलित रहते हैं । दिव्यसंस्कारों की अधिकता से भी मन का आशय

बढ़ता है एवं कुत्सित संस्कारों की अधिकता से भी मन का आशय बढ़ता है । जितने अधिक संस्कार होंगे मन का आयतन उतना ही बढ़ेगा । ऐसे व्यक्ति को ही "महाआशय" युक्त होने से "**महाशय**" कहा जाता है । लोकभाषा में इन्ही महाशयों के लिए–"**उदारमना है**" "**उदारहृदय है**"–"**दिल में जगह रखने वाले हैं**"–"**बडा पेट है**"–इत्यादि वाक्य प्रयुक्त होते हैं । मन पर ही तो बुद्धिरूप सूर्य्य प्रतिबिम्बित रहता है । बस, जिसका जितना बडा मन होगा, उसकी बुद्धि भी उतनी ही विशाल होगी एवं जिसमें अधिक संस्कार होंगे उसका मन उतना ही अधिक महाआशय युक्त रहेगा एवं जिसका जितना छोटा मन होगा, उसकी बुद्धि भी उतनी ही कुण्ठित रहेगी एवं जिसमें जितने कम संस्कार होंगे, उसका मन भी उतना ही अधिक छोटा रहेगा । हाँ, यह ध्यान अवश्य रखिए कि संस्कार अच्छे हों, या बुरे हों, मन महदाशय अवश्य बन जाएगा, तत्सम्बन्ध से बुद्धि भी अवश्य ही विशाल बन जाएगी परन्तु यद्विषयक संस्कार होंगे तद्विषयों में भी मन की महत्ता एवं बुद्धि की विशालता का उपयोग होगा । जिसने अपने जीवन में सिवाय चोरी, डाका, छल, धोखा आदि नृशंस ही कर्म्मों की आराधना की है, उसका मन और बुद्धि इन नृशंस कार्य्यों में ही अप्रतिहत रहेंगे । वह इन कामों का उस्ताद माना जाएगा, इन कर्म्मों का आप्त (पहुँचवान) पुरुष कहा जाएगा । इसी प्रकार जिसमें व्यावहारिक लौकिक कर्म्मों का संस्कार अधिक होगा, उसकी मन-बुद्धि इन्हीं में अन्वयर्थरूप से काम करेंगे ।

इस प्रकार व्यावहारिक कर्म्मसंस्कारबाहुल्य एवं नृशंसकर्म्मसंस्कारबाहुल्य मन को महदाशय बनाते हुए यद्यपि अवश्य ही बुद्धि की विशालता के कारण बन जाएँगे, परन्तु ऐसी विशाल बुद्धि आत्म-दृष्टि से सर्वथा संकुचित कहलाएगी एवं ऐसा मन भी आत्मापेक्षया सर्वथा क्षुद्र ही कहलाएगा । ऐसी स्थिति में विशुद्ध व्यावहारिक संस्कारों को एवं विशुद्ध नृशंस कर्म्मसंस्कारों को हम आत्मदृष्टया, दूसरे शब्दों में गीतोक्त बुद्धियोगदृष्टया बुद्धिविकास के स्थान में बुद्धिनाश का ही कारण कहेंगे । यह ठीक है कि व्यावहारिक कर्म्मों में इन व्यावहारिकों की बुद्धि खूब काम करती है, उधर नृशंस कर्म्मों में दुराचा-रियों की बुद्धि का भी पर्य्याप्त प्रसार रहता है परन्तु सङ्गरूप आसक्ति के प्रभाव से कालान्तर में काम-क्रोध का उदय होते-होते संमोह अवस्था आ जाती है, संमोह से स्मृतिनाश हो जाता है । स्मृतिनाश से इनकी विशाल बुद्धि एक दिन सर्वथा विलीन हो जाती है । तीसरे अधिकारी वे हैं, जो कर्म्म तो बडे उत्तम एवं परलोकसम्बन्धी करते हैं, परन्तु फल की आसक्ति रखते हैं । ये ही व्यक्ति "**श्रुतिविप्रतिपन्न**" कहलाते हैं ।

कर्म्म शास्त्रीय है, संस्कार भी दिव्य उत्पन्न होते हैं, मन का आशय (दायरा) भी सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा बडा है, बुद्धि भी विशाल है । सब कुछ है, परन्तु फलाशा के कारण विशालता के साथ-साथ अल्पताप्रवर्त्तक सङ्ग, तन्मूलक काम, तन्मूलक क्रोध, तन्मूलक संमोह, तन्मूलक स्मृतिविभ्रम परम्परा से एक दिन बुद्धि का विकास सर्वात्मना दब जाता है । चौथे अधिकारी वे हैं, जो केवल ज्ञान का ही यशो-गान करते हुए संस्कारों से बचने के लिए कर्म्मपरित्यागलक्षण वृथाप्रयासरूप कर्म्म में ही रत रहने में आत्मा का कल्याण समझते हैं । शास्त्रीय कर्म्म छोड़ने से न इनमें पारलौकिक सुखसाधक संस्कार उत्पन्न होते, लौकिक कर्म्म छोड़ने से न इनमें ऐहलौकिक सुखसाधक संस्कार उत्पन्न होते, नृशंस कर्म्म छोड़ने से न इनमें आडम्बरजनित संस्कारों का उदय होता है । हाँ, व्यर्थप्रयासरूप अकर्म्मलक्षण कर्म्मासंग से एक

दिन बुद्धिनाश अवश्य हो जाता है। इन सभी अधिकारियों की दयनीदशा का–"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"–इत्यादि में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। उक्त चारों अधिकारियों के अतिरिक्त एक ऐसा दल है, जो अपने आपको भाग्य के भरोसे छोड़ कर सर्वथा कर्म्महीन बनता हुआ अकर्म्मरूप कर्म्मसंग का अनुगामी बन कर आरम्भ से ही बुद्धिनाश कराए बैठा रहता है। भगवत्प्रतिपादित नाशपरम्परा पाँचों पर सर्वात्मना चरितार्थ होती है। कारण पाँचों में ही **१–अकर्म्म कर्म्मरूपसंग, २–लौकिकफलमुखकर्म्मरूपसङ्ग, ३–नृशंसफलमुखकर्म्मरूपसंग, ४–शास्त्रीयफलमुखकर्म्मरूपसंग** एवं **५–अशास्त्रीय कर्म्मत्यागलक्षण व्यर्थकर्म्मरूपसङ्ग**–इस प्रकार सङ्ग का प्राधान्य है। जहाँ सङ्ग है, वहाँ काम है, जहाँ काम है, वहाँ क्रोध है, क्रोध है वहाँ संमोह है, वहाँ स्मृतिविभ्रम है। स्मृतिविभ्रम है, वहाँ बुद्धिनाश है, बुद्धिनाश में सर्वनाश है। इस प्रकार नाशमूलत्वेन पाँचों समानधर्म्मा हैं। हाँ, किसी का नाश आरम्भदशा में हो जाता है, किसी का चिरकाल में होता है। कुछ भी हो, इनका नाश प्रत्येक दशा में निश्चित है। गीताशास्त्र की यदि कोई विशेषता है तो यही कि वह इन पाँचों से अतिरिक्त एक अपूर्व छठा मार्ग हमारे सामने रखती है। जिन मनुष्यों ने केवल पाँच मार्गों का ही पता लगा रक्खा है, वे भले ही इन पाँचों में उत्तम-मध्यमादि कोटियों का सन्निवेश करते रहें, परन्तु गीता की दृष्टि से तो पाँचों ही मार्ग अधमकोटि में प्रविष्ट अतएव सर्वथा त्याज्य हैं—

सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में आधिकारिक श्रेणिविभाग-

१–सर्वोत्तमाधिकारिणः–श्रेष्ठतमाः—

कर्म्मसंस्कार सङ्ग का कारण है। सङ्ग परम्परया बुद्धिनाश का कारण बनता हुआ आत्मविनाश का कारण है, अतः परम, निःश्रेयसलक्षण शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग कर के सर्वकर्म्मत्यागलक्षण संन्यासनिष्ठा किं वा ज्ञानयोग में ही प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए।

—o—

२–उत्तमाधिकारिणः–श्रेष्ठाः—

शास्त्रादेश स्वयं भगवान् की वाणी है। जिन-जिन फलों के लिए शास्त्र में जिन-जिन कर्म्मों का विधान हुआ है, उन-उन आधिकारिक फलप्रद कर्म्मों को यावज्जीवन करते रहना ही आत्मा का परम अभ्युदय है। इन कर्म्मों से जीवनदशा में भले ही कष्ट उठाना पड़े, परन्तु मरे बाद स्वर्गफल मिलेगा। उस उत्तम फल को सामने रखते हुए इस जीवन में क्रियाविशेषबहुल अतएव क्लेशप्रद भी शास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए।

—o—

३–सामान्याधिकारिणः–साधारणाः—

सभी शास्त्र परोक्षविषय का निरूपण करने वाले हैं। स्वर्गफल मिलेगा अथवा नहीं-यह किसने देखा? शास्त्र उन विद्वानों की केवल विनोदसामग्री है। भला कौन बुद्धिमान् स्वर्ग-सुख की व्यर्थ लाल-

सा से ऐहलौकिक सुखसाधक लौकिक कर्म्मों को छोड़ देगा ? हाँ, समाजस्थितिरक्षा के लिए, दूसरे शब्दों में लोकसंग्रह के लिए सचाई, ईमानदारी आदि का पूर्ण ध्यान रखते हुए, प्राणिमात्र की हितकामना करते हुए हमें उन्नतिसाधक, इसी जीवन में सुख देने वाले सभी लौकिक कर्म्म करने चाहिए।

—o—

४–अधमाधिकारिणः–निकृष्टाः—

स्वर्ग-आत्मा-पाप-पुण्य-सत्य-मिथ्या- ये सब केवल आडम्बर हैं। शास्त्र भाण्ड-धूर्त्त-निशाचारों की स्वार्थलिप्सा के साधकमात्र हैं। हमें जैसे बने वैसे धनसंग्रह द्वारा आनन्द से जीवन व्यतीत करना चाहिए। चोरी, छल, डाका, बदमाशी सभी उपाय काम में लाने चाहिए। समाजव्यवस्था भी शास्त्रवत् एक कल्पना का ही साम्राज्य है। हम सुखी हैं तो सब सुखी हैं। हम दुःखी हैं तो सब दुःखी हैं। हमें अपनी चिन्ता करनी चाहिए। तदर्थ सभी कर्म्म करने चाहिए। समाज बिगड़े या सुधरे।

—o—

५–अनधिकारिणः–शून्याः—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका यों कहे सब के दाता राम॥

इस सूक्ति को अपना आराध्यदेव मानने वाले कर्म्मशून्य उन विशुद्ध भाग्यवादियों का कहना है कि भगवान् ने पेट दिया है तो वे ही इसे भरेंगे भी। हमें इसके लिए कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। सभी कर्म्म व्यर्थ है। चुपचाप पड़े रहना ही परमशान्ति है।

—o—

१–ज्ञानवादिनः—→ज्ञानिनः—→कर्म्मत्यागार्थव्यर्थकर्म्मणि प्रयत्नशीलाःसङ्गिनः।

२–शास्त्रीयकर्म्मवादिनः कर्म्मठाः—→काम्यकर्म्मणि रक्ताः कर्म्मसङ्गिनः।

३–समाजवादिनः—→लौकिकाः—→अविहिताप्रतिषिद्धे कर्म्मणि रक्ताः कर्म्मसङ्गिनः।

४–स्वार्थवादिनः—→नृशंसाः—→शास्त्रनिषिद्धकर्म्मणि रक्ताः कर्म्मसङ्गिनः।

५–भाग्यवादिनः—→परभाग्योपजीविन-—→अकर्म्मात्मिककर्म्मणि रक्ताः कर्म्मसङ्गिनः।

सर्व एवैते-गीतादृष्टया अधमाः–शून्याः

इन पाँचों अधिकारियों में भाग्यवादी और ज्ञानवादी एकदशा में हैं। उपनिषद् ने तो भाग्यवादी अविद्याग्रस्त की अपेक्षा भी उस विद्या (ज्ञान) वादी को निकृष्ट बतलाया है। देखिए, श्रुति क्या कहती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।[1]

बात यथार्थ है । यद्यपि भाग्यवादी कोई कर्म्म नहीं करता, परन्तु भाग्य से प्राप्त सम्पत्ति का तिरस्कार भी तो नहीं करता । इस दृष्टि से यह उस ज्ञानवादी की अपेक्षा अवश्य ही सुखी कहलाएगा, जो सब कुछ छोड कर इन्द्रिय-मन की हत्या कर सर्वथा जड़ बन जाता है । अविद्या कर्म्म है । यह चार भागों में विभक्त है । चारों ही किसी न किसी रूप से अविद्याकर्म्म में रत रहते हुए अन्धकार में हैं । परन्तु कर्म्मत्यागाभिमानी, गीता के शब्दों में वह मिथ्याचारी केवल विद्याभिमानी ज्ञानी तो और भी गहरे अन्धकार में निविष्ट है । कारण, वहाँ जीवनयात्रा का भी अवरोध है । अपि च-कर्म्म में तो फिर भी सरलता से सुधार किया जा सकता है । परन्तु ज्ञान (समझ) का सुधार असम्भव है । समझ बदल देना असाध्यसा काम है । इस दृष्टि से भी वे ज्ञानी भूयान्धकार में निविष्ट कहे जा सकते हैं ।

उक्त अधिकारीभेद के संगभाव को लक्ष्य में रखते हुए प्रकृत गीता-श्लोकों की संगति लगाइए । देखें, आपकी बुद्धि किस निश्चय पर पहुँचती है ? पूर्वोक्त संस्कारों की अल्पता एवं भूमभावत्वप्रतिपादन से पाठकों को यह तो भलीभांति विदित हो गया होगा कि बुद्धि किं वा विज्ञान की अल्पता एवं आधिक्य, अल्प-अधिक संस्कारोपजनित अल्प-अधिक स्मृतिज्ञान पर ही निर्भर है । स्मृति ही अनुभवजनितज्ञान को दृढ बनाती है । जो जितना अधिक अनुभव रखता है, उसका विज्ञान उतना ही अधिक विकसित होता है । अनुभव स्मरण है । यह मन का व्यापार है । स्मरण ही, दार्शनिक भाषानुसार स्मरणशक्ति किं वा स्मृति ही विज्ञानस्वरूप को सुरक्षित रखती है । याददाश्त ही बुद्धिरूप महदुक्थ को आप्यायित करने वाली अशिति है । बुद्धि का बुद्धित्व (बुद्धिपना) स्मृति पर ही निर्भर है । भूलना मन का स्वभाव है, याद रखना बुद्धिस्वभाव है । बुद्धिमान् की ही याददाश्त अच्छी रहती है । जिसकी याददाश्त अच्छी है, वही संस्कार पकड़ सकता है । वे ही संस्कार याददास्त को सुरक्षित रखते हैं । इस प्रकार बुद्धि-संस्कार-स्मृति तीनों एक दूसरे के उपकार्य-उपकार बने रहते हैं । जब यदि स्मृति का विभ्रम है तो जो पहले के संस्कार थे उनके तो पहले से ही अस्तव्यस्त हो जाने से बुद्धि का उपकार सम्भव नहीं । आगे आने वाले संस्कार स्मृतिविभ्रम से अवरुद्ध हो गए । सञ्चित सम्पत्ति किसी काम की न रही । काम की इसलिए न रही कि सञ्चित सम्पत्ति मोह से चलित हो गई । स्थिरबुद्धि के लिए चल-सम्पत्ति उसकी स्वरूपरक्षा के स्थान में उलटी विघातक है । सम्पत्ति का आगमन रुक गया । इन दोनों अशितियों से वञ्चित बुद्धि आज सचमुच अपना स्वरूप खो बैठी । यही स्मृतिविभ्रंश-मूलक बुद्धिनाश है ।

यह तो हुई वस्तुस्थिति । अब उन उक्त पाँचों अधिकारियों में से ज्ञानयोगियों पर दृष्टि डालनी चाहिए, जो कि ज्ञानयोगी संस्कारों के भय से कर्म्मपरित्याग को उपादेय समझने का मिथ्या अभिमान करते हैं । यह तो सर्वात्मना सिद्ध विषय है कि बिना स्मृति के बुद्धि सुरक्षित नहीं रह सकती, बिना

१ ईशोप० ६ ।

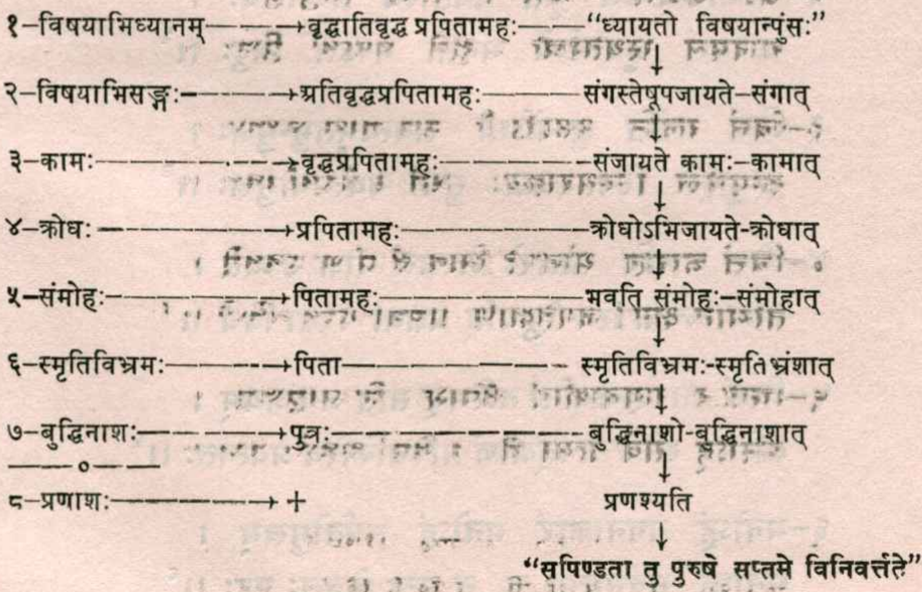
संस्कार के स्मृति का उदय नहीं हो सकता एवं विना कर्म्म के संस्कारों की मन पर चिति नहीं हो सकती। कर्म्म हों तब संस्कार उत्पन्न हों। संस्कार रहें, तब स्मृति का उदय हो, स्मृति हो तब बुद्धि की रक्षा हो। बुद्धि सुरक्षित रहे, तब आत्मप्रसाद हो। इस प्रकार परम्परया कर्म्मग्रहण किं वा कर्म्मप्रवृत्ति को ही आत्मप्रसादलक्षण पराशान्ति का कारण मान रहे हैं। यदि कर्म्मत्याग को भगवान् उपादेय समझते तो "स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः–बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"–यह कथन ही व्यर्थ हो जाता। भगवान् चाहते हैं-हम कर्म्म करें, उनसे संस्कार हो, उनसे स्मृति का उदय हो, स्मृति से बुद्धिरक्षा हो, बुद्धिप्रसाद से आत्मप्रसाद हो। सच पूँछा जाए तो भगवान् ने "कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"–की तरह प्रकृत उपदेश से भी उन ज्ञानवादियों का आमूलचूड़ खण्डन ही किया है।

कदाचित् भगवान् से यह प्रश्न किया जाए कि संस्कारदशा में तो संस्कारसम्बन्ध से बुद्धि मलिन हो जाएगी। संग हो जाएगा। इस के उत्तर में भगवान् यही कहेंगे कि न कर्म्म आसक्तिरूप संग का कारण है, न संस्कार संग के कारण हैं, न संस्कारोपजनित स्मृति संग का कारण है, न स्मृतिमूला बुद्धिसंग का कारण है। अपि तु, बुद्धि के अपेक्षाभाव से मन के द्वारा आए हुए संस्कारों के साथ मन का ग्रन्थिबन्धन हो जाना ही संग है। उपेक्षाबुद्धिपूर्वककर्म्म करो। संस्कार होगा, स्मृति भी रहेगी, बुद्धि का विकास भी होगा, परन्तु ग्रन्थिबन्धन रूप संग न होगा। रहता हुआ भी उक्थरूप संग कामरूप अर्कप्रसार में असमर्थ रहेगा। कामभाव में क्रोध को अवसर न मिलेगा। क्रोधाभाव में संमोह पलायित रहेगा। संमोहाभाव में स्मृति सुरक्षित रहेगी। स्मृतिरक्षा में बुद्धि प्रसन्न रहेगी। बुद्धिप्रसाद से आत्मा सदा प्रसन्न रहेगी। यही तो बुद्धियोगनिष्ठा है। सब कुछ किया, सब कुछ पाया, फिर भी निर्लेप, असंग।

कदाचित् आप पुनः प्रश्न करें कि उपेक्षाभाव में तो कर्म्म में प्रवृत्ति ही न होगी। अपेक्षा रहेगी तो अनुध्यानलक्षण संग होगा? इसके समाधान के लिए–"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते" में बतलाई गई उत्थिताकांक्षा उत्थाप्याकांक्षा की ही शरण में जाना पड़ेगा। बुद्धि मन की दास जब तक रहती है तब तक आत्मकामना मनोमयी बन कर बन्धन का कारण बन जाती है। इसी को उत्थिताकांक्षा किं वा मन की इच्छा कहा गया है। इस अवसर में बुद्धि मन के अनुगत है। यही बुद्धि का अपेक्षाभाव है। विषयदृष्टया अवश्य ही मनोऽनुगामिनी बुद्धि अपेक्षाबुद्धि है, परन्तु आत्मदृष्ट्या यही उपेक्षाबुद्धि कही जाएगी। यदि मन बुद्धि का दास बन जाता है तो बुद्धि स्वतन्त्र बनती हुई मन की उत्थाप्याकांक्षा की ओर से उदासीन बनती हुई आत्मा की उत्थिताकांक्षा (आत्मकामना) की ओर झुक जाती है। विषयदृष्ट्या आत्मानुगामिनी बुद्धि अवश्य ही उपेक्षाबुद्धि है, परन्तु आत्मदृष्ट्या यह अपेक्षाबुद्धि ही कही जाएगी। इस परिस्थिति से हम इस निश्चय पर पहुँचे कि–आत्मकामानुयायिनी आत्मापेक्षया अपेक्षाभावमयी किन्तु मानसकामना की अपेक्षा उपक्षाभावमयी बुद्धि की छत्रछाया में रह कर मन आत्मा कामनापूर्वक जो कर्म्म करेगा वे संस्काराधायक बनते हुए भी असंग आत्माकामना के प्रभाव से मन को बन्धनरूपसंग में न डाल सकेंगे। ठीक इसके विपरीत मानसकामानुयायिनी, विषयापेक्षया अपेक्षाभावमयी किन्तु आत्मकामना की अपेक्षामयी बनी हुई बुद्धि मन की छत्रछाया में आ कर जब अपना स्वातन्त्र्य खो देती है तो उस समय मन की सोममयी कामना उस बुद्धिस्थिरता को ले कर अनुध्यानरूप चिरकालिकत्व

से संस्कारों को मन के साथ बद्ध कर देती है। यही बन्धन-मुक्ति का मौलिक रहस्य है। आधिकारिक कर्म्मों का आत्मकामना से ही सम्बन्ध है। विवेकाभाव से इन्हें जो मन की कामना से रंग देता है, वही बन्धनरूप आसक्ति में पड़ता हुआ आठवीं पीढी में नष्ट हो जाता है। विवेकाभाव फलाशा की प्रवृत्ति का मूल कारण है। फलाशा आसक्ति की जननी है। आसक्ति ही मूलबीज है। इसे काट दो तो सम्भूति है, इसे प्ररोहित कर दो तो विनाश है।

एक चमत्कार और देखिए। १–ध्यान, २–संग, ३–काम, ४–क्रोध, ५–संमोह, ६–स्मृतिविभ्रम, ७–बुद्धिनाश– इस प्रकार नाश से पहले भगवान् ने सात पर्व माने हैं। इसमें भी कुछ रहस्य है। मन श्रद्धासूत्रमय है। इस श्रद्धासूत्र का शुक्रपिण्ड द्वारा सात श्रेणियों में गमन होता है, जैसा कि–**"साषिण्ड्यं साप्तपोरुषम्" "सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते"**–इत्यादि से स्पष्ट है। आठवीं सन्तान उत्पन्न होने पर पहली श्रेणि की मुक्ति होती है। दूसरे शब्दों में वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रनामक सातवीं सन्तान के जब पुत्र उत्पन्न होता है तब वृद्धातिवृद्धप्रपितामह नामक पहले एवं विपरीतक्रम् से सातवें प्रेतात्मा की मुक्ति होती है। वही क्रम यहाँ समझिए। यदि श्रद्धामयमनोराज्य का प्राबल्य है तो उसी सप्तपर्वा श्रद्धासूत्र की कृपा से पाप्माओं की परम्परा सात श्रेणियों में विभक्त होती है। सप्तमश्रेणिरूप बुद्धिनाश के अनन्तर जब आठवाँ आत्मविनाश हो जाता है, तब उस प्रथम पाप्मा की विनिवृत्ति होती है। वह नाश कर के ही उपरत होता है।



॥ ६ ॥

—o—

उपदेशनिष्कर्षः—

भगवान् ने पूर्वोपदेश से जिस स्थितप्रज्ञतालक्षण बुद्धियोगनिष्ठा का स्वरूप बतलाया है, उसके सम्बन्ध में यह जिज्ञासा उपस्थित हो सकती है कि स्थितप्रज्ञतालक्षण बुद्धियोग किन दोषों से बिगड़ जाता है अथवा किन दोषों के आगमन से स्वाभाविक बुद्धियोग का प्रतिबन्धन हो जाता है ? दूसरे शब्दों में बुद्धियोग के विघातक प्रतिबन्धक धर्म्म कौन से हैं ? प्रकृत के छठे उपदेश से भगवान् ने उन्हीं दोषों का उल्लेख किया है । इस दोषोल्लेखन पर उपदेश का निष्कर्ष यही है कि हमें फलाशा छोड़ कर आसक्ति रहित हो कर ही कर्म्म करने चाहिए । संग ही बुद्धियोग का प्रधान शत्रु है । संग में प्रज्ञा स्वतन्त्र है, बुद्धि परतन्त्र है, यही प्रणाश है । अनासक्ति में बुद्धि स्वतन्त्र है, प्रज्ञा परतन्त्र है, यही आत्मप्रसाद है । "प्रज्ञापारतन्त्र्ये सर्वोद्धारः"–"प्रज्ञास्वातन्त्र्ये सर्वनाशः"–ये दो ही सूत्र प्रकृत उपदेश के निष्कर्ष हैं । मन को स्थिर बनाते हुए कर्म्म करो, यही विदेहमुक्ति है । निम्नलिखित उपनिषत्श्रुति उक्त गीतोपनिषत्श्रुति तात्पर्य्य का ही समर्थन कर रही है—

१–भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत् ॥[1]

२–आकाशमण्डलं वृत्तं देवतास्य सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥[2]

३–विषं वर्षति सूर्य्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥[3]

४–चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते ।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे ॥[4]

५–चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥[5]

६–मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥[6]

---

१ ध्यानबिन्दूप० ४० । २ योगशिख उप० १।१७८ । ३ योगशिख उप० ५।३३ ।
४ योगशिख उप० ६।५८ । ५ योगशिख उप० ६।५६ । ६ योगशिख उप० ६।६० ।

७–मनः कर्म्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।
मनश्चेदुन्मनीभूयान्न पुण्यं न च पातकम् ।।[1]

८–मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ।।[1]

९–मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ।।[1]

।। इति द्वितीयायामुपनिषदि षष्ठोपदेशः ।।

६

———

१ योगशिख उप० ६।६१-६२ व ७३ ।

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषदि

७-रागद्वेषजनितवासनामयकषायनाशे बुद्धिप्रसादाद्
विप्रलबुद्धिलक्षणस्य बुद्धियोगस्य ब्राह्मीस्थितिहेतुत्वम् ।

७

द्वितीयायामुपनिषदि--

सप्तमोपदेशः

७–रागद्वेषजनितवासनामयकषायनाशे बुद्धिप्रसाद् विमलबुद्धिलक्षणस्य बुद्धियोगस्य ब्राह्मीस्थितिहेतुत्वम् ।

१–रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता २।६४)

२–प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ (गीता २।६५)

३–नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतःसुखम् ॥ (गीता २।६६)

४–इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ (गीता २।६७)

५–तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (गीता २।६८)

६–या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गीता २।६९)

७–आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
(गीता २।७०)

८–विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्म्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। (गीता २।७१)

९–एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। (गीता २।७२)

[मूलानुवाद] "रागद्वेष से सर्वथा रहित (बन कर) इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियभोगों में विचरता हुआ उन आत्मवशवर्त्ती (महापुरुषों से उनका) विधेयआत्मा प्रसादभाव को प्राप्त होता है । आत्मप्रसाद होने पर सम्पूर्ण दुःख सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। (आत्मप्रसादपूर्विका सर्वदुःखनिवृत्ति से) प्रसन्न बने हुए चित्त (से युक्तपुरुष) की बुद्धि तत्काल स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है । योग (बुद्धियोग) से वञ्चित मनुष्य की बुद्धि (बुद्धि ही) नहीं हैं । अयुक्त की कोई भावना (मानसविचार) नहीं है, अभावनायुक्त को कोई शान्ति नहीं है । ऐसे अशान्त को सुख कहाँ से मिल सकता है ? इन्द्रियों की वृत्तियों के प्रसार में जो मन नियुक्त कर दिया जाता है, वह (चञ्चल मन) उसी प्रकार (अपनी उस स्थिर) प्रज्ञा के नाश का कारण बन जाता है, जैसे कि समुद्र में स्थिरभाव से जाने वाली नौका वायु के आघात से डगमगा जाती है । इसलिए हे महाबाहो ! जिस (बुद्धियोगनिष्ठ) योगी की इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थों के सम्बन्ध में चारों ओर से संयत हैं, उसी की प्रज्ञा स्थिर है । सम्पूर्ण संसारी मनुष्यों की दृष्टि में जो रात है, उसी में संयमी जागते रहते हैं । जिस में संसारी जागते रहते हैं, परीक्षादृष्टि रखने वाले मुनि के लिए वही रात है । ऊपर तक जल से परिपूर्ण, अतएव सर्वथा स्थिरसमुद्र में जिस प्रकार पानी के स्रोत प्रवेश करते रहते हैं, उसी प्रकार जिस (शान्त-पुरुष) में कामनाएँ प्रवेश करती रहती हैं, वही शान्ति को प्राप्त होता है, काम-कामी नहीं । जो पुरुष सब कामनाओं का परित्याग करके निःस्पृह, निर्म्मम, निरहंकार बन कर विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है । हे पार्थ ! यह ब्राह्मीस्थिति है । इसे प्राप्त हो कर मोह नहीं करता है । इस में अन्तकाल में भी प्रतिष्ठित हो कर ब्रह्मनिर्वाण (परामुक्ति) भाव को प्राप्त हो जाता है ।

[भाष्य] स्थितप्रज्ञता के मार्ग में आरुढ युञ्जान योगी को मत्परतापूर्वक इन्द्रियसंयम करते हुए निराहार वृत्ति से संचितरस को हटाने का प्रयास करना चाहिए, तभी कालान्तर में स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो सकती है–यह पूर्व के पाँचवें उपदेश में बतलाया गया । इस स्थितप्रज्ञता के आधार पर ही बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होती है । स्थितप्रज्ञता का उच्छेद करते हुए परम्परया बुद्धियोगनिष्ठा पर आक्रमण करने वाले बुद्धियोग के प्रतिबन्धक धर्म्म संग-काम-क्रोध-संमोह-स्मृतिविभ्रम हैं । छठे प्रकरण में इनका स्पष्टीकरण करते हुए संकेतविधया इनसे बचने का आदेश दिया । योगारुढ व्यक्ति जब तक इन दोषों को नहीं हटा देगा, तब तक उसका योग सफल न होगा । यदि उक्त प्रकार से रागद्वेषादिपरित्यागपूर्वक युञ्जान-योगी अपने अभ्यास-मार्ग पर आरुढ रहा तो कालान्तर में इसे ब्राह्मीस्थितिलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाएगी । इस सातवें उपदेश से यही वक्तव्य है । इस उपदेश का एकमात्र विधेयात्मा के साथ सम्बन्ध

है। जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट हो जाएगा। उक्त स्थितप्रज्ञता के अभ्यास से क्या होगा? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

१–रागद्वेषवियुक्तैस्तु०—

पाठकों को यह विदित है कि गीताशास्त्र चतुर्विध बुद्धियोग का निरूपण करता है। इन चारों बुद्धियोगों का क्रमशः १–**रागद्वेष**, २ **मोह**, ३–**अस्मिता**, ४–**अभिनिवेश** इन चार क्लेशों के परित्याग से सम्बन्ध है। चारों बुद्धियोग क्रमशः **वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग** नामों से व्यवहृत हुए हैं। स्थितप्रज्ञता की दृष्टि से यद्यपि चारों ही समान हैं। चारों में से किसी एक की भी सिद्धि से प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। प्रज्ञा के स्थिर हो जाने पर ब्राह्मीस्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु भावुकता केवल वैराग्यबुद्धियोग में ही है। संसार के साथ पूर्ण सहयोग रखते हुए, व्यावहारिक लोकसंग्राहक कर्म्मों में सतत प्रवृत्त रहते हुए प्रसादभावपूर्वक निर्लेप बने रहना ही भावुकता है। इसी भावुकता के कारण यह बुद्धियोग चारों में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वज्येष्ठ माना गया है, अतएव भगवान् ने "**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः**"–इत्यादि रूप से इस योग में अपनी पूर्णनिष्ठा प्रकट की है, जैसा कि आगे की तृतीय उपनिषत् के ७वें उपदेश में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पाठकों को यह भी विदित है कि आरम्भ की ६ अध्यायों में राजर्षिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोगलक्षण योग का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है। इसीलिए इन ६ अध्यायों में भगवान् की प्रधानदृष्टि राग-द्वेषपरित्याग पर ही रही है। क्यों कि राग-द्वेष के परित्याग से ही वैराग्यलक्षण भग-भाव का उदय होता है, तभी अनासक्ति रूप बुद्धियोग का उदय होता है। वैराग्यबुद्धियोगसम्बन्धिनी भावुकता का स्पष्टीकरण करने के लिए ही भगवान् ने स्थान-स्थान पर कामासक्तिपरित्याग पर जितना जोर दिया है, उससे अधिक बल कर्म्मप्रवृत्ति में लगाया है। प्रकृत श्लोक भी इसी भावुकता का स्पष्टीकरण कर रहा है। भगवान् कहते हैं—रागद्वेष का परित्याग करो, इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त रहने दो। रागद्वेषपरित्याग से कर्म्मात्मा तुम्हारी बुद्धि के वश में आ जाएगा। फलतः बुद्धियुक्त कर्म्मात्मा पर इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले संस्कारों का लेप न होगा। कर्म्मात्मा अपने प्रातिस्विक स्वरूप से सर्वथा प्रसन्न रहेगा। रागद्वेषपरित्याग से आत्मा को अपने वश में रख कर संसार के सब कर्म्म करते जाओ, न कभी बन्धन होगा, न क्षोभ होगा। सदा प्रसन्न बने रहेंगे।

भगवान् कहते हैं, ऐसे योगियों का विधेयात्मा सदा प्रसन्न रहता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् ने किस आत्मा को "विधेयात्मा" नाम से सम्बोधित किया है? व्याख्याता लोग तो इस सम्बन्ध में हमें कुण्ठित ही प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में तो आत्मा एक भानुमती का पिटारा बन रहा है। वहाँ तो–**अन्धेर नगरी अबूझ राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा**"–वाली किंवदन्ती सर्वात्मना चरितार्थ हो रही है। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र दृष्टि से हमें "**विधेयात्मा**" का विचार करना पड़ेगा। विश्व के मनुष्यों को योग्यता की अपेक्षा से हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं एवं साथ ही में उन तीनों श्रेणियों को **१–कृतात्मा, २–विधेयात्मा, ३–अकृतात्मा** क्रमशः–इन नामों से सम्बोधित कर सकते हैं। इनमें अकृतात्मा ५ भागों में विभक्त हैं। इस प्रकार आत्मसम्बन्ध में मनुष्यसमाज के ७ विभाग हो जाते हैं। यद्यपि पूर्व

प्रकरणों में प्रकारान्तर से इन छहों का ही दिग्दर्शन करा दिया गया है, परन्तु प्रकरणसंगति के लिए प्रकृत में भी इनका संक्षिप्त स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। **स्थूलारुन्धतीन्याय के अनुसार** पहले स्थूलतम अकृतात्मविभाग को ही लीजिए —

१–अकृतात्मानो मनुष्याः–अधमाधिकारिणः–"अनधिकारिणः"–"नष्टाः"

१–अकृतात्मवर्ग–अकर्म्मण्या मनुष्याः–"शून्याः"

मनुष्यों का एक दल ऐसा है, जो जन्म से निधनपर्य्यन्त सर्वथा आलसी ही बना रहता है। ऐसे व्यक्ति का गर्भ में आगमन ही संसार की अशान्ति का सूचक है। निद्रा-आलस्य-कलह–ये तीन ही देवता इस वर्ग के प्रधान उपास्य बने रहते हैं। काम के नाम से इन दूरदर्शियों का आत्मा कम्पित हो जाता है। इनका आत्मा तम से आत्यन्तिक अभिभूत रहता है। जड़-चेतन दोनों में कोई अन्तर नहीं हैं। राग-द्वेष जनित कषाय बढ़ते-बढ़ते चरम सीमा पर पहुँच गया है। इसलिए इनको राग-द्वेष का भी अनुभव नहीं होता। जो स्थिति ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचे हुए एक बुद्धियोगी की है, ठीक वही स्थिति इनकी रहती है। मोहात्मक सुख इनकी आश्रयभूमि है। क्या हो रहा है, क्या होगा, क्या करे, क्या खाय ? इन सब धर्म्मों से ये अतीत बन जाते हैं। "बडे मजे में हैं, कैसे, किस की तरह ? एक गर्दभ की तरह। गर्दभ के लिए पावसऋतु जितनी सुखप्रद है, ग्रीष्मऋतु कहीं इससे अधिक सुखप्रद है। इन्हें कोई गाली दे तो ठीक, शाबासी दे तो ठीक। जब इन्हें कुछ करना ही नहीं हैं, तो फिर उद्वेग कैसा ? इनके आत्मा का विकास इतना दब गया है कि उस में सत्-असत्-विवेक का बोध करने की शक्ति ही नहीं है। कैसा सुन्दर पथ है ? इस पथ और उस बुद्धियोगपथ की काकुभाव से समानता बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः ।
द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

वस्तुतः अकृतात्मा तो मूढतम कर्म्मशून्यों को ही कहना चाहिए। यही अकृतात्मवर्ग का पहला विभाग है।

॥ १ ॥

—*—

२–अकृतात्मवर्ग दुराचारिणो मनुष्याः–"कर्म्मसङ्गिनः"

एक दल ऐसा है जो कर्म्म में प्रवृत्त रहता है। परन्तु कर्म्म का उद्देश्य है–शरीरयात्रा का निर्वाह करना। कोई नष्ट हो, कोई बचे, कोई रुग्ण हो, किसी का अनिष्ट हो–इन सब बातों से इन का कोई प्रयोजन नहीं। शास्त्र-परलोक-आत्मा-स्वर्ग-नरक आदि का कोई महत्त्व नहीं। मारो-लूटो-चोरी करो जैसे

बने तैसे सुख से जीवित रहो। आराम से जिन्दगी बिताओ। अपनी इसी मृगतृष्णा को शान्त करने के लिए ये सज्जन अहोरात्र कुछ न कुछ उत्पात मचाते रहते हैं। आलस्य का नाम भी नहीं है। खूब कर्म्म करते हैं। इसी कर्म्म की कृपा से इनका आत्मज्ञान प्रकाशित भी रहता है, परन्तु उसका उपयोग भुक्ति-भाव में ही होता है। कुत्सित कर्म्मासंग से आत्मप्रकाश के आगे मलिन आवरण आ जाता है। फलतः उस आत्मप्रकाश को मलिन बन कर मलिन कर्म्मों में प्रवृत्त होना पड़ता है। यही कर्म्मसंग इनके नाश का कारण है। यही मलिनता इन्हें चैन नहीं लेने देती। अच्छी बात इन्हें कण्टक प्रतीत होती है। शास्त्रमार्ग से सर्वथा च्युत इन दुराचारियों को यदि कोई कुछ उपदेश देता है तो यह उसकी मखौल उडाते हैं। यही दूसरा विभाग है।

॥ २ ॥

—*—

३–अकृतात्मवर्गे व्यवहारिणो मनुष्याः–"कर्म्मसङ्गिनः"

तीसरा विभाग सभ्यता से सम्बन्ध रखता है। आज तो प्रायः यही सभ्यसमाज सर्वनाश का कारण बन रहा है। "शास्त्र समयानुसार बदलते रहते हैं। शास्त्र किसी अलौकिकतत्त्व का निरूपण नहीं करते, वे केवल समाजनीति का प्रतिपादन करते हैं। ईश्वर ने हमें बुद्धि दी है। हम अपना हानि-लाभ स्वयं समझते हैं।" इस प्रकार के उद्गार प्रकट करते हुए, कर्म्मवाद की घोषणा करते हुए, कर्म्म में ऐच्छिक धरातल बनाते हुए अवनति की ओर अग्रेसर होते रहते हैं। कर्म्म करना चाहिए, कर्म्मठ बनो, यह कहते हुए कल्पित कर्म्ममार्ग का आश्रय लेना इनका मुख्य कर्म्म है। लोक-संग्रह करते जाओ, संगठन रखखो, सच बोलो, अहिंसा रखखो, इस प्रकार के उदात्तसिद्धान्त की घोषणा करते रहना, साथ ही में इन सिद्धान्तों का स्वरूप अपनी कल्पनाओं के आधार पर बनाते रहना ही इनके कर्म्म की इतिश्री है। कर्म्म-रहस्य से लेशमात्र भी परिचय न रखने वाले ये दम्भी स्वयं भी व्यर्थ के कर्म्मों में आरूढ़ रहते हैं एवं दूसरों को भी लक्ष्यच्युत करते रहते हैं। भला, एक अन्धा दूसरे अन्धे को क्या रास्ता बतला सकता है? इसी भाव का बडे सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत्श्रुति कहती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥[1]

स्वार्थावसरों पर शास्त्रीय आदेशों की अवहेलना करना जहाँ इन सभ्यनामधारियों का मुख्य उद्देश्य है, वहाँ शास्त्रनिष्ठों से प्रतिद्वन्द्विता करने में भी ये पीछे नहीं हटते। शास्त्रज्ञान से सर्वथा शून्य ये अभिमानी शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। "हम तय्यार हैं, हमें कोई बतलादे कि शास्त्रों में अन्त्यज-

---

१ कठोप० १।२।५।

स्पर्श का, विधवा विवाह का निषेध लिखा है"–ऐसे अनधिकृत वाक्यों का नि.संकोच प्रयोग करने में भी ये लज्जा का अनुभव नहीं करते। अपनी यथार्थनिन्दा को भी ये सज्जन "अजी कर्म्मठ पर ऐसी आपत्तियाँ आया ही करती हैं"–ऐसे समाधानों से अबोध भक्तमण्डली की आँखों में धूल झोंका करते हैं। गीताशास्त्र पर इन महानुभावों की बडी निष्ठा है। सतत गीता के कर्म्मवाद का यशोगान किया करते हैं। गीता पर टीका लिखने का भी साहस करते हैं। फिर भले ही इन्हें गीता के एक अक्षर का भी बोध न हो। इस प्रकार कहीं शास्त्र में भक्ति, कहीं शास्त्र की निन्दा, कहीं फल में आसक्ति, कहीं उदासीनता, कहीं परमार्थ, कहीं आत्यन्तिक स्वार्थ आदि झञ्झावतों से संत्रस्त बने हुए, भोगैश्वर्य्यों से सर्वथा वञ्चित ये कामकामी इधर-उधर भटकते हुए लीलासंवरण करते रहते हैं। जिन दो दलों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वे तो फिर भी थोड़े प्रयास से ठीक रास्ते पर आ सकते हैं। कारण उनमें अभिनिवेश नहीं रहता। परन्तु इस तीसरे अभिनिविष्ट दल की चिकित्सा करना कठिन है। जिसे ज्ञान का अभिमान हो जाता है, जो यह समझ लेता है कि हम ठीक समझते हैं, सचमुच वह अचिकित्स्य है। ज्ञानलवदुर्विदग्धों को शास्त्र ने भी अचिकित्स्य ही माना है। यही अकृतात्माओं का तीसरा वर्ग है। यही देशसमृद्धिनाश का मुख्य कारण बन रहा है।

॥ ३ ॥

——०——

४–अकृतात्मवर्गे पारलौकिका मनुष्याः–"कर्म्मसङ्गिनः"

एक दल ऐसा भी है, जो शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखता है। कालपुरुष प्रदत्तसुविधानुसार शास्त्रीय कर्म्मों के अनुष्ठान में भी प्रवृत्त रहता है। पञ्चयज्ञ, बलिवैश्वदेव, स्नान, सन्ध्या, ऋषि-पितृतर्पण, श्राद्ध, प्रतिमापूजन आदि शास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है। उपवास करता है, दान देता है, धर्म्मशालाएँ बनवाता है, चारों धामों की यात्रा करता है, विद्यादान करता है, नामसंकीर्त्तन में रति प्रकट करता है, पाप से डरता है, ब्राह्मणों को पूज्य समझता है। अथ से इति तक सनातन धर्म्म का बाना पहने रहता है। नास्तिकों को गालियाँ दिया करता है। उपदेशकों से धर्म्म प्रचार करवाता है। शास्त्रानुसार जो कुछ करना चाहिए, वह सब कुछ करता है। परन्तु सब कर्म्मों के मूल धरातल में **फलैषणा** प्रतिष्ठित रखता है। फलकामना से ही यह शास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है। ऐहलौकिक मान-यश-कीर्त्ति, पारलौकिक स्वर्गादि फलों को आधार मान कर ही यह आगे बढ़ता है। यह फलकामना ही आसक्ति की जननी बनती हुई आगे जा कर इसके सर्वनाश का कारण बन बैठती है। ऐसे ही दल को भगवान् ने **"वेदवादरताः"** कहा है। फलकामासक्तिप्रवृत्तिमयशास्त्रीय कर्म्म कभी बुद्धियोगनिष्ठा के उत्तेजक नहीं बन सकते। आत्म प्रसाद इस मार्ग में भी सर्वथा असंभव है। कारण, यहाँ वैयक्तिक स्वार्थ का समावेश रहता है। ऐसे व्यक्ति की परमार्थलक्षण लोकसंग्रह पर दृष्टि नहीं रहती। यही अकृतात्मवर्ग का चौथा विभाग है। यही प्राचीनों की आसक्तिमूला कर्म्मनिष्ठा है।

॥ ४ ॥

——०——

५-अकृतात्मवर्गे कर्म्मत्यागिनो मनुष्याः-अकर्म्मसंगिनः

एक दल ऐसा भी है जो अपने आपको कहने भर के लिए वीतराग बनाए हुए है। भारतवर्ष में ऐसे संन्यासियों की आज कमी नहीं है, जो संसार को सर्वथा मिथ्या बतलाते हैं। कपड़े रंगे रहते हैं। जटी बने रहते हैं। शास्त्रीय कर्म्मों को बंधन का कारण बतलाते हैं। धूनी रमते हैं। इस दल की भी समाज पर कम कृपा नहीं है। भारतवर्ष का गरीब समाज इन्हें भोजन देता है, लाखों की सम्पत्ति धर्म्मप्रचारार्थ इनके चरणों में अर्पित करता है। परन्तु ये वीतराग अपने प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि के बल से क्षणमात्र में सबको भस्मसात् कर देते हैं। ना-ना करने पर भी भक्त लोग इन्हें मक्खन मिश्री खिलाए बिना नहीं मानते। अफीम के ठेकेदार स्वयं चिलम भर कर इन्हें पीने के लिए विवश कर देते हैं। ये तो समद्रष्टा हैं ही। इन्हें सभी का अनुरोध रखना पड़ता है। परन्तु हैं निर्लेप। कभी कर्म्म मार्ग में प्रवृत्त न होंगे। देश पर यदि कोई आपत्ति आएगी तो समाधि चढ़ा लेंगे। कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास ही तो इनका लक्ष्य है। ये कर्म्म में संग नहीं करते, अकर्म्म में संग करते हैं। यही अकृतात्मवर्ग का निकृष्टतम पाँचवां विभाग है। यही प्राचीनों की सांख्यनिष्ठा है।

॥ ५ ॥

—०—

आलस्यवश कुछ न करना भी आत्मस्वरूप की विकृति है। निरालस बन कर शास्त्रनिषिद्ध कर्म्म करना भी आत्मविकृति है। लौकिक यथेच्छ कर्म्म करना भी आत्मविकृति है। फलमुख बन कर शास्त्रीय कर्म्म करना भी आत्मविकृति है एवं कर्म्मत्याग करके आत्मा के स्वरूप को काट देना तो महाविकृति है ही। पाँचों ही पक्षों में आत्मा अपने ज्ञान-कर्म्मस्वरूप से विकसित न होता हुआ **अकृतात्मा** ही बना रहता है। पाँचों में से पाँचवें में ज्ञानवृद्धिलक्षण विषमता है। फलतः समत्वयोगानुयायिनी गीता की दृष्टि से पाँचों ही दल अकृतात्मकोटि में आते हुए योग के अनधिकारी बन जाते हैं। ऐसे अकृतात्मा विधेयभाव से वञ्चित रहते हुए कभी कृतात्मा नहीं बन सकते। इनके लिए तो गीता का-"**सर्वज्ञान विमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः**"-यही पुरस्कार है। पाँचों में पाँचवें कर्म्म के साथ द्वेष एवं ज्ञान के साथ राग करते हुए विधेयकोटि से गिर रहे हैं। प्रथमवर्ग रागद्वेष की आत्यन्तिक स्थिति रूप अज्ञानान्धकार से विधेय कोटि से वञ्चित हो रहे हैं एवं मध्य के तीनों ज्ञान से द्वेष, कर्म्म से राग करते हुए विधेय कोटि से दूर हट रहे हैं। इस प्रकार पाँचों ही-रागद्वेषयुक्त हो कर इन्द्रियद्वारा विषयों में प्रवृत्त रहते हुए आत्मावशवर्त्ती बनते हुए बुद्धियोगनिष्ठा से विमुख बन रहे हैं—

—ः ❀ ः—

१–१–ज्ञानिनः — ज्ञानसंगिनः]→सांख्यनिष्ठानुयायिनः

२–१–कर्म्मठाः — कर्म्मसंगिनः

१—३–२–कर्म्मठाः — कर्म्मसंगिनः } →कर्म्मनिष्ठानुयायिनः } →अकृतात्मानः

४–३–कर्म्मठाः — कर्म्मसंगिनः

५–१–अकर्मण्याः—अकर्म्मसंगिनः]→निष्ठाच्युताः

—०—

१–लोकदृष्टया सर्वोत्तमाधिकारिणः→श्रेष्ठतमा ज्ञानिनः

२–लोकदृष्टया उत्तमाधिकारिणः→श्रेष्ठाः कर्म्मठाः

२—३–लोकदृष्टया सामान्याधिकारिणः→साधारणाः कर्म्मठाः } →गीतादृष्टया अनधिकारिणः

४–लोकदृष्टया अनधिकारिणः→निकृष्टाः कर्म्मठाः		**सर्वज्ञानविमूढाः**

५–लोकदृष्टया अनधिकारिणः→शून्याः–नष्टाः

—०—

१–ज्ञानेऽसक्ताः, कर्मण्यसक्ताः, रागद्वेषपरायणाः

२–कर्म्मणि सक्ताः, ज्ञानेऽसक्ताः–रागद्वेषपरायणाः

३—३–कर्म्मणि सक्ताः, ज्ञानेऽसक्ताः–रागद्वेषपरायणाः } →अचेतसः

४–कर्म्मणि सक्ताः, ज्ञाने असक्ताः, रागद्वेषपरायणाः

५–उभयत्रासक्ताः अनासक्ताः रागद्वेषमूर्त्तयः

—०—

१–कर्म्मत्यागलक्षणे व्यर्थकर्म्मणि प्रवणाः→अलौकिकाः

२–शास्त्रीयकर्म्मणि–आसक्तिभावेन प्रवणाः→पारलौकिकाः

४—३–कल्पितकर्म्मणि–आसक्तिभावेन प्रवणाः→ऐहलौकिकाः } →सर्व एवैते नष्टाः

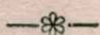
४–अशास्त्रीयनृशंसकर्म्मणि आ.भा. प्रवणाः→लोकविध्वंसिनः

५–परभाग्योपजीविनो ज्ञानकर्म्मशून्याः→लोकभारभूताः

—०—

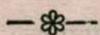
२–विधेयात्मानः

बुद्धियोगविधि से युक्त पुरुष ही **विधेयात्मा** कहलाता है। शास्त्र ने कर्म्म की जो विधियाँ बतलाई हैं, उन में रागद्वेषपरित्यागपूर्वक प्रवृत्त होने वाले पुरुष का आत्मा ही विधेय कहलाता है। उपासक को ही विधेयात्मा कहा जाता है। उपासना मध्य की वस्तु है। इसमें ज्ञान-कर्म्म दोनों का समन्वय है। यही समत्वयोग बुद्धियोग का प्रवर्त्तक माना गया है। कृतात्मा बनने से पहले विधेयात्मा बनना परम आवश्यक है। विधेयात्मा इन्द्रियसंयम द्वारा मत्पर रहता हुआ निराहार से कालान्तर में स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लेता है।



३–कृतात्मा

जो विधेयात्मा रागद्वेष छोड़ता हुआ इन्द्रियों से विषय-संग्रह में प्रवृत्त रहता हुआ निष्कामकर्म्म का अभ्यास करता रहता है, उसका यह विधेयभाव कालान्तर में "**कृत**" (सम्पन्न) बन जाता है। अभ्यास-द्वारा प्राप्त सिद्धावस्थापन्न वही विधेयात्मा कृतात्मा बन जाता है। यही इसकी कृतकृत्यावस्था है। यही युक्तयोगी है। यही यथार्थतत्त्वद्रष्टा है।



निष्कर्ष यह हुआ कि मनुष्यसमाज को स्थूलदृष्टि से **यथार्थद्रष्टा, यथार्थकर्त्ता, यथाजात** भेद से तीन भागों में विभक्त माना जा सकता है। सदसद्द्वन्द्व का साक्षात्कार करने वाला अतीतानागतज्ञबुद्धि-योगनिष्ठ सिद्धयुक्तयोगी ही यथार्थद्रष्टा है। इसे ही हम "**कृतात्मा**" कहते हैं। "**कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः**"–इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार ऐसे कृतकृत्य सिद्धयोगी के काम एकान्ततः विलीन हो जाते हैं। उसका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। "**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि**" इस सिद्धान्त के अनुसार वह केवल लोकसंग्रह के लिए वर्णानुसार अधिकृत कर्म्मों में मुक्तसंग बन कर प्रवृत्त रहता है। जिसने अभी तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है। अभी वह साक्षात्कृत बुद्धिनिष्ठों के द्वारा प्रदर्शित निष्काम कर्म्मों में प्रवृत्त है। यही इसका यथार्थ कर्म्मानुष्ठान है। इस अभ्यासावस्था में ही यह युञ्जानयोगी, आरुरुक्षु **विधेयात्मा** कहलाता है। अभी पर्य्याप्त काम बना नहीं है। बनने का अभ्यास कर रहा है। तीसरा दल ऐसा है, जो आत्मा का कोई कल्याण न करता हुआ केवल–"**जायस्व म्रियस्व**" के धारावाहिक चक्र में फँसा रहता है। जैसा उत्पन्न होता है, उसी अवस्था में मर जाता है, अतएव इसे **यथाजात, अकृतात्मा, सर्वज्ञानविमूढ, नष्ट**, आदि पवित्र शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। ये ही तीनों क्रमशः **मुक्त-भक्त-भुक्त** नामों से भी व्यवहृत किए जाते हैं। भुक्त का नाश है। भक्त मुक्त बनता हुआ अमृतभावापन्न है।

विशुद्धाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक आचार्य श्रीमद्वल्लभचरणों ने इन्हीं तीनों विभागों को क्रमशः **पुष्ट-मार्यादिक-प्रावाहिक** इन नामों से व्यवहृत किया है। "**भगवदनुग्रहः पोषः**" इस वाल्लभसिद्धान्त के

अनुसार भगवन्निष्ठालक्षणबुद्धियोग ही कर्म्मात्मा का 'पोष' से-**इस पोष से** कृतकृत्य आत्मा ही **"पुष्ट"** है। इस पोष की प्राप्ति के लिए जब तक भक्त 'भक्त' बना रहता है, शास्त्रसिद्ध कर्म्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहता है, तब तक वह **"मार्यादिक"** कहलाता है। यही विधेयावस्था है। ऐसे मार्यादिक भक्त पर पोषलक्षण भगवान् का अनुग्रह होता है। जो नराधम शास्त्रीय मार्ग की अवहेलना कर संसार-प्रवाह में पड़े रहते हैं, उन्हीं अकृतात्माओं को प्रावाहिक जीव कहा जाता है। पुष्टि के सम्बन्ध से ही उक्त सम्प्रदाय **"पुष्टिमार्ग"** नाम से प्रसिद्ध है। इसमें निष्कामबुद्धया लोकसंग्राहक सभी कर्म्मों का संग्रह है। संसार में रहते हुए संसार से वियुक्त रहना ही आचार्यचरण का मुख्य उद्देश्य है। यह बडे दुःख का विषय है कि रहस्यानभिज्ञ कतिपय इन्द्रियलोलुप साम्प्रदायिकाचार्यों की कृपा से आज यह परम वैदिक सम्प्रदाय कलङ्कित हो रहा है।

आत्मदृष्टि से इन्हीं तीनों विभागों को **मनोमय-प्राणमय-वाङ्मय** कहा जा सकता है। कृतात्मा मनःप्रधान हैं, विधेयात्मा प्राणप्रधान हैं एवं अकृतात्मा वाक्प्रधान, किं वा अर्थप्रधान हैं। एक अर्थ परायण हैं, दूसरे उपासनापरायण हैं। तीसरे बुद्धियोगपरायण है—

१–कृतात्मानः——→यथार्थद्रष्टारः-मुक्ताः–पुष्टाः–मनोमयाः–सिद्धयोगिनः।

२–विधेयात्मानः→यथार्थकर्त्तारः–भक्ताः–मार्यादिकाः–प्राणमयाः–युञ्जानयोगिनः।

३–अकृतात्मानः→यथाजाताः–मुक्ताः–प्रावाहिकाः–वाङ्मयाः–अयोगिनः।

—०—

यह तो हुई दार्शनिक मीमांसा। अब विज्ञानदृष्टि से तीनों आत्माधिकरणों का विचार कीजिए। आत्मा ज्ञान-कर्म्ममय है। ज्ञान को ही ब्रह्म कहा जाता है, जैसा कि–**"तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्"**–इत्यादि से सिद्ध है। कर्म्ममय यह ब्रह्म दो स्थानों में प्रतिष्ठित हो कर दो स्वरूप धारण कर लेता है। ब्रह्म (आत्मा) के वे ही दोनों रूप **प्रत्यग्ब्रह्म, पराग्ब्रह्म** नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रत्यग्ब्रह्म अन्तर्जगत् का अधिष्ठाता है, पराग्ब्रह्म बहिर्जगत् की मूल भित्ति है। प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञानमय है, पराग्ब्रह्म विज्ञानमय है। दोनों एक ही ब्रह्म के दो विवर्त्त हैं, जैसा कि–**"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"**–**"नित्यंविज्ञानमानन्दं ब्रह्म"**- इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। ज्ञान विज्ञान से युक्त रहता है, विज्ञान ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसी अविनाभाव के कारण ज्ञान भी आनन्द का कारण है एवं विज्ञान भी आनन्द का कारण है।

इन दोनों आनन्दों में अहोरात्र का अन्तर है। कारण इसका यही है कि अविनाभूत रहने पर भी ज्ञान-विज्ञान प्रत्यक्-पराग्भाव के कारण प्रतिद्वन्द्वी बन रहे हैं। अनेकत्वप्रतियोगिक, एकत्वानुयोगिक वही ज्ञान **ज्ञान** कहलाता है एवं एकत्वप्रतियोगिक, अनेकत्वानुयोगिक वही ज्ञान **विज्ञान** कहलाता है। विज्ञान शब्द के दो निर्वचन किए जा सकते हैं। **"विरुद्धं ज्ञानं विज्ञानम्"**-**"विविध ज्ञानं विज्ञानम्"** दोनों ही निर्वचन समीचीन हैं। भौतिक विषय जड़ बनते हुए आत्मज्ञान के विरोधी हैं। इन विरुद्ध भौतिक विषयों से ज्ञान का युक्त रहना ही इसका विरुद्धभाव है। इसीलिए इसे विज्ञान (विरुद्धविषयावच्छिन्न

अतएव स्वयमपि विरुद्ध बना हुआ ज्ञान) कहना अन्वर्थ बन जाता है । अपि च विषय नानाभावापन्न अनेक हैं । इन अनेक विषयों से युक्त रहता हुआ ज्ञान भी नानाभावों में परिणत हो जाता है । यही इस विज्ञान की विज्ञानता (विविध ज्ञानत्व) है । अस्तु, इन सब विषयों का–"**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः**" –इत्यादि प्रकरण में विस्तार से निरूपण होने वाला है, अतः प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञानमूर्त्ति है, पराग्ब्रह्म विज्ञानमूर्त्ति है । ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म शान्तानन्द का कारण है, विज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म समृद्धानन्द का कारण है । शान्तानन्द दुःखनाशलक्षण है, समृद्धानन्द सुखोपलब्धिलक्षण है । दुःखनाश आत्मप्रसाद का कारण है, सुखोपलब्धि आत्मभार का कारण है । जिस आनन्द का हम अनुभव करते हैं, वह समृद्धानन्द है । जिस आनन्द का अनुभव नहीं होता, वह शान्तानन्द है । शान्ति आत्मा का स्वरूपधर्म्म है । समृद्धि आगन्तुकधर्म्म है ।

शान्तानन्दघन प्रत्यग्ब्रह्म हृदय में प्रतिष्ठित है । समृद्धानन्दसंकुलित पराग्ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व है । इस छोर में ज्ञान है, उस छोर में विज्ञान है । इस छोर में आत्मा है, उस छोर में विश्व है । आत्मा अकृत है, विश्व कृत है । अकृत आत्मा कृत है, कृत विश्व अकृत है । "**नास्त्यकृतः कृतेन**"–इस सिद्धान्त के अनुसार कृतात्मक कृत विश्व कभी अकृतात्मक कृतात्मा की प्राप्ति का कारण नहीं बन सकता है । आत्मा को कोई बनाता नहीं, वह नित्य सिद्ध कूटस्थ पदार्थ है । इस दृष्टि से इसे "**अकृत**" कहना न्याय संगत होता है । साथ ही में इस अकृत आत्मा पर किसी संस्कार का प्रभाव नहीं होता । इसे संस्कृत करने की आवश्यकता नहीं होती । यह स्वयं संस्कृत है । बना बनाया है । इस दृष्टि से इस अकृत आत्मा को "**कृतात्मा**" कहना भी न्यायसंगत होता है । विश्व आत्मसापेक्ष है । आत्मा के काम-तपः-श्रम से विश्व उत्पन्न हुआ है । यह आत्मरचना है, आत्मा की कृति है, आत्मा से कृत (विरचित) है, इस दृष्टि से इसे "**कृत**" कहा जाता है । इस कृत विश्व की जड़ता नहीं हटाई जा सकती । इसका कृतभाव अकृत (असंपन्न) है । इस दृष्टि से इस कृत विश्व को अकृत भी कहा जा सकता है । आत्म-विश्व की अकृत-कृत रूप दोनों प्रथम दृष्टियों की अपेक्षा से ही–"**नास्त्यकृतः कृतेन**" इस श्रुति का समन्वय होता है ।

"**अमुक कर्म्म करो, अमुक कर्म्म मत करो**"–इत्यादि रूप विधि-निषेधों का अधिकारी न प्रत्यग् ब्रह्म (आत्मा) है, न पराग्ब्रह्म (विश्व) है । विशुद्ध आत्मा भी विधि-निषेध से शून्य है, विशुद्ध विश्व भी विधि-निषेध से शून्य है । विधि-निषेध का एकमात्र अधिकारी है–**भोक्तात्मा, कर्मात्मा, भूतात्मा** इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध "**देवसत्य**" । अग्निदेवप्रधान **वैश्वानर**, वायुदेव प्रधान **तैजस**, इन्द्रदेव प्रधान **प्राज्ञ** की समष्टि ही "**देवसत्यात्मा**" है । यही कर्म्मतन्त्रायी कर्म्मात्मा है । अच्छे-बुरे कर्म्म करना, उनके फल भोगना इसी का अन्यतम धर्म्म है । यही कर्म्मकर्त्ता है । मानस संकल्प-विकल्पों का एकमात्र यही अधिष्ठाता है । बुद्धि के सदसद्गुणों की यही अधिष्ठानभूमि है । यही स्वकर्म्म से कभी सुखी रहता है, कभी दुःखी रहता है । यही "**अहंकृशः-अहंपुष्टः**" इत्यादि अभिमान करता है । चूंकि शास्त्रोक्त विधि-निषेधों का अधिकरण एकमात्र यही देवसत्यात्मा है । यही विधि के योग्य है, विधि का अधिकारी है, अतः हम मध्यपतित इस कर्म्मात्मा को ही–'**विधेयात्मा**" कहेंगे । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

१-गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्म्मभिः ॥

२-अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥

३-संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्टयात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्म्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥

४-स्थलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥[1]

—०—

यह स्मरण रखिए कि गीता में जहाँ-जहाँ **"देही"** शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र वह एकमात्र इसी देवसत्यनामक कर्म्मात्मा का वाचक है। कारण, यही एकमात्र देहाभिमानी आत्मा है। इस प्रकार अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से हम इस सर्वप्रपञ्च को **प्रत्यग्ब्रह्म-कर्म्मात्मा-पराग्ब्रह्म** इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। कर्म्मात्मा के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर इन चार का सम्बन्ध और रहता है। इन चारों में से प्राकृतिकसंस्थाक्रमानुसार शरीर कर्म्मात्मा के इस ओर है एवं बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ उस ओर हैं, तीन-एक के बीच में त्रिकल कर्म्मात्मा है। इस आत्मा में सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों का सम्बन्ध रहता है। तीनों क्रमशः प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर भागों में प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीन कलाओं से यह त्रिगुण त्रिवर्त्मा बन जाता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इतने गहरे मत जाइए। अभी स्थूल दृष्टि से विचार कीजिए। ब्रह्म को हमने आत्मा कहा है एवं आत्मा का-**"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"**-यह लक्षण किया जाता है। प्रत्यक्-कर्म्मात्मा-पराक् भेद से इस त्रिकल आत्मा के तीन रूप हो जाते हैं। वाक्-प्राणगर्भित हृदयस्थ मनोमय, अतएव ज्ञानमय अव्ययप्रधान वही आत्मा प्रत्यग्ब्रह्म है, यही अध्यात्मसंस्था का **"ईश"** है। मनोवाग्गर्भित प्राणमय, अतएव क्रियामय अक्षर-प्रधान वही आत्मा कर्म्मात्मा है। यही **"जीव"** है। मनःप्राणगर्भित वाङ्मय, अतएव अर्थमय क्षरप्रधान वही आत्मा पराग्ब्रह्म है। यही विश्व है। यही भगवद्रामानुजाचार्य चरणों का ईश्वर-जीव-जगल्लक्षण विशिष्टाद्वैतवाद है। प्रत्यग्ब्रह्म **ज्ञानाधिपः** है, कर्म्मात्मा **प्राणाधिपः** है, पराग्ब्रह्म **अर्थाधिपः** है। तीनों में तीनों कलाएँ हैं, अतएव **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"**—कहना चरितार्थ होता है।

---

१ श्वेता० उप० ५।७-८,११-१२ ।

तीनों ही त्रिवृत् हैं, अतएव आगे जा कर तीनों के तीन-तीन रूप हो जाते हैं। प्रत्यग्ब्रह्म के तीनों रूप **आनन्द–चेतना–सत्ता** नाम से प्रसिद्ध हैं। आनन्द मनोमय है, चेतना प्राणमयी है, एवं सत्ता वाङ्मयी है। कर्म्मात्मा के तीनों रूप **प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर** नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राज्ञ मनोमय है, तैजस प्राणमय है, वैश्वानर वाङ्मय है। परागब्रह्म के तीनों रूप **आत्मा–पद–पुनःपद** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आत्मा मनोमय है। पद प्राणमय है एवं पुनःपद वाङ्मय है। प्रत्येक आत्मसंस्था के ऊपर अव्ययाक्षरात्मक्षरपुरुषों का अनुग्रह है, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट हो जाएगा। इन तीनों में से कर्म्मात्मा के अधिष्ठानों का विचार कीजिए। कर्म्मात्मा को भोग के लिए एवं कर्म्म करने के लिए इन्द्रिययुक्त मन एवं बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। शरीरायतन में प्रतिष्ठित कर्म्मात्मा का प्रेरक प्रज्ञान मन है। इस मन में भी त्रिकल आत्मा का क्रमशः **चित्–प्राण–सोम** इन तीनों के आधार पर उपभोग होता है। चिद्भाग मनोमय है, प्राणभाग प्राणमय है, सोमभाग वाङ्मय है। मनोमय चिद्भाग का कर्म्मात्मा के प्रज्ञाभाग पर, प्राणमय प्राणभाग का तैजसभाग पर, वाङ्मय सोमभाग का वैश्वानरभाग पर अनुग्रह रहता है। ये ही तीनों भाग इन्द्रियों में समझिए। प्रत्येक इन्द्रिय में प्रज्ञा-प्राण-भूत तीनों मात्राओं का समावेश रहता है। प्रज्ञाभाग मनोमय है, प्राणभाग प्राणमय है, भूतभाग वाङ्मय है। इसी प्रकार बुद्धि में भी तीन विभाग हैं। बुद्धिगत आयुभाग प्राणमय है, ज्योतिर्भाग प्राणमय है, गौभाग भूतमय है। इसी प्रकार शरीर में भी तीन विभाग हैं। स्थूलशरीर वाङ्मय है, सूक्ष्मशरीर प्राणमय है, कारणशरीर मनोमय है। कैसा समान एवं अद्भुतक्रम है ? महान् और अव्यक्त को हमने छोड दिया है। इन दोनों का प्रत्यग्ब्रह्म में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। यदि इनका भी पृथक् दृष्टि से विचार किया जाएगा तो वही क्रम उपलब्ध होगा। आकृतिमहान् वाङ्मय है। प्रकृतिमहान् प्राणमय है। अहंकृतिमहान् मनोमय है। इसी प्रकार वेदरूप अव्यक्त वाङ्मय है। सूत्ररूप अव्यक्त प्राणमय है। नियतिरूप अव्यक्त मनोमय है। १–प्रत्यक्, २–अव्यक्त, ३–महान्, ४–बुद्धि, ५–मन, ६–इन्द्रियाँ, ७–कर्म्मात्मा, ८–शरीर, ९–विश्व व्यष्टियाँ हैं। दसवां समष्टिरूप दशकल विराट् है। यह है–आध्यात्मिक प्रपञ्च का स्वाभाविक क्रम। इसमें प्रत्यक्-अव्यक्त-महान् इन तीनों की एक स्वतन्त्र ईशसंस्था है। बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ-कर्म्मात्मा-शरीर-इन पाँचों की समष्टि एक स्वतन्त्र संस्था है। नवीं विश्वसंस्था एक स्वतन्त्र संस्था है। निम्नलिखित क्रम से प्रत्येक तालिका का मनन कीजिए। तभी गीतार्थ का समन्वय हो सकेगा—

१–प्रत्यग्ब्रह्मपरिलेखः— (पुरुषात्मा–षोडशी)

१	१–आनन्दः (मनोमयः) ———→ज्ञानम् (अव्ययसंस्था)		
	२–चेतना (प्राणमयी) ———→क्रिया (अक्षरसंस्था)	}	→**प्रत्यग् ब्रह्म**
	३–सत्ता (वाङ्मयी) ———→अर्थः (आत्मक्षरसंस्था)		

—०—

२–अव्यक्तब्रह्मपरिलेखः–(प्राकृतात्मा-ब्रह्मसत्यः)

	१–नियतिः (मनोमयः)——→ज्ञानम् (अव्ययसंस्था)	
२	२–सूत्रम् (प्राणमयम्)——→क्रिया (अक्षरसंस्था)	→अव्यक्तं ब्रह्म
	३–वेदाः (वाङ्मयाः)——→अर्थः (आत्मक्षरसंस्था)	

—०—

३–महद्ब्रह्मपरिलेखः—(प्राकृतात्मा–ब्रह्मसत्यः)

	१–अहंकृतिमहान् (मनोमयः) ज्ञानम्–सत्त्वगुणमूर्त्तिः (अव्यय०)	
३	२–प्रकृतिमहान् (प्राणमयः) क्रिया–रजोगुणमूर्त्तिः (अक्षर०)	→महद् ब्रह्म
	३–आकृतिमहान् (वाङ्मयः) अर्थः-तमोगुणमूर्त्तिः (आत्मक्षर०)	

—०—

४–विज्ञान (बुद्धि) ब्रह्मपरिलेखः—(प्राकृतात्मा–ब्रह्मसत्यः)

	१–आयुः (मनोमयम्) ज्ञानम् (सत्त्वः)——अव्ययः	
४	२–ज्योतिः (प्राणमयम्) क्रिया (रजः)——अक्षरः	→विज्ञानं ब्रह्म
	३–गौः (वाङ्मयः) अर्थः (तमः)——क्षरः	

—०—

५–प्रज्ञानं (मनो) ब्रह्मपरिलेखः—(प्राकृतात्मा–ब्रह्मसत्यः)।

	१–चिदंशः (मनोमयः) ज्ञानम् (सत्त्वः)——अव्ययः	
५	२–प्राणः (प्राणमयः) क्रिया (रजः)——अक्षरः	→प्रज्ञानं ब्रह्म
	३–सोमः (वाङ्मयः) अर्थः (तमः)——क्षरः	

—०—

६–ऐन्द्रियक-(इन्द्रियाणि) ब्रह्मपरिलेखः—(प्राकृतात्मा–ब्रह्मसत्यः)

	१–प्रज्ञामात्राः (मनोमयः) ज्ञानम्–सत्त्वः——अव्ययः	
६	२–प्राणमात्राः (प्राणमय्यः) क्रिया–रजः——अक्षरः	→इन्द्रियं ब्रह्म
	३–भूतमात्राः (वाङ्मय्यः) अर्थः–तमः——क्षरः	

—०—

७–कर्म्मात्मब्रह्मपरिलेखः (वैकृतात्मा–देवसत्यः)

७
- १–प्राज्ञः (मनोमयः)–ज्ञानम्–सत्त्वः—— अव्ययः
- २–तैजसः (प्राणमय)–क्रिया–रजः—— अक्षरः
- ३–वैश्वानरः (वाङ्मयः)–अर्थः–तमः—— क्षरः

} →कर्म्मात्म ब्रह्म

—०—

८–शरीरात्मब्रह्मपरिलेखः (प्राकृतात्मा–ब्रह्मसत्यः)

८
- १–कारणशरीरम् (मनोमयम्)–ज्ञानम्—अव्ययः (सत्त्वः)
- २–सूक्ष्मशरीरम् (प्राणमयम्)–क्रिया—— अक्षरः (रजः)
- ३–स्थूलशरीरम् (वाङ्मयम्)–अर्थः—— क्षरः (तमः)

} →शरीरं ब्रह्म

—०—

९–विश्वब्रह्मपरिलेखः (प्राकृतात्मा–समष्टिः)

९
- १–आत्मा (मनोमयः) ज्ञानम् (सत्त्वः)——अव्ययः
- २–पदम् (प्राणमयम्) क्रिया (रजः)——अक्षरः
- ३–पुनःपदम् (वाङ्मयम्) अर्थः (तमः)——क्षरः

} →विश्वं ब्रह्म

—०—

प्राकृतिकपरिस्थितिप्रदर्शकःपरिलेखः—

- १–१–प्रत्यग् ब्रह्मषोडशी
- २–२–अव्यक्तं ब्रह्म
- ३–३–महद् ब्रह्म

} १ →प्रत्यग् ब्रह्म–कृतात्मा–अकृतः (ईश्वरः)

—०—

- ४–१–विज्ञानं ब्रह्म (बुद्धिः)
- ५–२–प्रज्ञानं ब्रह्म (मनः)
- ६–३–इन्द्रियं ब्रह्म
- ७–४–कर्म्मात्म ब्रह्म
- ८–५–शरीरं ब्रह्म

} २ →कर्म्मात्मा–विधेयात्मा (जीवः)

—०—

९-१-विश्वं ब्रह्म } →पराग्ब्रह्म-अकृतात्मा-कृतः (जगत्) [३]

—०—

१ प्रत्यग् ब्रह्म } →उपास्यः

—०—

१ विज्ञानं ब्रह्म
२ प्रज्ञानं ब्रह्म } →उपासनासहकारिणः
३ इन्द्रियं ब्रह्म

—०—

१ कर्म्मात्म ब्रह्म } →उपासकः

(उपास्यः, उपासनासहकारिणः, उपासकः) } →इति-अध्यात्मोपनिषत्

—०—

("कलासमानतासूचकः परिलेखः"-तालिका अगले पृष्ठ पर देखें ।)

पाठकों को यह विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए कि हमने पूर्व में जिस ईश का निरूपण किया है, उसका विश्वात्मा (विश्वव्यापक महामायी) ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपि तु, उस सर्वव्यापक ईश का (जो कि **चिदात्मा** नाम से प्रसिद्ध है) जो प्रत्यंश प्रवर्ग्य बन कर हमारी अध्यात्मसंस्था का सञ्चालक बनता है, वह हृदयस्थ **चिदंश** ही यहाँ ईश शब्द से गृहीत है । इसी को प्रत्यग्ब्रह्म कहा गया है । शरीर में रहता हुआ भी यह शरीराभिमान से शून्य है-जैसा कि निम्नलिखित गीता-सिद्धान्त से स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।[1]

---

१ गीता १३।३१-३२ ।

कलासमानतासूचकः परिलेखः—

ब्रह्मँ वेदं सर्वम्—			
१–प्रत्यग्ब्रह्म	→१–आनन्दः	२–चेतना	३–सत्ता
२–अव्यक्तं ब्रह्म	→१–नियतिः	२–सूत्रम्	३–वेदाः
३–महद् ब्रह्म	→१–अहंकृतिः	२–प्रकृतिः	३–आकृतिः
४–विज्ञानं ब्रह्म	→१–आयुः	२–ज्योतिः	३–गौः
५–प्रज्ञानं ब्रह्म	→१–चिदंशः	२–प्राणः	३–सोमः
६–इन्द्रियं ब्रह्म	→१–प्रज्ञामात्राः	२–प्राणमात्राः	३–भूतमात्राः
७–कर्म्मात्म ब्रह्म	→१–प्राज्ञः	२–तैजसः	३–वैश्वानरः
८–शरीरं ब्रह्म	→१–कारणम्	२–सूक्ष्मम्	३–स्थूलम्
९–विश्वं ब्रह्म	→१–आत्मा	२–पदम्	३–पुनःपदम्
एकमिति विद्यात् सर्वम्	एकमिति विद्यात् मनः	एकमिति विद्यात् प्राणः	एकमिति विद्यात् वाक्
सर्वं खल्विदं ब्रह्म— ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्			

—०—

इसी को मन्त्रश्रुति ने साक्षीसुपर्ण कहा है। यह हृदय में असंगरूप रूप से प्रतिष्ठित बनता हुआ उस शरीराभिमानी कर्म्मात्मा पर अनुग्रह कर रहा है। यही भोक्ता सुपर्ण है। दोनों एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित जोड़ले सखा हैं। एक अनशन है, एक साशन है। एक कर्म्मसाक्षी है, एक कर्म्मभोक्ता है। कर्म्मसाक्षी प्रत्यगात्मा है, कर्म्मभोक्ता शारीरकात्मा है। सुप्रसिद्ध शारीरकदर्शन जहाँ प्रधानरूप से इस शारीरक आत्मा को अपना लक्ष्य बनता है, वहाँ हमारा गीता-शास्त्र प्रधानरूप से प्रत्यगात्मा को अपना लक्ष्य बनता है। यही देहस्थित देहाभिमानशून्य परमात्मा एवं देहाभि-

मानी भूतात्मा हैं। अर्जुन की उपनिषत् भूतात्मा है, भगवान् कृष्ण की उपनिषत् परमात्मा है। भूतात्मानुगामी अर्जुन व्यामोह में पड़ कर कर्त्तव्यकर्म्म से च्युत हो रहा है, परमात्मानुगामी परमात्मा श्रीकृष्ण अर्जुन को भूतात्मा की ओर से परमात्मा की ओर ले जाते हुए उसे कर्म्मरहस्य बतला रहे हैं, जैसा कि पूर्व की प्रथमोपनिषत्] में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन दोनों भेदों को समझते हुए ही पाठक गीता के वास्तविक मर्म्म पर पहुँच सकेंगे। पूर्व में शरीराभिमानी कर्म्मात्मा के उपोद्बलक श्वेताश्वतर-वचन बतलाए गए हैं। निम्नलिखित वचन इसी देह में रहने वाले उस पर पुरुषरूप प्रत्यगात्मा का स्वरूप बतला रहे हैं—

१–एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥[1]

२–न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥[2]

३–एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे सञ्चरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥[3]

४–अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥[4]

५–ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥[5]

६–परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥[6]

—०—

निम्नलिखित वचन दोनों की समष्टि का निरूपण करते हैं—

१–अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको (जीवः) जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥[7]

---

१ श्वेताश्व० ४।१७। २ श्वेताश्व० ४।२०। ३ श्वेताश्व० ५।३। ४ श्वेताश्व० ५।१३।
५ गीता १८।६१। ६ गीता १३।२२। ७ श्वेताश्व० उप० ४।५।

२–द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥[1]

३–समाने वृक्षे पुरुषो (जीवः) निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥[2]

४–यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पापपुण्ये विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥[3]

——०——

सम्पूर्णशास्त्रों का एक मात्र उद्देश्य कर्म्मात्मा नाम से विधेय आत्मा ही है। विधेय आत्मा त्रिकल बनता हुआ त्रिवर्त्मा बन रहा है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। पूर्व में हमने कर्म्मात्मा के–**१–वैश्वानर–२–तैजस–३–प्राज्ञ**-ये तीन विभाग बतलाए हैं। ये तीनों क्रमशः प्रज्ञानमन के–**१–सोम-२–प्राण–३–चिदंश**-से अनुगृहीत रहते हुए-**१–स्थूलशरीर–२–सूक्ष्मशरीर–३–कारणशरीर** पर अपना अनुग्रह रखते हैं। स्थूलशरीर-वैश्वानर-सोम तीनों की समष्टि एक स्वतन्त्रसंस्था है, यही **भूतसंस्था** है। सूक्ष्मशरीर, तैजस, प्राण तीनों की समष्टि एक स्वतन्त्रसंस्था है, यही देवसंस्था है। कारणशरीर, प्राज्ञ, चिदंश तीनों की समष्टि एक स्वतन्त्रसंस्था है, यही ब्रह्मसंस्था है। तीनों का स्वरूप क्रमशः **भूतचिति, देवचिति, बीजचिति** इन तीनों चितियों से सम्पन्न हुआ है। तीनों ही संस्थाएँ त्रिधातुभाव से आक्रान्त हैं। ब्रह्मसंस्था के तीनों धातु **विद्या, काम, कर्म्म** नाम से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि ही बीजचिति है। देवसंस्था के तीनों धातु **अग्नि–वायु–सोम** हैं। तीनों की समष्टि ही देवचिति है। **पित्त–वात–कफ** ये तीनों भूतसंस्था के धातु हैं। तीनों की समष्टि ही भूतचिति है। ये ही तत्तदात्मसंस्थाओं को तत्तत्-स्वरूप से धारण करने वाले हैं, अतएव इन्हें धातु कहा जाता है। राग-द्वेष इन दो महापाप्माओं से तीनों के तीनों धातु विषम बन जाते हैं, कुपित हो जाते हैं। ये त्रिदोष ही आगे जा कर सर्वनाश का कारण बन जाते हैं। वात-पित्त-कफ की समता के विघातक प्रकृतिविरुद्ध अन्नों के साथ राग करने से, अनुकूल अन्नों के साथ द्वेष करने से भूतसंस्था बिगड़ जाती है। रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकृतिविरुद्ध कर्म्मों से राग, अनुकूल कर्म्मों से द्वेष करने से देवसंस्था के धातु कुपित हो जाते हैं। विषयों के साथ राग करने से एवं द्वेष करने से ब्रह्मसंस्था के धातु कुपित हो जाते हैं। तीनों संस्थाओं के रागद्वेषमूलक ये ही तीनों दोष **पाप-अघ-रोग** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रोगमल का भूतसंस्था के साथ, अघमल का देवसंस्था के साथ एवं पापमल का ब्रह्मसंस्था के साथ सम्बन्ध है। इन तीनों मलों के परिशोध के लिए तीन शास्त्र अवतीर्ण हुए हैं। आयुःशास्त्र भूतसंस्था का संस्कार करता है, धर्म्मशास्त्र देवसंस्था का संस्कार करता है,

---

१ मुण्डक उप० ३।१।१। २ मुण्डक उप० ३।१।२। ३ मुण्डक उप० ३।१।३।

एवं आत्मशास्त्र ब्रह्मसंस्था का संस्कार करता है। ध्यान रहे, स्थूलशरीरप्रधान भूतसंस्था के चिकित्सक आयुर्वेदशास्त्र का मूल लक्ष्य भी राग-द्वेष हटाना ही है, जैसा कि निम्नलिखित सूक्ति से स्पष्ट है—

"रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान योऽस्त्वपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै" ॥[1]

त्रिसंस्थ, अतएव त्रिवर्त्मा नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा के तीनों पर्वों को उद्देश्य बना कर ही तीनों शास्त्र स्वस्वसिद्धान्तों का विधान करते हैं। जो उद्देश्य है, वही विधि को ले कर विधेय बना हुआ है। इसीलिए हम इस त्रिसंस्थ कर्म्मात्मा को—**"विधेयात्मा"**—कहने के लिए तय्यार हैं। यही प्रकृत प्रकरण का विधेय-आत्मा है।

१–ब्रह्मसंस्था—

१–चिदंशः	(मनोमयः)–ज्ञानम्–सत्त्वः (अव्ययः)	→ **"ब्रह्मसंस्था"**
२–प्राज्ञः	(मनोमयः)–ज्ञानम्–सत्त्वः (अव्ययः)	
३–कारणशरीरम्	(मनोमयम्)–ज्ञानम्–सत्त्वः (अव्ययः)	

—०—

२–देवसंस्था—

१–प्राणः	(प्राणमयः) क्रिया–रजः (अक्षरः)	→ **"देवसंस्था"**
२–तैजसः	(प्राणमयः) क्रिया–रजः (अक्षरः)	
३–सूक्ष्मशरीरम्	(प्राणमयम्) क्रिया–रजः (अक्षरः)	

—०—

३–भूतसंस्था—

१–सोमः	(वाङ्मयः) अर्थः–तमः (क्षरः)	→ **"भूतसंस्था"**
२–वैश्वानरः	(वाङ्मयः) अर्थः–तमः (क्षरः)	
३–स्थूलशरीरम्	(वाङ्मयम्) अर्थः–तमः (क्षरः)	

—०—

१ अष्टाङ्गहृदय।

धातवः—

	१–विद्या	(मनोमयी)	
१	२–कामः	(प्राणमयः)	→कारणशरीरधातवः–"**बीजचितिः**"
	३–कर्म्म	(वाङ्मयम्)	
	१–अग्निः	(मनोमयः)	
२	२–वायुः	(प्राणमयः)	→सूक्ष्मशरीरधातवः–"**देवचितिः**"
	३–सोमः	(वाङ्मयः)	
	१–पित्तम्	(मनोमयम्)	
३	२–वातः	(प्राणमयः)	→स्थूलशरीरधातवः–"**भूतचितिः**"
	३–कफः	(वाङ्मयः)	

—०—

१–पापः→कारणशरीरमलम्→आत्मशास्त्रवेत्तारो दार्शनिकाश्चिकित्सकाः
२–अघः→सूक्ष्मशरीरमलम्→धर्म्मशास्त्रवेत्तारो धर्म्माचार्याश्चिकित्सकाः
३–रोगः→स्थूलशरीरमलम्→आयुःशास्त्रवेत्तारो भिषग्वराश्चिकित्सकाः

—०—

प्रकृत में आत्मशास्त्रसम्बन्धी कारणशरीरप्रधान कर्म्मात्मा ही विधेय आत्मा है। इसी की चिकित्सा का विचार प्रक्रान्त है। पूर्व में हमने कर्म्मात्मा को ही उद्देश्य कहा है एवं इसी को विधेय कहा है। अब श्लोक-तात्पर्य्य की अपेक्षा से हम देहस्थित प्रत्यग् ब्रह्म को तो उद्देश्य कहेंगे एवं कर्म्मात्मा को विधेय कहेंगे। प्रत्यगात्मा को उद्देश्य मान कर उसके स्थान में कर्म्मात्मा का ही विधान किया जाता है। दूसरे शब्दों में इतरशास्त्रोद्देश्यभूत कर्म्मात्मा को गीताशास्त्रोद्देश्यभूत प्रत्यगात्मस्वरूप में परिणत कर डालना ही गीता का मुख्य उद्देश्य है। गीता कर्म्मात्मा को प्रत्यगात्मा बना डालने का ही तो उपदेश देती है। ऐसी स्थिति में प्रत्यगात्मरूप उद्देश्य की दृष्टि से कर्म्मात्मा को विधेयात्मा कहना सर्वथा सुसंगत बन जाता है।

पूर्व में कहा गया है कि कर्म्मात्मा प्रत्यक् एवं पराक् ब्रह्म के (अमृतात्मा और मृत्युमय विश्व के) मध्य में बैठा है। यह दोनों ओर गमन कर सकता है। यदि यह मध्यस्थ कर्म्मात्मा पराग्ब्रह्म की ओर

अनुगत हो गया तो इसका सर्वनाश है। ऐसी अवस्था में अकृत-विश्व से युक्त हो कर यह स्वयं भी विधेय कोटि से गिरता हुआ अकृतात्मा बन जाता है। यदि प्रत्यग्ब्रह्म की ओर चला गया तो इसका सर्वोद्धार है। ऐसी अवस्था में यह कृतात्मा से युक्त हो कर स्वयं भी विधेयकोटिद्वारा कृतात्मा बन जाता है। अकृतात्मदशा में इस विधेयात्मा को क्षणिक समृद्धानन्द मिलता है, कृतात्मदशा में इस विधेयात्मा को शाश्वत शान्तानन्द मिलता है। इस प्रकार प्रत्यक्-पराक् भेद से इस एक ही विधेयात्मा के **समृद्ध-शान्त** दो रूप हो जाते हैं। समृद्धिदशा में यही विधेय अकृतात्मा कहलाता है। शान्तिदशा में यही विधेय कृतात्मा कहलाता है एवं शान्तिप्राप्ति के लिए उद्योग करता हुआ यही विधेयात्मा नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर पूर्व की दार्शनिक मीमांसा में हमने एक ही कर्म्मात्मा के **कृतात्मा-विधेयात्मा-अकृतात्मा** ये तीन रूप बतलाते हुए मानव समाज को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता हुआ कर्म्मात्मा विधेय है। यह रागद्वेष की कृपा से विषयरूप पराग्ब्रह्म में आसक्त हो कर संस्कारों के साथ बद्ध हो जाता है। संस्कार ही मृत्युरूप पाश है। यदि विधेय-आत्मा मन की प्रधानता से कर्म्म करता है तो मन अग्रणी बन जाता है, यह पीछे रह जाता है। विषयासक्तमन अपने स्वाभाविक अन्तर्मन की स्थिरविभूति से वञ्चित होता हुआ बुद्धि को भी चञ्चल बना देता है एवं कर्म्मात्मा को भी क्षुब्ध कर देता है। यदि रागद्वेषपरित्यागपूर्वक कर्म्म करता है तो बुद्धि अग्रणी बन जाती है। मन अन्तर्मन बन जाता है। प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, प्रत्यग्ब्रह्म विभूतिप्राप्त हो जाती है। रागद्वेषदशा में आत्मा-कर्म्मात्मा-मन-बुद्धि-विषय यह क्रम है। यदि कर्म्म मन से संलग्न है तो आसक्ति है, बन्धन है, दुःख है। यदि वही कर्म्मसंस्कारबुद्धि से संलग्न है तो असंग बुद्धि की कृपा से अनासक्ति है, मुक्ति है, शाश्वत आनन्द है, विधेय के लिए दोनों रास्ते खुले हुए हैं। एक तरफ मुक्ति है, दूसरी ओर भुक्ति है। वह भक्त बन कर मुक्ति प्राप्त कर ले, अथवा भोगानुयायी बन कर स्वयं भुक्त बन जाए— **"यथेच्छसि तथा कुरु"**। मार्ग बतलाना शास्त्र का काम, चलना विधेयात्मा का काम। मनोऽनुगामी बालक मृत्यु को पसन्द करते हैं, बुद्ध्यनुगामी धीर अमृत की आराधना करते हैं। इसी भावद्वयी का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

१—पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥[1]

२—कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

३—स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥[2]

---

१ कठ० उप० २।१।२। २ मुण्डक उप० ३।२।१ व २।

४–संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥

५–क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥[1]

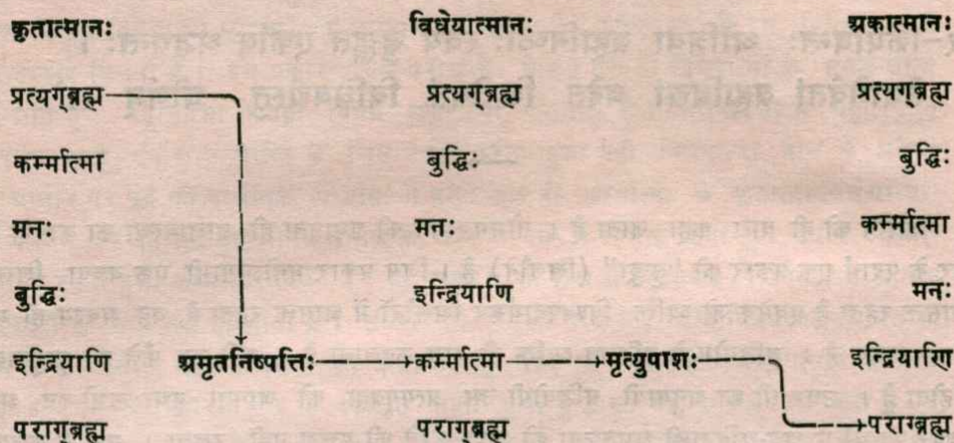
—०—

सौम्य को ही बाल कहा जाता है । सोममय मन की प्रधानता ही बालावस्था का कारण है । संसार के पदार्थ एक प्रकार की "सृङ्का" (खिलौने) हैं । जिस प्रकार मनोऽनुगामी एक बच्चा खिलौनों में आसक्त रहता है एवमेव जो व्यक्ति विश्वपदार्थरूप खिलौनों में आसक्त रहता है, वह अवश्य ही मनोऽनुगामी बालक है । बुद्धियोग से वञ्चित व्यक्ति ही बाल कहलाता है । वही उस फैले हुए मृत्युपाश में बद्ध होता है । उधर धी का अनुयायी बुद्धियोगी उस प्रत्यग्ब्रह्म को जानता हुआ कभी इन अध्रुव विनश्वर पदार्थों में ध्रुव-अविनाशी अमृतात्मा को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता । मन के कुचक्र में फँसा हुआ अतएव "मन्यमान" नाम से प्रसिद्ध पराग् ब्रह्मानुरक्त जो कामकामी निरन्तर नवीन-नवीन कामनाएँ किया करता है, वह तत्तत्कामनाओं से रंगा हुआ कामानुसार हीनयोनियों में जन्म लिया करता है । उधर अमृतात्मा की कृपा से पर्य्याप्तकाम बना हुआ कृतात्मा सब कामनाओं (उत्थाप्याकांक्षाओं) का परित्याग कर देता है । उस विशुद्ध ब्रह्मधाम को वही भलीभाँति जान सकता है, जो कि निष्कामभाव से उस पुरुष की उपासना करता है । वही धीर (बुद्धियोगी) बीजचितिरूप शुक्र का अतिवर्त्तन करने में समर्थ होता है । उस अमृतात्मा को प्राप्त कर ज्ञान से तृप्त बने हुए वे कृतात्मा ऋषि ही वीतराग बन कर शान्तानन्द के अधिकारी बनते हैं । वे युक्तात्मा सर्वव्यापक उस अमृतात्मा को प्राप्त कर स्वयं भी सर्वव्यापक बन जाते हैं । निष्काम कर्म्म का अनुष्ठान करने वाले, प्रत्यग्ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले वेदज्ञ ही आत्मयज्ञपरायण बनते हुए इस योग के अधिकारी हैं । प्रत्यग्ब्रह्म की प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि पराग्ब्रह्म (संसार) छोड दिया जाए । भगवान् केवल रागद्वेषशत्रु हैं । प्रत्यग्ब्रह्म कभी बन्धन का कारण नहीं हैं । बन्धन के कारण हैं–रागद्वेष । इन्द्रियों से जो काम होते हैं, उन्हें होने दो । दूसरे शब्दों में कर्म्म सब करते रहो, रागद्वेष छोडते हुए आत्मा को वश में रक्खो । अपने आप प्रसादभाव प्राप्त हो जाएगा । निर्म्मलीभाव ही प्रसादभाव है । रागद्वेषवियुक्ति से आगामी संस्कारमल का लेप न होगा, सञ्चित मल उत्क्रान्त हो जाएगा, प्रारब्धमल असर नहीं डालेगा । यही आत्मप्रसाद है । इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति रागद्वेष से रहित हो कर आत्मा को वश में रखते हुए इन्द्रियों से विषयों में (कर्म्म में) प्रवृत्त रहते हैं, उनका विधेय आत्मा प्रत्यग्ब्रह्मविभूति से युक्त हो कर निर्मल बनता हुआ प्रसादभाव को प्राप्त हो जाएगा । सच बात तो यह है कि विधेयात्मा कर्म्म करता हुआ भी कर्म्म में परतन्त्र है । मन इसे जिधर ले जाता है, इसे उधर ही जाना

---

१ मुण्डक उप० ३।२।५ व १० ।

पड़ता है । मन ही रागद्वेष का अधिष्ठाता है । इसी अभिप्राय से भगवान् ने **"उनका विधेयात्मा"**–यह कहा है । बुद्धियुक्त विधेयात्मा ही प्रसाद का अधिकारी है, यही तात्पर्य्य है —



॥ १ ॥

२–प्रसादे सर्वदुःखानां हानिः—

आत्मप्रसाद से होगा क्या ? प्रकृतश्लोक सुख-दुःख की मीमांसा करता हुआ इसी प्रश्न का उत्तर देता है । पूर्व प्रकरण में हमने आनन्द के समृद्धि-शान्त भेद से दो स्वरूप बतलाए हैं । सुख-दुःख क्या पदार्थ हैं ? यह एक बडी जटिल समस्या है । सुख के मोद, प्रमोद, हर्ष आदि अनेक भेद हैं । दुःख के भी क्षोभ, क्लेश, अशान्ति आदि अनेक भेद हैं । गीतोक्तप्रसाद सुख से सर्वथा विजातीयतत्त्व है । आज-दिन आनन्द और सुख को पर्य्याय माना जाता है । परन्तु विज्ञानदृष्टि से दोनों में अहोरात्र का अन्तर है । आनन्द का एकमात्र प्रत्यग्ब्रह्म के साथ ही सम्बन्ध है । आनन्दप्राप्ति के लिए, सब प्रपञ्चों को हटाना पड़ता है । दूसरे शब्दों में आनन्द प्राप्त करने की वस्तु नहीं है । वह तो नित्यप्राप्त है । केवल आवरण हटाना अपेक्षित है । सुख का एकमात्र परागब्रह्म के साथ सम्बन्ध है । इसके लिए प्रपञ्चों का आश्रय लेना पड़ता है । सुख दुःख का प्रतिद्वन्दी है, आनन्द द्वन्द्वातीत है । सुख आता है, इसलिए वह चला भी जाता है । आनन्द आता नहीं, इसलिए वह जाता भी नहीं । जिस प्रकार जिह्वा इतर रसों का आस्वाद न करती हुई भी स्वयं अपने रस का अनुभव नहीं करती, उसी प्रकार आत्मानन्द इतर सुखों के अनुभव का कारण बनता हुआ भी स्वयं अपना अनुभव नहीं करता । वैषयिक आनन्द का नाम ही सुख है । **"पराञ्चि खानि०"**–के अनुसार इन्द्रियाँ **"ख"** नाम से प्रसिद्ध हैं । विषय के आगमन से **"ख"** भर जाता है । पूर्ण हो जाता है । यही 'ख' का सुष्ठुभाव है । इसी का नाम **"सुख"** है । यदि 'ख' को ऐच्छिक विषय नहीं मिलता तो ये विषम बन जाती हैं । विषमता ही 'ख' का दुष्टभाव है । यही **"दुःख"** है । 'ख' शब्द ही इस बात का द्योतक है कि सुख-दुःख इन्द्रियों के धर्म्म हैं । इन्द्रियजन्य विषयप्राप्ति-लक्षणा समता ही सुख है, इन्द्रियजनित विषयाप्राप्तिलक्षणा विषमता ही दुःख है । यह ध्यान रहे कि

विषय आवरणरूप हैं। कर्म्मप्रधान हैं, विज्ञानप्रधान हैं, मृत्युरूप हैं। उधर प्रत्यग्ब्रह्म निरावरण है, ज्ञानप्रधान है, अमृतरूप है। कर्म्मरूप विषय आत्मानन्द के साथ (इन्द्रियों के द्वारा) मिलता है। आत्मानन्द विषय की अपेक्षा प्रबल है, अतएव इस से टकरा कर विषय क्षणमात्र के लिए आत्मानन्द की प्रतिच्छाया से आक्रान्त हो जाता है। यही क्षणिकानन्द का अनुभव है। आत्मानन्दाघात से क्षणमात्र के के लिए विषयगत कर्म्म का आवरण हट जाता है। बस, जितनी देर (क्षणभर) कर्म्मावरण हटा रहता है, उतनी ही देर तक आत्मानन्द का विषय पर अनुग्रह रहता है। उतनी ही देर सुख का अनुभव होता है। कर्म्मावरण के आते ही सुखानुभव विलीन हो जाता है। पानी में आप पत्थर डालते हैं। पत्थर के आघात से क्षणमात्र के लिए पानी हिल पड़ता है। तत्काल पानी उसी पूर्व समता में आ जाता है। ठीक वही परिस्थिति यहाँ है। किसी को दस लाख रुपये मिले। आवरणभंग हुआ, क्षणिक सुख हुआ। तत्काल पुनः आवरणोदय में क्षणिक सुख विलीन हो गया। इस प्रकार इन्द्रियजनित जितने भी वैषयिक सुख हैं, वे सब क्षोभ के जनक बनते हुए क्षणिक हैं। इनमें भी जो आनन्द का भाग है, वह उस आत्मानन्द की ही देन है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। आगन्तुक वस्तु अस्थायी है, जायी है। विषय के साथ आने वाला सुख कभी शाश्वत नहीं बन सकता। इससे आत्मप्रसाद की हानि ही होती है। वैषयिक सुख कहनेभर को सुख होता हुआ भी क्षोभ का जनक बनता हुआ परमार्थतः दुःख ही है। सुख में आत्मप्रसाद की हानि है, दुःख की प्राप्ति है। यदि कर्म्मात्मा रागद्वेष छोड़ता हुआ प्रत्यग्ब्रह्म का आश्रय ले कर पराग्ब्रह्म में विचरण करता है तो प्रत्यग्ब्रह्म के स्वाभाविक आनन्द के उदय से दुःखों की एकान्ततः निवृत्ति हो जाती है। सुखरूप दुःखभार भी हट जाता है। दुःखभार भी हट जाता है। वैषयिकदुःख,दुःख का एक विभाग है; वैषयिक सुख सुख का एक विभाग है। दोनों निवृत्त हो जाते हैं, इसी अभिप्राय से भगवान् ने–"**सर्वदुःखानां**" (**दुःखात्मकानां, दुःखानां सुखात्मकानां च सुखानां**)–यह कहा है। इस अवस्था में आत्मा स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, न उन्नति (सुख) है, न अवनति (दुःख) है। दोनों नतियों का, वैषम्यभावों का अभाव है। यही आत्मा की "**स्वस्थता**" है। इसमें किसी का आगमन नहीं है, अपितु, दुःख की उसी प्रकार हानि है, जैसे कि एक भारवाही भार उतार कर स्वस्थ बन जाता है। यह स्वस्थरूपा समता आत्मा का स्वाभाविकरूप है। यही शान्ति है। यही आत्मा का अच्छापना है। आत्मोपासक भारतवर्ष ने इसी शान्तानन्द को अपनाया है। इसीलिए ऐन्द्रियदुःखों से ग्रस्त रहते हुए भी परस्पर में हम भारतीय–"कहो कैसे हो, आपकी कृपा से स्वस्थ हैं, आनन्द में हैं"–इस प्रकार उस शान्ति का ही अभिनय किया करते हैं। जब तक विषयसंस्कारों का ग्रन्थि-बन्धन नहीं टूटता, तब तक रहता हुआ भी भूमालक्षण आत्मानन्द अविकसित रहता है। विषयसंस्कारग्रन्थिविमोक होते ही अपने आप आत्मभूमा विकसित हो कर समभाव में आ जाती है। यही दुःखहानिपूर्वक आत्मप्रसाद है। कैसे ? निदर्शन एक गुब्बारा है। गुब्बारा अपने उदरस्थ वायु से चारों ओर से समानरूप से फूला रहता है। जब गुब्बारे पर हाथ का प्रसर[1] (दबाव) डाला जाता है तो उतनी दूर का भाग दब कर समता से विच्युत हो जाता है। गुब्बारे की इस विषमता के लिए किसी अन्य पदार्थ को लाने की आवश्यकता नहीं हैं। केवल हस्तभार हटा दीजिए। भार हटते ही अपने आप गुब्बारे

१ प्रेसर।

की पूर्वभूमा का विकास हो जाएगा । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए । विषयाघात से आत्मभूमा दब जाती है । निवृत्ति से पुनः उसका उदय हो जाता है । जब आत्मा उस कृतात्मा से प्रसन्न हो जाता है तो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । दुःख (सुख) रूप क्षोभ से मन चञ्चल हो जाता है, चञ्चल मन की कृपा से सजातीय चित्त (महान्) चञ्चल होता है, चित्त की चञ्चलता से बुद्धि चञ्चल होती हुई अपने स्थिरलक्षण व्यवसायधर्म्म से च्युत हो जाती है, परन्तु जब आत्मप्रसाद द्वारा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तो मन का प्रज्ञाभाग स्थिर हो जाता है । प्रज्ञा के स्थिर होते ही चित्त स्थिर हो जाता है । यही चित्त का प्रसाद (सत्त्वभाव में परिणति) है । चित्तप्रसाद के अव्यवहितोत्तरकाल में ही (आशु) चित्तसंलग्ना बुद्धि (महत् के अव्यविहत स्थान में ही रहने वाला विज्ञानात्मा) स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होती हुई स्थिर हो जाती है । स्थिरबुद्धि का आत्मा के साथ युक्त होना ही तो योगसिद्धिलक्षण बुद्धियोग है । इस प्रकार युक्तात्माओं का विधेयात्मा बुद्धियोगनिष्ठ बन जाता है । जो ऐसा नहीं करते, उनके विधेयात्मा की क्या दशा होती है ? सुनिए—

॥ २ ॥

३–"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य०"

अयुक्त कृतात्मा यह समझते होंगे कि "जिस आत्मानन्द का अनुभव नहीं होता, उसे ले कर हम क्या करें ? हमें तो वह आनन्द चाहिए, जिससे हमारी इन्द्रियों की तृप्ति हो । आत्मानन्द तो अनुभव से शून्य बनता हुआ एक प्रकार की शून्य अवस्था का, दूसरे शब्दों में जड़ता का कारण बन जाता है । चहल-पहल मारी जाती है । स्थाणुवत् परिस्थिति हो जाती है" । इनकी इसी भ्रान्ति का निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से हम यह मान लेते हैं कि वैषयिक-सुख ही वास्तविक सुख है । परन्तु यह तो बतलाओ ! तुमने सुख की परिभाषा क्या मान रक्खी है ? तुम्हारी दृष्टि में विषय सुख के कारण हैं । गलत । यदि विषय ही सुख के कारण होते तो एक इन्द्रिय-विकल के लिए भी विषय सुख के कारण बनने चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि यदि चक्षु-श्रोत्र-नासा-रसनादि इन्द्रियाँ व्याधिग्रस्त रहती हैं तो उस दशा में सुखप्रद रूप-शब्द-गन्ध-रसादि विषय दुःखद बन जाते हैं । तुम्हें मानना पड़ेगा कि विषय सुख के कारण नहीं हैं, अपि तु, स्वस्थ इन्द्रियाँ सुख का कारण हैं । स्वस्थ इन्द्रियों में प्रतिष्ठित हो कर ही विषय सुख के कारण बनते हैं । क्या स्वस्थ इन्द्रियाँ विषयसुख का कारण हैं ? गलत । हम देखते हैं कि जब हमारा मन किसी कारण से व्याकुल हो जाता है तो उस दशा में स्वस्थ इन्द्रियाँ विषय की ओर झुकना ही पसन्द नहीं करतीं । मन की विकलता में कुछ अच्छा नहीं लगता । क्या स्वस्थ मन सुख का कारण है ? गलत ! बिना विज्ञान के केवल मन भी सुखोपभोक्ता नहीं बन सकता । देखिए न ! एक बुद्धिमान् को पुष्पगन्ध में जितना आनन्द आता है, निर्बुद्धि गर्दभ उस आनन्द से वञ्चित रहता है । भैंस की दृष्टि में क्षीरभोजन और तृणभक्षण समान हैं । बुद्धि ही आनन्द का कारण है । कैसी बुद्धि ? शान्तबुद्धि । यदि बुद्धि डांवाडोल रहती है, तब भी आनन्द नहीं आ सकता । बुद्धि का शान्तभाव आत्मयोगलक्षण बुद्धियोग पर ही निर्भर है । आत्मानन्द की कथा तो दूर रही, पराग्ब्रह्मानुगामी को शान्तबुद्धिसहकृत लौकिक सुख भी नहीं हो सकता । होता है, परन्तु-

भावुकताशून्य । क्या इन्द्रियपरायण पशु को इन्द्रियाभोगों से सुख नहीं होता ? होता है, अवश्य होता है । परन्तु इस सुख में शान्ति का लेश भी नहीं है । सुखकाल में भी क्षोभ बना रहता है । क्या आप संसार में एक भी व्यक्ति ऐसा बतला सकते हैं, जो रागद्वेषपुरस्सर इन्द्रियों द्वारा विषयभोगों में रत रहता हुआ सुखी रहे, शान्त रहे ? तृष्णा के क्षणिक विराम को ही क्या सुख कहा जा सकता है ? विषय प्राप्ति में कायक्लेश, प्राप्तिकाल में क्षोभ, निवृत्तिकाल में महाक्षोभ । अथ से इति तक क्षोभ का ही साम्राज्य है । अयुक्त का विज्ञान मूर्च्छित रहता है । फलतः वह कभी शान्तिपूर्वक सुख का उपभोग नहीं कर सकता ।

सत्-असत् का विवेक करना ही भावना है । यह भावना शान्तबुद्धि का काम है । बिना भावना के असत् में सत् की भ्रान्ति हो जाती है, सत् में असत् की भ्रान्ति हो जाती है । यही अभावनामूलक मोह है । यही मूर्च्छा है । यदि भावनाशून्य एक मूर्च्छित मनुष्य को ही आप सुखी समझते हैं, यदि इसी सुख को आप सुख समझते हैं, यही यदि आप की दृष्टि में चहल-पहल है तो आप और आपकी अयुक्तबुद्धि दोनों धन्य हैं । याद रखिए, सदसद्विवेकलक्षणा भावना के बिना अस्थिर बना हुआ आपका मन अवश्य ही अहित पदार्थों में हित की भ्रान्ति करता हुआ उनमें संसक्त हो जाएगा । परिणाम इस विरुद्ध भाव के समावेश से यह होगा कि आपका आत्मा क्षुब्ध हो पड़ेगा । यदि इसी क्षोभ को आप सुख मान रहे हैं तो हमें कहना पड़ेगा, अभी आपने सुख का स्वरूप ही नहीं समझा । बात असल में यह है कि जिसका विधेयात्मा रागद्वेष की कृपा से विषयासक्त बनता हुआ अयुक्त बन जाता है, अकृतात्मा बन जाता है, उसका मन उन आगत संस्कारों के साथ बद्ध हो जाता है । संस्कार-बन्धन मुक्त-मन का विरोधी है । इस विरोधी के घर में घुस आने से मन चञ्चल हो जाता है । चञ्चल मन से तत्संयुक्ता बुद्धि चञ्चल हो जाती है । उन अविद्यात्मक संस्कारों से आगन्तुक धर्म्मरूप बुद्धि का अविद्याभाग प्रबल बन जाता है । अविद्याग्रस्तबुद्धि अपने आपको मन के समर्पण कर देती है । यही इस बुद्धि की मनोभाव में परिणति है । अविद्यासंस्कारों की कृपा से अविद्याभाग से आवृत होती हुई बुद्धि आत्मयोग से तो वञ्चित हो जाती है, एवं मन से युक्त हो जाती है । ऐसी अविद्याबुद्धि सचमुच अबुद्धि है । बुद्धि का काम सदसद्विवेकलक्षणा भावना करना है । भावना विद्याभाग से सम्बन्ध रखती है । अविद्या से बुद्धि के विद्या-भाव का जब तिरोभाव हो गया तो फिर भावना कहाँ रही ? जब भावना नहीं रही तो शान्ति कहाँ रही ? क्यों कि भावना ही तो द्वन्द्वविवेक द्वारा शान्ति का कारण बनती है । जब भावना ही नहीं रही तो शान्ति कहाँ से मिलेगी ? शान्ति का ही नाम तो सुख है । जब शान्ति ही नहीं, तो सुख की कल्पना ही व्यर्थ है । फिर भी इस अशान्त अकृतात्मा ने जो विषयभोग में सुख मान रक्खा है, यह इसकी विशुद्ध भ्रान्ति ही कही जाएगी ।

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व में हमने सुख-दुःख का निर्वचन करते हुए वैषयिक समृद्धसुख को सुख कहा था । इधर भगवान्–"**अशान्तस्य कुतः सुखम्**"–यह कह रहे हैं । अशान्ति ही तो वैषयिक सुख की जननी है । शान्तिभावोदय के अनन्तर तो केवल शान्तिलक्षण, अनुभवशून्य आत्मानन्द ही रह जाता है । ऐसी परिस्थिति में भगवान् ने यह कैसे कहा कि अशान्त को सुख नहीं मिलता ? लक्षणों

के अनुसार तो–"**अशान्तस्य कुतो दुःखम्, शान्तस्य कुतः सुखम्**"–यह कहना चाहिए। इस समस्या का उत्तर स्पष्ट है। युक्तात्मा संसार के सुखों से वञ्चित हो जाता है, भगवान् का यह अभिप्राय कभी नहीं है, युक्तात्मदशा में भी भगवान्–"**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्**"–इत्यादिरूप से स्पष्ट ही प्रत्यग्ब्रह्मानुयायी की भी विषयरूप पराग्ब्रह्म में रागद्वेषवियुक्तिपूर्वकता बतला दी है। यह अनुभूत विषय है कि वैषयिक सुख की प्रवृत्ति का कारण आत्मानन्द ही है, जैसा कि–"**न वाऽरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति**"–इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। आत्मानन्द की प्रतिच्छाया ही पराग्ब्रह्मानुयायी विषयपरायण को सुख का अनुभव होता है। आत्मा की अस्वस्थदशा में न उसकी विषयों में प्रवृत्ति होती, न प्रवृत्त रहने पर भी उसे इस दशा में सुख का अनुभव होता। जो पुत्रकलत्रसम्पत्ति आदि आत्मस्वस्थता में सुखानुभव के कारण बनते हैं, अस्वस्थदशा में वही शूल उत्पन्न करने लगते हैं। फलतः चरमसीमा पर पहुँचे हुए इन्द्रियलम्पटों को भी यह तो विवश हो कर मानना ही पड़ेगा कि आत्मस्वस्थता, आत्मशान्ति ही सुखानुभव का मूलद्वार है। अब इसमें और उस युक्तात्मा में अन्तर क्या रह जाता है? यह मात्र विचारणीय है।

उक्त स्थिति से यह भी स्पष्ट है कि जिसका आत्मा जितना अधिक प्रसन्न होगा, उसे उतना ही अधिक सुखानुभव होगा। जिसका आत्मा जितना कम स्वस्थ होगा, उसे उतना ही कम आनन्द आएगा। युक्तयोगी का आत्मा प्रसाद की चरमसीमा पर पहुँचता हुआ सर्वथा शान्त बन जाता है। इस शान्त आत्मा के अनुग्रह को ले कर युक्तयोगी जब इन्द्रियों द्वारा विषयों में प्रवृत्त होता है तो उसे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द के दर्शन होते हैं। दर्शन नहीं होते, आनन्दघन बन जाता है। विषय एवं आत्मा में जब तक विच्छेद है, तब तक आनन्द और विषय में भेद है। तभी तक अनुभव है। जब–"**यत्र त्वस्यसर्वमात्मैवाभूत्**"–यह परिस्थिति हो गई तो कौन किसका अनुभव करे, कौन किसको सुने, कौन किसको देखे? तो क्या ऐसा आनन्दी अन्ध-वधिर-मूक हो जाता है? भूलते हो। सब कुछ देखता-सुनता बोलता है। तुम से कहीं अच्छा देखता-सुनता-बोलता है। परन्तु तुम में और उसमें अन्तर यही है कि तुम बुराई से युक्त भलाई के अनुगामी हो, वह भलाई का ही अनुगामी है। तुम्हारा कर्म केवल तुम्हारे दुःख-मिश्रित (अतएव दुःखरूप ही) सुख का कारण है, उसके कर्म्म से वह स्वयं तो नित्यतुष्ट है ही, परन्तु इस नित्यतुष्ट से संसार भी तुष्ट होता है। उसके दर्शनमात्र से शान्ति आ जाती है। उसके शब्द वीणा झंकार से कहीं मधुर होते हैं। उसके निवासस्थान में हिंस्रक जन्तु भी अपनी क्रूरवृत्ति छोड़ कर शान्त बन जाते हैं। वह स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थ भी साधन कर रहा है। और तुम? पूछो अपने आप से, कहाँ जा रहे हो? तुम अपने स्वार्थ में भी धोखा खा रहे हो। तुम्हारी इन्द्रियाँ विकृत हैं, मन दोलायमान है, बुद्धि अस्थिर है, चित्त खिन्न है। जरा सी आपत्ति से रो पड़ते हो। थोड़ी सी सम्पत्ति से तुम्हारा स्थिर धरातल आन्दोलित हो जाता है। तुम सुख-शान्ति दोनों से वञ्चित हो। उधर बुद्धियोगी सुख को शान्तिरूप में परिणत कर नित्य सुखी बन कर संसार में खड़ा हुआ तुम्हारे ऊपर दया कर रहा है। बोलो! शान्त युक्तात्मा सुखी है, अथवा अशान्त अयुक्तात्मारूप तुम सुखी हो। तुम चहल-पहल के कारण हो, अथवा वह? तुम अरे! तुम तो अपने नाश के साथ-साथ संसार की भी अशान्ति के कारण बन रहे हो। तुम उत्पन्न ही न होते तो अच्छा था। यह तो पशुओं का भाग्य अच्छा था, जिससे तुम्हारी दृष्टि

उनके घास पर नहीं गई। नहीं तो तुम अपनी सुखतृष्णा को शान्त करने के लिए पशुओं को भी जीवित न छोडते। इसी सारी परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने-"अशान्तस्य कुतः सुखम्"- यह कहा है। भगवान् का अभिप्राय यही है कि युक्तयोगी चूंकि रागद्वेष छोड कर प्रत्यग्ब्रह्म का अनुगामी बनता हुआ विषयों में प्रवृत्त रहता है, अतएव कर्म्मावरण के द्वारा होने वाले सुखविराम का यहाँ अवसर ही नहीं आता। आत्मानन्द का अजस्र स्रोत जिसे मिल गया, उसके लिए सर्वत्र आनन्द है। दुःखी तो वह रहता है जो उधर न जा कर उस स्वतःसिद्ध थोड़ी सी मात्रा के अभिमान में पड़ कर रागद्वेषपूर्वक सहसा विषयों पर दौड़ पड़ता है। एक तो आनन्द की मात्रा थोड़ी, वह भी आवरणलेप से अशान्त। गिलवे और नीम चढ़ी। विषय आया, क्षणमात्र के लिए आत्मानन्दसहयोग से इन्द्रियों ने अनुभव किया, तत्काल पुनः कर्म्मावरण से सुख विलीन हो गया। क्या इसी क्षणिक वृत्ति का नाम आनन्द है? अर्जुन दुःखी था, वह समझता था कि मैं युद्ध न करूंगा तो मुझे शान्ति मिलेगी, सुख मिलेगा। अयुक्तभावमूलक इसी अभावना का आमूलचूड़ खण्डन करते हुए भगवान् को कहना पड़ा कि अरे! कहीं कर्म्म भी दुःख का कारण बना है? दुःख का कारण तो रागद्वेषजनित अयुक्तभावमूलक अशान्ति है। तुझे शान्ति प्राप्त करनी है तो भावना से काम ले। भावना से काम लेना है तो बुद्धि स्थिर कर। बुद्धि स्थिर करनी है तो युक्तयोगी बन। युक्तयोगी बनना है तो रागद्वेष छोड कर अधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्ति रख।

सचमुच भगवान् ने अर्जुन के बहाने उक्त उपदेश से संसार के सामने एक उज्ज्वल आदर्श रख दिया। परन्तु सबसे बडी अड़चन यह है कि सब कुछ समझते हुए भी जानते हुए भी हम एक परतन्त्र पशु की तरह सुख की लालसा से अशान्तिमूलक उन्हीं सांसारिक विषय की ओर झुकते रहते हैं। संयम रखने की चेष्टा करते-करते ऐसा आघात होता है, मन सहसा काबू से बाहर निकल जाता है। सारा योगाभ्यास भूल जाते हैं। फिर वही अंधेरी रात। ऐसा क्यों होता है? यदि होता है तो इस झञ्झावात को रोकने का क्या उपाय है? बस, आगे के दो श्लोकों से परम कारुणिक भगवान् इसी प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं—

—३—

४-५-"इन्द्रियाणां हि चरतां०"-"तस्माद्यस्य महाबाहो०"—

प्रथम श्लोक से भगवान् ने-"ऐसा क्यों हो जाता है? इस प्रश्न का समाधान किया है एवं द्वितीय श्लोक से-"इस वृत्ति को रोकने का क्या उपाय है?"-इस प्रश्न का समाधान किया है। क्रमप्राप्त प्रथम समाधान का समन्वय कीजिए। समन्वय से पहले यह ध्यान रखिए कि वक्तव्यस्थिति के चित्रण का सम्बन्ध युञ्जानयोगी से है। जो अभ्यासयोग में आरूढ हैं, उन्हीं की दशा का चित्रण किया गया है। जिन की दृष्टि कभी इस मार्ग में नहीं आई है, उन अकृतात्माओं की प्रज्ञा का अपहरण तो जन्मकाल से ही हो चुका है। जो विधेयात्मा प्रज्ञा को स्थिर कर संयमपूर्वक आगे बढ रहे हैं, उनकी प्रज्ञा भी कभी-कभी कारणविशेष से अस्थिर हो जाती है। जो इस पथ को सर्वथा भूले हुए हैं, वे तो नष्ट ही

हैं। किन्तु जो इस पथ पर आरूढ हैं, वे भी कभी-कभी ठोकर खा जाते हैं। ऐसे पथभ्रष्ट योगाभ्यासियों को ही गीता-शास्त्र ने–"**योगभ्रष्ट**"–कहा है। उन्हीं की स्थिति का प्रकृत में उल्लेख है। "**तदस्य हरति प्रज्ञां**"–का तात्पर्य्य यही है कि जिनकी प्रज्ञा अभ्यासवश स्थिर हो चली है, उनकी प्रज्ञा का भी अपहरण हो जाया करता है। इसी आधार पर प्रकृत समन्वय को हम युञ्जानयोगीपरक मानने के लिए तय्यार हैं।

गीता के अद्भुत दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक पर दृष्टि डालिए। बम्बई के किसी प्रसिद्ध आँफिस में एक साथ काम करने वाले कुछ एक मित्रों ने रविवार के दिन विचार किया कि आज का मौसम भी अच्छा है, समुद्र भी शान्त है, ऑफिस की भी छुट्टी है। चलो एक पूरी नौका किराए करली जाए और उस सुप्रसिद्ध धार नगर को देखा जाए। विचारानुसार सब मित्र नाव पर बैठ कर लक्ष्य स्थान की ओर रवाना होते हैं। वायु स्तब्ध है, इसलिए समुद्र शान्त है, अतएव नौका बडी शान्ति से जा रही है। फलतः नौका की ओर से मित्र भी निडर शान्त हो कर लक्ष्य पर दृष्टि जमाए हुए हैं। मित्रों के दुर्भाग्य से अचानक तूफानी वायु चल पडती है। क्षण भर पहले सर्वथा शान्त समुद्र उत्तालतरंगों में परिणत हो जाता है। समुद्र के अशान्त होते ही नौका डगमगा जाती है। मित्र घबरा कर लक्ष्य को भूल जाते हैं। यदि इन की घबराहट से मल्लाह भी घबरा जाता है तो नौका किसी पाषाणस्तर से टकरा कर स्वयं भी टूट जाती है और बैठने वालों को भी स्मृतिगर्भ में विलीन कर देती है। अथवा लक्ष्य-च्युत हो कर अनन्त की ओर चली जाती है। यदि मल्लाह सावधान रहे, साथ ही में वायु का धक्का भी विशेष प्रबल न हो तो नौका डगमग करती हुई भी लक्ष्य-स्थान पर पहुँच जाती है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए।

मत्स्य-मकर-कर्कटस्थानीय भयावह विषयों से नित्य आक्रान्त यह संसार एक शान्त समुद्र है। सांसारिक विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियाँ सहचारी मित्र हैं। रागद्वेषपरित्यागलक्षण रविवार की छुट्टी है। धारनगररूपलक्ष्यस्थानीय हृदयस्थ प्रज्ञान ब्रह्म है। इसी पर इन मित्रों को पहुँचना है। इन्द्रियाधिष्ठाता मन नौका है। मन से संलग्न बुद्धि नावखेवय्या मल्लाह है। चतुर मल्लाह (बुद्धि) मन की नौका पर बैठे हुए उन इन्द्रिय-मित्रों को लक्ष्य-ब्रह्म की ओर ले जा रहा है। अकस्मात् आगामी संस्काररूप वायुवेग से प्रबल बने हुए संचितसंस्काररूप तूफानी वायु के आघात से समुद्रस्थानीय संसार भयावह हो जाता है। संसाररूप बहिर्विषय उत्तेजित हो जाते हैं। इनकी अशान्ति से नौकारूप मन डगमगा जाता है। ऐसी अवस्था में यदि मल्लाहस्थानीय बुद्धि सावधान रहती है, तो साथ ही में संस्काररूप वायु का आघात विशेष नहीं होता तो नौका से वे इन्द्रियमित्र लक्ष्यस्थान पर पहुँच ही जाते हैं। दुर्भाग्य से यदि मल्लाह असावधान रहता है और वायु का झोका भी प्रबल होता है तो समुद्रस्थानीय संसारगर्भस्थ विषयरूप प्रस्तरों से टकरा कर नौका सबको स्मृतिगर्भ में विलीन करती हुई चकनाचूर हो जाती है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियों के विषयजातों में विचरण करते हुए संस्काररूप झंझावात से जो मन डगमगा जाता है, वही कम्पन मन की स्थिरप्रज्ञा का उसी प्रकार अपहरण कर लेता है, जैसे कि पानी में बहती नौका वायु के आघात से अपनी स्थिरता छोड बैठती है।

एक युञ्जानयोगी रागद्वेष का परित्याग करता हुआ अधिकारसिद्ध कर्म्मों में निष्कामबुद्धया प्रवृत्त रहता हुआ, निष्कामयोग के क्रमिक अभ्यास से प्राप्तप्रज्ञा की स्थिरता द्वारा क्रमशः प्रत्यग्ब्रह्म रूप लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। इसके मन में पहले से संचित संस्कार हैं, वे आगामी संस्कारों के निरोध से क्रमशः शिथिल होते जा रहे हैं। इस प्रकार स्थिरभाव से यह आगे बढ रहा है। अभ्यास-दशा से पहले मन विषयों में आसक्त रहा है। संसार में रहते हुए, पुत्र-कलत्र-सखा-बन्धु-बान्धव-समाज-राष्ट्र सब को साथ लिए हुए यह निष्काम कर्म्मयोगी आज अभ्यासमार्ग पर आरूढ हुआ है। अभ्यास दशा अपरिपक्व दशा है, ऐसी परिस्थिति में मान लीजिए, इसका या तो कोई अभिन्न प्रिय मर जाता है, अथवा कोई ऐसा प्रियभोग इसके सामने उपस्थित हो जाता है, जिसका संस्कार अभ्यासदशा से पहले इसमें संचित हो रहा है। उस संचित समानसंस्काराकर्षण से यदि इसका अभ्यासरतमन उस मृत्यु-संस्कार, किं वा भोगसंस्कारसंयुक्त हो जाता है तो तत्काल मन अशान्त हो पड़ता है। स्थिर प्रज्ञा, किं वा स्थिरभाव के क्रमिक भाव से युक्त स्थिरप्रायप्रज्ञा का अपहरण हो जाता है। इस प्रकार जीवन-दशा में कई बार ऐसे अवसर उपस्थित हुआ करते हैं। धीर भी ऐसे अवसरों पर कम्पित हो जाता है। अवसरों को रोकना असंभव है। भला, जन्म-मृत्यु-भोगादि प्राकृतिक प्रवाहों को कैसे रोका जा सकता है? इस प्रकार संसार में रहने वाली आसक्ति से युद्ध करते हुए आगे बढने वाले योद्धा को मध्य-मध्य में इन आक्रमणों का भी सामना करना पडता है। यदि इन से संभल गए तो बेड़ा पार है। नहीं तो फिर नहीं ही है। बस-**"योगारूढ का मन क्यों विचलित हो जाता है"**? इस प्रश्न का यही समाधान है। इस क्षुद्र आक्रमणों से बचने का क्या उपाय? आगे का श्लोक इसी "क्या" का समाधान करता है।

—४—

उक्त विषम परिस्थितियों से बचने का एकमात्र उपाय वही है, जो कि पूर्व के पांचवे उपदेश में विस्तार से बतलाया जा चुका है। मत्परतापूर्वक इन्द्रियसंयम ही ऐसे अवसरों पर हमारा रक्षक है। अभ्यासी का मन तो प्रत्यग्ब्रह्म की ओर रहता है एवं इन्द्रियाँ विषयों की ओर रहती हैं। दोनों काम चलते रहते हैं। इस स्थिति को जैसे बने तैसे आत्मसंयम द्वारा सुरक्षित रखिए। इन्द्रियों को विषयों से मत हटाइए, मन को इन्द्रियों पर मत जाने दीजिए। ऐसी अवस्था में यदि आप यह प्रश्न करें कि बिना मन के इन्द्रियाँ विषयों पर जाएँगी ही कैसे? इस प्रश्न का समाधान उत्थिताकांक्षा-उत्थाप्याकांक्षा-रूप कामद्वैविध्य से पूर्व के प्रकरणों में विशेषतः-**"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"**-इस प्रकरण में किया जा चुका है। यहाँ केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि अभ्यासनिष्ठ में उत्थाप्याकांक्षा निवृत्त हो जाती है, केवल आत्मकाममूला उत्थिताकांक्षा जागृत रहती है। जिस प्रकार असंग कृतात्मा (प्रत्यग्ब्रह्म) सर्वत्र विभूतिसम्बन्ध से रहता हुआ भी सबसे अलग रहता है—(**असङ्गो ह्ययं पुरुषो, न सज्जति, न व्यथते, न रिष्यति**), एवमेव आत्मकामरूप उत्थिताकांक्षा की कृपा से आत्मपरायण बना हुआ अन्तर्भावापन्न (अन्तर्मुख) यह मन विभूतिसम्बन्ध से आत्मकामनाद्वारा सब इन्द्रियों को तत्तद्विषय-भोग में प्रवृत्त रखता हुआ भी स्वयं उनसे अलग रहता है। इन्द्रियों को केवल इन्द्रियार्थों (पराग्ब्रह्म) के लिए चारों ओर से संयत रखते हुए, मन की उत्थिताकांक्षा से विभूतिसम्बन्ध द्वारा इनका सञ्चालन करते हुए स्वयं मन को अन्तर्मुख बनाए रहिए। बस, आपके सारथिबुद्धि की सारी शक्ति यहीं, इसी

बिन्दु पर खर्च होनी चाहिए। बुद्धिबल ही मन को ऐसे झंझावातों से बचाएगा। जब भी कभी कोई आपत्ति आए, जब भी किसी विषय की ओर मन झुकना चाहे, तत्काल बुद्धि को बीच में डाल दीजिए। बुद्धि सदसद्विवेक द्वारा तत्काल गिरते हुए मन को संभाल लेगी। बात साधारण भी है, जटिल भी है। परन्तु क्या किया जाए, सिवाय इसके और उपाय भी क्या है? जो धीर ऐसे अवसरों में बुद्धिबल द्वारा संभलते रहते हैं, उनका मन कभी इन्द्रियपाश में बद्ध नहीं होता। इनकी प्रज्ञा सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहती है। कोई मरो, कोई जीओ, कुछ भी हो सदा एक रस रहते हैं। सर्वथा आत्मबल-युक्त बुद्धिबल का संयम अपेक्षित है। अध्यात्मविद्याधिगम, साधु-संगति, वासना-परित्याग, चञ्चलवृत्ति-लक्षण प्राणस्पन्दनिरोध, ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, सततकर्म्मानुष्ठान, सम्यग्ज्ञानलक्षण सदसद्द्वन्द्वविवेक, आदि में दृढतापूर्वक रति रखने से बुद्धि सबला बनती है। सबलबुद्धिरूप अंकुश से मत्त मन वश में किया जा सकता है। बिना बुद्ध्यंकुश मन को अभ्यास में स्थिर रखना कठिन ही नहीं, अपितु, असंभव है। भगवान् ने थोड़े से अक्षरों में जिस उपाय का विश्लेषण कर डाला है, उपनिषत् ने विस्तार के साथ उसी उपाय का उपबृंहण किया है—देखिए, इस सम्बन्ध में उपनिषत्श्रुतियाँ क्या कहती हैं—

१—सत्येन लक्ष्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्म्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥[1]

१—वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मताः ॥

२—त्रय एवं समं यावन्नाभ्यस्ताश्च पुनः पुनः ।
तावन्न पदसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥

३—एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीर्तिता इव ॥

४—त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥

५—जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥[2]

---

१ मुण्डकोप० ३।१।५। २ मुक्तिकोप० २।१०-१४।

६–तस्मात् सौम्य! प्रयत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेव समाश्रय ।।

७–तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः ।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते ।।

८–मनोनिर्वासनीभावमाचराशु महाकपे ।
सम्यगालोचनात् सत्याद् वासना प्रविलीयते ।।

९–वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् ।
वासनां संपरित्यज्य मयि चिन्मात्रविग्रहे ।।

१०–यस्तिष्ठति गतव्यग्रः सोऽहं सच्चित्सुखात्मकः ।
समाधिमथ कार्याणि मा करोतु करोतु वा ।।

११–हृदयेनात्तसर्वेहो मुक्त एवोत्तमाशयः ।
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्म्मभिः ।।

१२–वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः ।
प्रवर्तते बहिःस्वाऽर्थे वासनामात्रकारणम् ।।

१३–अयत्नोपनतेष्वक्षि दृग्द्रव्येषु यथा पुनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ।।

१४–द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ।।

१५–असङ्गव्यवहारत्वाद् भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ।।

१६–अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ।।[1]

१ मुक्तिकोप० २।१५ से २० एवं २२,२३,२७,२८,३० ।

१७—सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिदं स्थितम् ॥

१८—तावन्निशीव वेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥

१९—प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥

२०—हस्तं हस्तेन संपीडच दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥

२१—उपविश्योपविश्यैकां चिन्तकेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥

२२—अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गतिरेव च ॥

२३—वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥[1]

ध्यान रहे, उपनिषत् उस कल्पित हठयोग का भी पक्षपाती नहीं है, जिसमें कि बलात्कार से इन्द्रियों का दमन करने का विधान है। कर्म्मत्यागलक्षणसंन्यासमार्ग से सम्बन्ध रखने वाला कायक्लेशात्मक हठयोग तो उपनिषत् की दृष्टि में सर्वथा निन्दनीय है। उपनिषत् केवल शान्तिपूर्वक बुद्धि-अङ्कुश द्वारा आत्मसंयमपूर्वक मन के नियन्त्रण का ही आदेश देती है। महासत्र-कर्म्मानन्यता ही मनःसंयम की मूलभित्तियाँ है। कर्म्म में अनन्यभाव से जम कर बैठ जाना ही महासत्र है। कर्म्मानन्यता कभी मन को इन्द्रिय एवं तद्गृहीत अर्थों में बद्ध नहीं होने देती। लक्ष्य पर ही दृष्टि रहे, प्रमाद को अवसर न मिले, बस, सफलता सामने धरी है। प्रणवमूर्ति बुद्धिरूप धनुष पर कर्म्मात्मारूप शर का सन्धान करो। प्रत्यग्ब्रह्म को लक्ष्य बनाओ। लक्ष्य और शर को एक कर डालो। प्रमाद को आने मत दो। लक्ष्य विद्ध हो गया। इसी लक्ष्यवेधनिपुणता से अर्जुन ने गुरुद्रोण का आशीर्वाद प्राप्त किया था। इसी प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

---

१ मुक्तिकोप० २।३६-३७-४०-४१ से ४५।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥१॥[1]

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥२॥[2]

—५—

ब्राह्मी स्थिति किस उपाय से किसे प्राप्त हो सकती है ? कौन मूढधी इस ब्राह्मी स्थिति से वञ्चित रहता है ? ब्राह्मी स्थिति का अभ्यास करने वाले युञ्जानयोगी को किन-किन विघ्नों का सामना करना पड़ता है, उन विघ्नों के निराकरण का क्या उपाय है ? पाँच श्लोकों से भगवान् ने अपनी रहस्यपूर्ण संक्षिप्त किन्तु गभीराशया भाषा से इन्हीं प्रश्नों का समाधान किया है । अभ्यासयोग के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था वह कहा जा चुका । अब भगवान् सामान्यदृष्टि से दोनों प्रकार के अधिकारियों का दिग्दर्शन कराते हुए, परोक्षविधया अर्जुन को उत्तमाधिकारीपद पर आरूढ रहने का सङ्केत करते हुए कहते हैं—

६—"या निशा सर्वभूतानाम्"

"मन को इन्द्रियों के अधिकार में डाल देने से प्रज्ञा अस्थिर हो जाती है, इन्द्रियों को मन के अधिकार में डाल देने से प्रज्ञा स्थिर हो जाती है"—यह पूर्व में कहा गया है । इसी भेद के कारण संसार में **आत्मवशेन्द्रिय, इन्द्रियवशात्मा** भेद से संसार के मनुष्य दो भागों में विभक्त हो जाते हैं । आत्मवशेन्द्रिय शान्त (कृतात्मयुक्त) विधेयात्मा है एवं इन्द्रियवशात्मा क्षुब्ध (अकृतभावापन्न) विधेयात्मा है । शान्त पुरुष **संयमी** कहलाते हैं, क्षुब्ध मनुष्य **"संसारी"** कहलाते हैं । एक ने जन्म-मृत्यु-कर्म्म-फलरूप संसरण का संयमन कर डाला है । दूसरा दल संसरणचक्र में फँसा हुआ है । दोनों का लक्ष्य सर्वथा विदूर है । एक की दृष्टि अन्तरतम प्रत्यग्ब्रह्म पर है, दूसरे की दृष्टि बहिस्तम पराग्ब्रह्म पर है । संसारी केवल पराग्ब्रह्मलक्षण विज्ञान का अनुयायी बन कर प्रत्यग्ब्रह्मसम्पत्ति से च्युत होता हुआ समत्वयोग से वञ्चित हो रहा है । उधर संयमी रागद्वेषवियुक्तिपूर्वक इन्द्रियों के द्वारा विषयरूप पराग्ब्रह्म का एवं अन्तर्म्मन द्वारा संयमपूर्वक प्रत्यग्ब्रह्म का एवं दोनों का संग्राहक बनता हुआ समत्वयोग में प्रतिष्ठित हो रहा है । प्रकृत श्लोक अनुगमभाव से सम्बन्ध रखता है, अतएव श्लोकस्थ निशा एवं जाग्रत् भावों का कई प्रकार से समन्वय किया जा सकता है ।

१-साधारण मनुष्य जिसे अन्धकार कहते हैं, वैज्ञानिक मनुष्यों की दृष्टि में वह प्रकाश है एवं साधारण मनुष्य जिसे प्रकाश कहते हैं, एक वैज्ञानिक की दृष्टि में वह अन्धकार है । निशा अन्धकार का सूचक है, जागृतिभाव प्रकाश का सूचक है । तात्पर्य्य कहने का यह है कि विद्वान् और मूर्ख की परीक्षा

---

१ मुण्डकोप० २।२।३ । २ मुण्डकोप० २।२।४ ।

प्रणाली सर्वथा विभिन्न रहती है। सामान्यमनुष्य इन्द्रियदृष्ट भावों को ही सत्य मान बैठते हैं, उधर विशेषपुरुष विज्ञानदृष्ट (बुद्धिदृष्ट) भावों को सत्य मानते हैं। लौकिक मनुष्यों का सारा व्यवहार इन्द्रियदृष्टि पर अवलम्बित है। इन्द्रियाँ मन के द्वारा सञ्चालित होती हैं। मन सोमप्रधान बनता हुआ कृत है, अतएव सत्यभाव से वञ्चित है, जैसा कि पूर्व के छठे उपदेश में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ऐसी दशा में—"प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्"—इस लक्षण का ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारदृष्टिपरायण लौकिकमनुष्य व्यवहारदृष्टि से भले ही अपने ऐन्द्रियक ज्ञान को सत्य समझने का अभिमान करता रहे, परन्तु परमार्थदृष्टि से, तात्त्विक दृष्टि से, इसकी यह दृष्टि सर्वथा मिथ्या है। लौकिक मनुष्य मस्तक से ऊपर के आकाश को ऊर्ध्व (ऊँचा) कहता है, पाद के अधः भाग को अधः (नीचा) कहता है। परन्तु एक वैज्ञानिक की दृष्टि में वर्त्तुल खगोल में पहले तो कोई ऊँचा-नीचा है ही नहीं, यदि पार्थिव प्रजा की अपेक्षा कोई ऊँचा-नीचा है भी तो वह उत्तर-दक्षिण दिक् ही है। उत्तरध्रुव-प्रदेशोपलक्षिता दिक् ऊर्ध्वा दिक् है। पृथिवी की उन्नत सुमेरु बिन्दु इसी ध्रुव से बद्ध है। दक्षिण ध्रुवोपलक्षिता दिक् अधोदिक् है। पृथिवी की अवनत कुमेरु विन्दु इसी ध्रुव से बद्ध है। पृथिवी को सामान्य मनुष्य स्थिर समझ रहे हैं, परन्तु एक वैज्ञानिक की दृष्टि में अपने अक्ष की सुमेरु-कुमेरु बिन्दुओं से दोनों ध्रौव विद्युतों से बद्ध भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ एक संवत्सर में सूर्य्य की परिक्रमा लगा आता है। साधारण व्यक्ति स्थिति को गतिशून्य समझते हैं, गति को स्थितिशून्य समझते हैं। परन्तु एक वैज्ञानिक की दृष्टि में सर्वथा स्थित पदार्थ चारों ओर जा रहा है, गतिमान् पदार्थ स्थिति को अपने गर्भ में रखता है। स्थिति का स्वरूप गति पर निर्भर है, यदि स्थिति में से गति का आत्यन्तिक उच्छेद कर दिया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार गति का स्वरूप स्थिति भाव पर अवलम्बित है। यदि गति में से स्थिति का आत्यन्तिक उच्छेद कर दिया जाता है तो वह गति स्थिति रूप में परिणत हो जाती है। साधारण मनुष्य सूर्य्यबिम्ब को श्वेत समझते हैं, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में सूर्य्य घोरकृष्ण है। साधारण मनुष्य एक-दो-तीन-चार-पाँच आदि अर्बुद-न्यर्बुदान्त संख्याओं को सत्य समझने का अभिमान करता है। साथ ही में अपने सिद्धान्तों की सत्यता प्रकट करने के लिए वह—"जिस प्रकार एक और एक 'दो' ही होते हैं, वैसे अमुक सिद्धान्त सर्वथा सत्य है"—इस रूप से संख्या-सत्यता को आगे रखता है, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में एकत्वसंख्या ही सत्य है और सब संख्याएँ केवल कल्पना हैं। जिसे दो कहा जाता है, वहाँ भी—"अयमेकः-अयमेकः"—इत्यादि रूप से एकत्व का ही साम्राज्य है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणादि दिशाएँ नियत हैं। परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में सब पूर्व हैं, सब पश्चिम हैं, सब उत्तर हैं, सब दक्षिण हैं। साधारण मनुष्य की दृष्टि में बर्फ ठंडा है, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में बर्फ अग्नि की प्रतिमा है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में द्रुतभाव पानी का सांसिद्धिक (स्वाभाविक) धर्म्म है, वैज्ञानिक की दृष्टि में द्रुतभाव अग्निसमन्वय की कृपा बनता हुआ आगन्तुक धर्म्म है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में संसार के पदार्थ ही प्रत्यक्ष के विषय बनते हैं, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में स्पृश्यपिण्ड कभी दृश्य नहीं बन सकता, दृश्यपिण्ड कभी स्पृश्य नहीं बन सकता। साधारण मनुष्य की दृष्टि में श्वेत कृष्ण एकाकी रंग हैं, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में सातों जीवित रंगों की समष्टि श्वेत है, सातों मूर्च्छित रंगों की समष्टि कृष्ण रंग है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में लोह ठोस है, कोयला श्लथावयव है। परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में लोह की अपेक्षा कोयला महाठोस द्रव्य है। साधारण मनुष्य

की दृष्टि में पुस्तक का नाम वेद है, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में अग्नि-वायु-आदित्यतत्त्वसमष्टि का नाम वेद है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में अन्त्यज-रजःस्वला आदि के स्पर्श में कोई हानि नहीं है. परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में इनका स्पर्श आत्मपतन का कारण है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रतिमा एक पाषाण है, परन्तु सत्कार्यसिद्धान्तवादी वैज्ञानिक की दृष्टि में पाषाण साक्षात्ब्रह्म की विभूति है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में पाँचों भूत सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में पाँचों एक ही तत्त्व के विकास रूप हैं। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रकाश और अन्धकार परस्पर में प्रतिद्वन्द्वी हैं। वे समझते हैं कि जहाँ प्रकाश रहता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता, जहाँ अन्धकार रहता है, वहाँ प्रकाश नहीं रहता। परन्तु एक वैज्ञानिक की दृष्टि में अन्धकार बिना प्रकाश के नहीं रहता, प्रकाश बिना अन्धकार के नहीं रहता। घोर अन्धकार में भी प्रकाश है। यदि प्रकाश न होता तो आप अन्धकार देख ही नहीं सकते थे। इस प्रकार प्रकाश में भी अन्धकार विद्यमान है। यदि प्रकाश में अन्धकार न होता तो प्रकाशमण्डल के मध्य में प्रतिष्ठित वृक्ष-प्रासादों के आवरण से छायारूप अन्धकार कहाँ से प्रकट होता? साधारण मनुष्य की दृष्टि में संसार मिथ्या है, वैज्ञानिक की दृष्टि में पाप्मा अनृत है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में कर्म्म आत्मा का आगन्तुक धर्म्म है, वैज्ञानिक की दृष्टि में कर्म्म आत्मा का स्वरूप धर्म्म है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, वैज्ञानिक की दृष्टि में इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। साधारण मनुष्य की दृष्टि में अवतार, श्राद्ध, प्रतिमोपासन, तन्त्र, मन्त्र, त्राटक, यन्त्र, भूत, प्रेत, पिशाचादि मिथ्या आडम्बर हैं, वैज्ञानिक की दृष्टि में सब वस्तुतत्त्व ध्रुवसत्य हैं। निदर्शनमात्र है। आप मानवसमाज को प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में साधारण-वैज्ञानिक भेद से इसी प्रकार द्वन्द्वभाव से आक्रान्त देखेंगे। जिस पदार्थ को साधारण मनुष्य जिस दृष्टि से देखता है, वैज्ञानिक की दृष्टि में उस दृष्टि का कोई महत्व नहीं। साथ ही में वैज्ञानिक की दृष्टि पर साधारण भी विश्वास नहीं करते। दोनों एक दूसरे से पृथक् लक्ष्य पर जा रहे हैं। दोनों में कौन सी दृष्टि सत्य है? इस का निर्णयभार हम सदसद्विवेकी पाठकों के कन्धों पर ही डालते हैं। प्रकृत में हमें इन निदर्शनों से यही कहना है कि जो तत्त्व साधारण मनुष्यों के लिए निशा है, अपरोक्ष है, अप्रकाशित है, एक वैज्ञानिक उसी निशा में जागता रहता है। अर्थात् साधारणों के लिए जो तत्त्व अन्धकार में हैं, वैज्ञानिकों के लिए वही तत्त्व प्रकाश है। साथ ही में साधारण मनुष्यों की दृष्टि में अतत्त्वरूप जो तत्त्व प्रकाशित है, एक वैज्ञानिक की दृष्टि में वह अतत्त्वरूप तत्त्व सर्वथा उपेक्षणीय है। वैज्ञानिक की निशा तुच्छत्वमूला है, क्यों कि वह "पश्यतः" (जानकार) है। साधारण की निशा अज्ञानमूला है, क्यों कि वह "अपश्यतः" है। तात्पर्य्य यह हुआ कि साधारण मनुष्य वैज्ञानिकतत्त्वों को न समझते हुए उनके प्रति अन्धकार में हैं एवं वैज्ञानिक मनुष्य साधारण विषयों को उपेक्षणीय समझ रहे हैं। दोनों की निशा भी पृथक् है, दोनों की जागृति भी पृथक् है। तत्त्ववेत्ता वैज्ञानिक शान्त संयमी है, अतत्त्वदर्शी सांसारिक क्षुब्ध संसारी है। संसारी समृद्धानन्द से भी वञ्चित है, शान्तानन्द से भी वञ्चित है। ज्ञान को गर्भ में रखने वाला वैज्ञानिक विज्ञानभाव से पराग्ब्रह्म को अपने अधिकार में रखता हुआ समृद्धानन्द का भी उपभोक्ता बन रहा है एवं प्रत्यग्ब्रह्म लक्षणज्ञान को लक्ष्य बनाता हुआ शान्तानन्दभावमय भी बन रहा है।

॥ ८ ॥

२–सुषुप्तिकाल का निशा से सम्बन्ध है। आत्यन्तिक सुप्ति ही सुषुप्ति है। "नितरां शेते यस्यां प्राणिनः"–ही निशा है। समृद्धानन्द का तो सभी को अनुभव होता है, परन्तु शान्तानन्द अनिन्द्रिय होने से अनुभव से परे की वस्तु है। तटस्थविधया आज भगवान् उस शान्तानन्द की ही थोड़ी सी प्रतिच्छाया बतला रहे हैं, जाग्रदवस्था में बुद्धि को साथ लिए हुए मन इन्द्रियों के द्वारा बहिर्जगत् (विषयजात) में विचरण किया करता है। जब तक मन इन्द्रियों के द्वारा बहिर्विषयों के साथ क्रीड़ा करता रहता है, तभी तक जाग्रदवस्था है। अधिक श्रम से क्लान्त बना हुआ मन इन्द्रियों का साथ छोड़ कर अन्तर्मुख बन जाता है। यही स्वप्नावस्था है। आगे जा कर विज्ञानात्मा के साथ जाता हुआ मन पुरीतति नाड़ी में जाता हुआ आत्मा में लीन हो जाता है, यही इसकी निशालक्षण (नितरां शयनलक्षण) सुषुप्ति अवस्था है। मन की इन तीनों अवस्थाओं का क्रमशः पूर्णिमा-अष्टमी-अमावास्या से सम्बन्ध है। प्रकृति-मण्डल पर दृष्टि डालिए। पृथिवी जिस प्रकार क्रान्तिवृत्त के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, एवमेव दक्षवृत्त के आधार पर चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। पृथिवी के केन्द्र को काटते हुए याम्योत्तर एक रेखा ले जाइए। यही सन्धिस्थान अष्टमी का स्वरूप समर्पक बनता है। जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर (सूर्य्य के विरुद्ध दिक् में) आ जाता है तो सम्मुख रहने वाले सूर्य्य का प्रकाश इस पर पूर्णरूप से पड़ता है। यही पूर्णिमातिथि है। जब चन्द्रमा याम्योत्तर रेखा पर आ जाता है तो आधे भाग पर प्रकाश पड़ता है। यही अष्टमीतिथि है। जब चन्द्रमा पृथिवी के उस ओर (सूर्य्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का पृथिवी की ओर का आधाभाग सर्वथा अप्रकाशित रहता है, सूर्य्यानुगत अर्द्धभाग प्रकाशित रहता है। यही सूर्य्येन्दुसंगमलक्षणा अमावास्या है। पूर्णिमा अमा में आधाभाग प्रकाशित अप्रकाशित रहता है, शुक्ल-कृष्णाष्टमियों में चतुर्थ भाग अप्रकाशित रहता है। शेष तिथियों में कलातारम्य से प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है। वस्तुतस्तु सदा सभी तिथियों में आधाभाग नित्य प्रकाशित रहता है, आधाभाग नित्य अप्रकाशित रहता है। केवल दृश्यमण्डल की परिस्थिति के तारतम्य से तत्तत्तिथियों में उक्त-अर्द्ध-चतुर्थ-कलाभेद से प्रकाश-अप्रकाश का तारतम्य प्रतीत होता है। वक्तव्य यही है कि पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाते हुए चन्द्रमा की कृपा से सूर्य्यानुगति, सूर्य्यविरुद्धदिग्गति, याम्योत्तररेखास्थिति भेद से प्रकृति में अमा-पूर्णिमा-अष्टमी इन तीन प्रधान तिथियों का जन्म होता है–"विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति"–इस अभियुक्तसिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा का जो भाग पृथिवी की विरुद्ध दिक् में रहता है, उसमें पितरप्राण का साम्राज्य है। एक बात विशेषरूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस प्रकार पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती हुई आगे बढ़ती है, वैसे चन्द्रमा का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। चन्द्रमा केवल दक्षवृत्त पर एक ही रूप से घूमता है। इस स्थिति के कारण अमावास्या में पितरप्राण का पृथिवी पर आगमन सिद्ध हो जाता है। पूर्णिमा पितरों की आधीरात है, कृष्णाष्टमी प्रातःकाल है, अमावास्या मध्याह्न है, शुक्लाष्टमी सायंकाल है। प्रकाशित प्राण का नाम देवता है। इस सामान्यपरिभाषा के अनुसार पूर्णिमा देवताओं का मध्याह्न है, कृष्णाष्टमी सायंकाल है, अमावास्या आधीरात है, शुक्लाष्टमी प्रातःकाल है। उक्त तीनों जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं के साथ देवप्रधान तिथियों का ही सम्बन्ध है। इस प्राकृतिक परिस्थिति का अध्यात्म के साथ समन्वय कीजिए। हृदय में विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है। यही आध्यात्मिक स्थिरसूर्य्य है। "एकविंशो वा इत आदित्यः"–के

अनुसार भूपिण्ड के २१वें अहर्गण पर सूर्य्यसत्ता मानी जाती है। भूपिण्ड–"**यथाग्निगर्भा पृथिवी**"–के अनुसार अग्निमय है। उधर कण्ठप्रदेश से संलग्न मुखस्थानीया वाक् साक्षात् अग्नि है, जैसा कि–"**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्**"–"**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**"–इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। वाग्रूप वही स्थान भूलोक है। इससे २१वें पर (हृदयस्थान पर) विज्ञानरूप सूर्य्य प्रतिष्ठित है। हृदय से नाभि तक एक प्रादेश है, नाभि से कण्ठ तक एक प्रादेश है। एक-एक प्रादेश १०½–१०½ अंगुल का है। संभूय हृदय से कण्ठोपलक्षित वाग्रूप भूलोक तक २१ अंगुल हो जाते हैं। वाग् से ठीक २१वें अंगुल पर ही हृदय है, यहीं विज्ञान (बुद्धि) सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इस प्रकार–**एकविंशो वा इत आदित्यः**"–यह उक्त श्रुति अधिदैवत-अध्यात्म दोनों में समानरूप से चरितार्थ हो रही है। विज्ञानसूर्य्य से प्रज्ञान (मन) चन्द्रमा संयुक्त है। यहाँ से चन्द्रमा (मन) ऊपर की ओर जाता हुआ जब ब्रह्मरन्ध्र पर चला जाता है तो पूर्णिमा का उदय होता है। मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र से नीचे एवं कण्ठ से ऊपर सब ज्ञानेन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मरन्ध्रस्थान हृदयस्थविज्ञानसूर्य्य के ठीक सामने है। जब इस स्थान पर मन आ जाता है तो इसके वाग्रूप पृथिव्यनुगत भाग पर उस हृदयस्थ विज्ञानसूर्य्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रकाशित मन से अधोऽवस्थित सब इन्द्रियाँ प्रकाशित हो कर अपना-अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। यही आध्यात्मिकी पूर्णिमा है। यही मन की जाग्रदवस्था है। क्रमशः मन ब्रह्मरन्ध्र से नीचे उतरने लगता है। श्रोत्र पर आता हुआ चक्षु पर आता है। जब चक्षु से कुछ नीचे आ जाता है तो आँखें झपकने लगती है। यही सुषुप्ति का आरम्भ है। आते-आते जब वागिन्द्रिय पर मन आ जाता है तो ऊपर अंधेरा हो जाता है, सब इन्द्रियाँ अपना काम छोड़ देती हैं। केवल वागिन्द्रिय पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। इस अवस्था में वागिन्द्रिय पर थोड़ा सा अनुग्रह करता हुआ मन तेजानाड़ी के आधार पर उरःस्थल में प्रतिष्ठित सांस्कारिक विषयों पर पूर्ण प्रकाश डालता है। उरःस्थल वायुप्रधान अन्तरिक्षलोक है। इस समय यही प्रकाशित रहता है। यही आध्यात्मिकी अष्टमी है। सयुक् वाक् ही अष्टमी तिथि की स्वरूपसम्पादिका है, जैसा कि–"**वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना**"–इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यही स्वप्नावस्था है। प्रकाशित सांस्कारिक विषयों के साथ मन क्रीड़ा करता रहता है। इसी क्रीड़ा का नाम स्वप्नदर्शन है। यह स्मरण रखिए कि जाग्रदवस्था में मन जिन विषयों का साक्षात्कार करता है, स्वप्न में उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है। बिना देखे, सुने, सूंघे, बोले हुए का कभी स्वप्न नहीं आ सकता। आप प्रश्न करेंगे, जाग्रदवस्था में हमने कभी अपने आपको मुर्दा बना हुआ न देखा था, परन्तु हम देखते हैं कि स्वप्न में हम कभी-कभी मर जाते हैं, अपने आपको मुर्दा देखने लगते हैं। जाग्रदवस्था में हम कभी उडे नहीं थे, परन्तु स्वप्न में उडने लगते हैं। जाग्रदवस्था में कभी समुद्र में तैरे नहीं थे, परन्तु स्वप्न में समुद्र में तैरने लगते हैं। ऐसी अवस्था में यह कैसे माना जा सकता है कि जिन्हें हम जाग्रत् में देखते हैं, उन्हीं का स्वप्न होता है? उत्तर में यही कहना है कि जाग्रदवस्था में हमने मुर्दे को देखा था, पक्षी को उड़ता देखा था, किसी को समुद्र में तैरते देखा था। इन सबका संस्कार उरःस्थल में खचित हो गया। हम सदा विद्यमान हैं ही। होता यह है कि उरःस्थित वायु की कृपा से संस्कारों के सम्बन्ध में व्यतिक्रम हो जाता है। मुर्दे का संस्कार हमारे साथ युक्त हो जाता है, बस, हम अपने आपको मुर्दा समझने लगते हैं। उडने का संस्कार हमें उडा देता है। तैरने का संस्कार हमें तैरा देता है। यह सब वायु की लीला है, अतएव वातप्रकृतिप्रधान मनुष्य को अधिक स्वप्न आया

करते हैं। यही नहीं, यदि सोते समय छाती पर हाथ रख दिया जाता है तो हाथ के प्रसर से उरःस्थित वायु और भी अधिक कुपित हो जाता है। इस दशा में संस्कारों का बडा विषम सम्बन्ध हो जाता है। फलतः बुरे-बुरे स्वप्न आने लगते हैं। इसीलिए इस देश की परमवैज्ञानिक आर्यललनाएँ सोते समय बच्चों के हाथ छाती पर से उठा दिया करती है। इसी स्वप्नविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

१—न तत्र रथा, न रथयोगा, न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान्, रथयोगान्, पथः सृजते। न तत्रानन्दामुदःप्रमुदो भवन्ति, अथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः स्रवन्त्यः पुष्करिण्यो भवन्ति, अथ वेशान्ताः स्रवन्तीः पुष्करिणीः सृजते। स हि कर्त्ता। तदप्येते श्लोकाः—

१—स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनैरति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एक हंसः॥

२—प्राणेन रक्षन्नपरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एक हंसः॥

३—स्वप्नान्तऽउच्चावचीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥

४—आराममस्य पश्यन्ति, न तं कश्चन पश्यति-इति।
तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते॥

५—अथो खल्वाहुः—जागरितदेश एवास्यैषः।
यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त इति॥[1]

स्वप्न के अतिरिक्त वाग्व्यापार भी होता रहता है। स्वप्न में मुख से बड़-बड़ाता रहता है। पूर्ण प्रकाश नहीं है, इसलिए स्वप्नवाक् अविस्पष्ट होती है—"सुप्तोऽहं किल विललाप"। थोड़े समय पीछे मन और नीचे उतरता है। उतरते-उतरते जब वह विज्ञानसूर्य्य के समीप पहुँच जाता है तो उरःस्थलस्थित संस्काररूप विषय भी अन्धकार में निमग्न हो जाते हैं। घोर अन्धकार छा जाता है।

१ शत० ब्रा० १४।७।१।११-१६।

यही आध्यात्मिकी अमावास्या है। यही मन की सुषुप्ति है। केवल विज्ञानप्राण जागृत रहता है– "**प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति**"–इस प्रश्नोपनिषत्–श्रुति के अनुसार प्राणाग्नि की कृपा से श्वास-प्रश्वास व्यापार होता रहता है। इसी प्राण के लिए–"**असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति**"–"**प्राणेन रक्षन्नपरं कुलायम्**"–यह कहा जाता है। सुषुप्ति में मन बुद्धि के साथ उसी चिदात्मारूप प्रत्यग्ब्रह्म में लीन हो जाता है। केवल ब्रह्मानन्द शेष रह जाता है। यही मन की निशालक्षणा सुषुप्ति-अवस्था है। इस समय यह अपने आत्मस्वरूप में अपीत (डूबा) रहता है, अतएव इस अवस्था के लिए–"**स्वपिति**"-(**स्वात्मनि-लीनो भवति-सो रहा है**)-यह कहा जाता है। विषयसंस्कार हैं, इन्द्रियाँ हैं, परन्तु मन विशुद्धरूप में लीन होता हुआ सब से पृथक् है। बस, जो स्वरूप निशालक्षणा स्वपितिरूपा सुषुप्त्यवस्था का है, एक संयमी की वही दशा रहती है। निशा में विषयों की उपरति है। उसी प्रकार संयमी अनासक्त भाव से इन्द्रियों द्वारा विषयों में रत रहता हुआ भी उस आत्मानन्द में डूबा रहता है। सम्पूर्ण प्राणियों की जो निशावस्था है, वही संयमी की जाग्रदवस्था है। इसका तात्पर्य्य यही है कि सुषुप्ति में आनन्द का जो अनपेक्ष स्वरूप है, संयमी उसी अनपेक्ष आनन्द में लीन हैं। साथ ही में सुषुप्तिवत् संयमी सब संस्कारों से निर्लिप्त रहता है। यह तो हुआ–"**निशा**"–का विचार। अब–"**जाग्रति**"–का विचार कीजिए।

जाग्रदवस्था में मन पूर्वकथनानुसार इन्द्रियों को जागृत करता हुआ विषयाभिमुख बन जाता है। विषयों में आसक्त हो जाता है। यही प्राणियों का जाग्रदवस्थालक्षण अहःकाल है। इस काल को संयमी निशा समझते हैं। अर्थात् वे कभी विषयों से लिप्त नहीं होते। साधारण मनुष्य जाग्रदवस्था में जिस प्रकार विषयों में आसक्त रहते हैं, वैसे एक संयमी विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी उसी निशारूप कैवल्य आनन्द में निमग्न रहता है। निशा इनके जागृति है, जागृति इनके लिए निशा है। निशा-जागृति दोनों भेद साधारण प्राणियों पर असर डालते हैं। संयमी के लिए जागृति निशा है, निशा जागृति है। दोनों निशा हैं, दोनों जागृति हैं। जागृति ही है, निशा ही है। न जागृति ही है, न निशा ही है। सब कुछ है, सब कुछ नहीं हैं। दोनों तरफ से पूर्णता है। यही मन्त्रार्थ का दूसरा समन्वय है।

॥ २ ॥

३–भौतिक विषय तमोगुण की प्रधानता से उत्पन्न हुए हैं, अतएव इनमें इन्द्रियों का विकास नहीं है। यही इनकी जड़ता का मुख्य कारण है। भौतिक विषय जड़ हैं, इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि इनमें आत्मतत्त्व नहीं है। "**ईशावास्यमिदं सर्वम्**"–के अनुसार सर्वव्यापक चिदात्मा विभूति-सम्बन्ध से सबका आत्मा बन रहा है। एक बुद्धियोगी संयमी भी इन्द्रियद्वारा (रागद्वेषवियुक्त बन कर) इन तमःप्रधान भूतों में प्रवृत्त रहता है एवं अकृतात्मा संसारी भी इन में प्रवृत्त रहता है। प्रवृत्त्यपेक्षया दोनों का भूतवर्ग के साथ समान सम्बन्ध है। अन्तर केवल आसक्ति-अनासक्ति में है। भूतों में रहने वाला आत्मा ज्योतिर्भाग है, स्वयं भूतभाग तमोभाग है। यही सम्पूर्ण भूतों की आत्मावरणलक्षणा "**निशा**" है। चूंकि संयमी की दृष्टि भूतगत आत्मांश पर रहती है, वह आत्मभावना से ही भूतों में प्रवृत्त रहता है, अतएव भूतों की वह निशा (तमोभाग) **संयमी के जाग्रत्** आत्मा को आवृत करने में समर्थ नहीं होती।

निशारूपभूतभाग से नित्यसंश्लिष्ट रहता हुआ भी संयमी रागद्वेषभावरूप अनासक्ति के प्रभाव से निशारूप सुषुप्ति आवरण से बचता हुआ उसी प्रकार नित्य जाग्रत् रहता है, जैसा कि वह ईश निशारूप विश्व के पर्व-पर्व में व्याप्त रहता हुआ भी स्वस्वरूप से सदा जाग्रत् रहता हैं। सुप्तभूतों में नित्य जाग्रत् इसी ईश का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् वेदव्यास जी कहते हैं—

काल पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥[1]

भूतों की निशा (तमोभाग) इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। कारण, निशाभाव में रहते हुए भी निशान्तर्गभित आत्मप्रभाव से निशा में इसकी आसक्ति नहीं है। बुद्धियोग के प्रभाव से इसने भूतगत जाग्रल्लक्षण उस गूढोत्मा को प्राप्त करते हुए आत्मा की जाग्रन्निष्ठा प्राप्त करली है। स्वयं भूत जड़ है, तम है, निशा है, सुषुप्ति है। भूतों में निगूढ आत्मा नित्यजाग्रत् चिदंश है। इसी भूतगर्भित आत्मा को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥[2]

महामाया के कारण गूढोत्मा अन्तर्गूढ बन कर हमारे लिए अप्रकाशित हो रहा है। सूक्ष्मद्रष्टा बुद्धियोगी निशावरणलक्षण मायावरण को हटाते हुए उसके दर्शन कर लेते हैं। **"भूतेषु-भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति"**—इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार धीर युञ्जानयोगी भूतों को लेते हैं, ले कर उनके आत्मभाग को पकड़ लेते हैं, भूतभाग स्वतः छूट जाता है, अमृतत्व प्राप्त हो जाता है। ठीक इसके विपरीत रागद्वेषपरायण संसारी मनुष्यों की दृष्टि भूतान्तर्गत उस आत्मा पर नहीं जाती। वे केवल भूतभाग पर ही विश्राम कर लेते हैं। फलतः भूतसंसर्ग से इनका ज्योतिर्मय जाग्रत् आत्मा भूताविष्ट हो कर मलिन बनता हुआ सुप्त हो जाता है। इस प्रकार निशा संयमियों के लिए (आत्मदृष्टया) जागृति का कारण बनी थी, वही निशा इन संसारियों के लिए सुषुप्ति (मोहनिद्रा) का कारण बन जाती है। निष्कर्ष यह हुआ कि उन्हीं निशारूप भूतों से—**"भूतेषु-भूतेषु निचित्य धीराः"**—के अनुसार संयमी आत्मोद्धार कर लेते हैं, एवं उन्हीं निशारूप भूतों से (आसक्तिवश) एक संसारी आत्मविनाश करा लेता है। सामग्री एक है, परन्तु—**गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः"**—के अनुसार विवेकी के आश्रय से गुण बन जाती है, अविवेकी के आश्रय से दोष बन जाती है। निशारूप भूत संयमियों के लिए निशा नहीं है, उनकी दृष्टि में वास्तविक निशा वह है, जिसमें संसारी मनुष्य जागृत रहते हैं। आसक्ति ही संसारियों की जागृति है। यह अवश्य ही इन संयमियों के लिए निशा है। वे अवश्य इसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। श्लोकोत्तरार्द्ध से इसी बात का स्पष्टीकरण किया गया है।

---

१ महाभारत स्त्रीपर्व अ० २।२४। गणपत कृष्णाजी संस्करण शकाब्द १७८५।
२ कठोप० १।३।१२।

"भूतानां-पाञ्चभौतिकानां विषयाणां तमोगुणमयी या निशा-जाड्यं तत्र रतोऽपि-अनासक्तभावेन संयमी जागर्त्ति। यस्यां चासक्तिरूपायां निशायां-भूतानुगाः संसारिणो जाग्रति, सा तु बन्धनमूलत्वात् बुद्धियोगिनो मुनेः संयमिनः कृते-निशैव"।

भगवान् ने-**"संयमी"-"भूतानि"**-कहा है। इस एकत्व-बहुत्व से भगवान् को यही बतलाना है कि संयमी संसार में इने गिने ही होते हैं, संसारियों की ही विशेष प्रधानता है, जैसा कि-**"मनुष्याणां सहस्रेषु"**-इत्यादि प्रकरण में स्वयं भगवान् ही स्पष्टीकरण करने वाले हैं। इस तृतीय अर्थ में-**"पूर्वार्द्धगत भूतानां"** से **"विषय"** अभिप्रेत हैं एवं उत्तरार्द्धगत **भूतानि** से **"प्राणी"**-अभिप्रेत हैं। शब्दों का कैसा अद्भुत विन्यास है। भगवान् ने संसारियों के लिए उभयपक्ष में निशा को ही प्रधान माना है। **"या निशा सर्वभूतानां"**-से भी यह भूत निशा में ही प्रवृत्त है। **"यस्यां जाग्रति"**-से भी भगवान् को यही बतलाना है कि जिसे इन मूढ़ों ने जाग्रद्भाव मान रक्खा है-वह भी इनके लिए **"निशा"** (यस्यां-निशायां) है। उस निशा में भी संयमी जाग्रत् रहता है, परन्तु यह निशा इनके (संसारियों के) लिए उपेक्षणीय है।

॥ ३ ॥

४-प्रत्यग्ब्रह्म पहली निशा है, पराग्ब्रह्म दूसरी निशा है। प्रत्यग्ब्रह्म पहला अहः, है, पराग्ब्रह्म दूसरा अहः है। संयमी के लिए पराग्ब्रह्म निशा है, प्रत्यग्ब्रह्म अहः है। संसारी के लिए प्रत्यग्ब्रह्म निशा है, पराग्ब्रह्म अहः है। प्रत्यग्ब्रह्म ज्योतिस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है। परन्तु रागद्वेषपूर्वक विषयों में आसक्त रहने वाले, अतएव "भूत" नाम से प्रसिद्ध संसारियों का मन मलिन रहता है। मन की इस कृष्णा अविद्या से बुद्धि का ज्योतिर्भाग भी मलिन हो जाता है। इस कृष्णावरण के कारण यह उस प्रत्यक्-प्रकाश (आत्म-प्रकाश) को देखने में असमर्थ रहता है। जिस प्रकार तिमिरान्ध मनुष्य के लिए रहता हुआ भी सूर्य्यप्रकाश घोर निशा है, अथवा जिस प्रकार स्वचक्षुदोष से उलूक सूर्य्य-ज्योति देखने में असमर्थ होता हुआ दिन को भी निशा ही समझता है, ठीक इसी प्रकार भूतपरायण संसारी की दृष्टि में प्रत्यग्ब्रह्म निशामात्र है। परन्तु एक संयमी के लिए यही निशोपलक्षित प्रत्यग्ब्रह्म जागृतिस्थान है। संसारी के लिए जो आत्मतत्व-"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"-के अनुसार निशातत्त्व है, संसारी जिस आत्मतत्त्व की ओर से सर्वथा बेखबर हैं, संयमी उसी निशा में जागृत रहते हैं। अर्थात् निशोपलक्षित आत्मतत्त्व ही उनका उपास्य है। अपि च पराग्ब्रह्मलक्षण अविद्यारूप जिस निशा में संसारी जागृत रहते हैं, द्रष्टामुनि उसे निशा समझते हैं। आत्मसंयमियों के लिए अहःकालोपक्षिता जाग्रदवस्था है, विषयावरण रात्र्युपलक्षिता सुषुप्ति है। सुषुप्ति में जिस प्रकार कुछ भी भान नहीं होता, एवमेव यह विषयावरणरूपा सुषुप्ति इन संयमियों पर कोई प्रभाव नहीं जमा सकती। इसी प्रकार आवरणविषय संसारियों के लिए अहःकालोपलक्षिता जाग्रदवस्था है, आत्मा निशाकालोपक्षिता सुषुप्ति है। इनके लिए आत्मा अन्धकार में है, इनके लिए विषयसंस्कार अन्धकार में हैं। इस प्रकार प्रत्यक्-पराग्ब्रह्मभेद से संसार में शान्त-क्षुब्ध भेद से दो अधिकारी हैं। क्षुब्ध अधिकारी स्वयं क्षुब्ध होते हुए संसार की भी

अशान्ति के कारण बनते हैं एवं शान्त अधिकारी स्वयं निराकुल रहते हुए संसार की भी शान्ति के कारण बनते हैं—यही तात्पर्य्य है ।

॥ ४ ॥

——६——

७–"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्"

"या निशा सर्वभूतानाम्"–इत्यादि से भगवान् ने दो प्रकार के अधिकारी बतलाए । साथ ही में उन्हें आत्मसंयमपूर्वक कर्म्मप्रवृत्ति का उपदेश दिया । इस उपदेश के अनुसार अभ्यास में आरूढ युञ्जान-योगी की एक दिन उत्थितकामनाएँ भी सर्वथा विलीन हो जाती हैं एवं आगे कामनाओं का उदय भी नहीं होता । यही इसकी ब्राह्मी स्थिति कहलाती है । सातवें श्लोक से उत्थितकामनाओं का विलयन बतलाया गया है, आठवें से कामनाओं का अनुत्थान बतलाया है एवं नवें श्लोक से ब्राह्मी स्थिति पर प्रकरण का उपसंहार करते हुए ब्राह्मी स्थिति से प्राप्त होने वाले निर्वाणफल का दिग्दर्शन कराया गया है ।

अभ्यासमार्ग पर आरूढ रहने वाला चूँकि रागद्वेष का सर्वथा परित्याग कर देता है, अतएव इसमें उत्थाप्याकांक्षा का तो अवसर ही नहीं आता । आत्मकामनारूप उत्थितकामना से ही यह असंगभाव से विषय, किं वा कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है । कर्म्म के जहाँ भगवान् अनन्य मित्र हैं, वहाँ कामना के अनन्य शत्रु हैं । उत्थितकामना हो, अथवा उत्थाप्यकामना हो, भगवान् को तो कामना के नाम से ही शत्रुता है । कारण, कामना आगे जा कर अवश्य ही आसक्ति की जननी बन जाती है । यह ठीक है कि उत्थाप्यकामना ही आसक्ति की जननी है, यह भी ठीक है कि बिना उत्थितकामना के कर्म्म में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । परन्तु भगवान् इस कामना के सम्बन्ध में भी यह संशोधन चाहते हैं कि तुम आत्मकामना की भी चर्वणा मत करो । यदि चर्वणा रही तो यह कामना भी आगे जा कर उत्थाप्यकामना के रूप में परिणत होती हुई एक दिन आसक्ति की जननी बन जाएगी । लोकवृत्त पर दृष्टि डालिए । भगवान् का कथन अक्षरशः चरितार्थ मिलेगा । कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो अपना स्वार्थ छोड कर भगवद्-बुद्धि से कर्म्म में प्रवृत्त रहते हैं । आत्मकामना से ही उनके सब कर्म्म होते हैं । वे इन कर्म्मों से अपना कोई वैय्यक्तिक स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहते । यदि इनके कर्म्म की यहीं सीमा समाप्त हो जाती तो कोई बात न थी । परन्तु कर्म्मरहस्य एवं कामनारहस्य का पूर्णज्ञान न रखते हुए यह उस आत्मकामना की दूसरे शब्दों में भगवत्कामना की स्तुति करने लगते हैं । बात-बात में–"यह सब भगवान् की प्रेरणा है, हम क्या चीज हैं, हम तो तृण को इधर-उधर करने में भी असमर्थ हैं, हमारा यह कर्म्म भगवान् की ही प्रेरणा का फल है, उसी के अनुग्रह से अमुक कृति हम प्रेमी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं, यह भगवान् की ही कृपा का फल है कि······ ······का प्रचार दिन-दिन बढता जा रहा है,"–इस प्रकार के वाक्यों की पुनरावृत्ति किया करते हैं । यह ठीक है कि उनकी इस वाक्यपरम्परा में दम्भ-छल-कपट का लेश नहीं है । वे अपने अहंकार को विशुद्धभाव से दूर करने के लिए ही ऐसा बोलते हैं, बोलना उचित समझते हैं । परन्तु इन भोले बन्धुओं को यह विदित नहीं है कि उनकी यही वाक्य

परम्परा ही आगे जा कर परोक्षरूप से आसक्ति का कारण बन जाती है । इन वाक्यों में तो आसक्ति हो ही जाती है । यह कामासक्ति अवश्य ही कालान्तर में कर्म्मानन्यविघातिका बन जाती है । बार-बार उक्त वाक्यों के पारायण से आसक्तिधर्म्मा मन में इस भाव का उदय हो जाता है कि "देखो ! मैं कैसा अच्छा कर्म्म कर रहा हूँ । राम ! राम !! संसार नाश की ओर जा रहा है । भगवान् इनका भी कल्याण करें" । यही आत्माभिमान है । यही अभिमान कामासक्ति का बीज है । आपको अभिमान का अनुभव नहीं होता । परन्तु पर्दे के पीछे अभिमान उत्पन्न होता रहता है । इस प्रकार ये ही परमार्थी इस अविज्ञात अभिमान की कृपा से दम्भ के चक्र में पड़ जाते हैं । आप उपदेशक बन बैठते हैं । परमार्थ का अभिमान करने लगते हैं । अपने प्रत्येक काम में भगवान् की दया का सम्पुट लगाते रहते हैं । इस प्रकार उत्थित आत्मकामना (भगवत्कामना) संस्मरणातिरेक के कारण भी आगे जा कर उत्थाप्यरूप में परिणत होती हुई एक दिन आसक्ति का कारण बन जाती है । कारण इसका यही है कि आत्मकामना मनोद्वार से ही निकलती है । कामभाव मन को बडा प्रिय है । यदि मन की दृष्टि केवल कर्म्म पर ही रहती है, तब तो वह उस निकलने वाली स्वाभाविक आत्मकामना से युक्त रहता हुआ भी वियुक्त रहता है । यदि कर्म्म के साथ-साथ ही इसकी दृष्टि उस कामना पर भी चली जाती रहती है, उसकी भी यदि चर्वणा करता रहता है तो कामप्रियता से वह उस निष्कामलक्षण आत्मकाम को भी अपने सकामभाव से रंग डालता है । इस दशा में–**"पुनस्तत्रैवालम्बितो वेताल:"**–वाली घटना सर्वात्मना चरितार्थ हो जाती है । चला था कामनाओं का विलयन करने, उलटा कामनाभूत प्रबल हो गया । कामकामी बनते ही वह प्रज्ञास्थैर्य्यं जाता रहा, शान्तिभाव उच्छिन्न हो गया । ऐसी अवस्था में युञ्जानयोगी का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि जहाँ आत्मसंयम द्वारा वह मन को उत्थाप्यकामनाओं से बचाता हुआ अनन्यभाव से कर्म्म में प्रवृत्त रखता है, एवमेव उस स्वाभाविक उत्थितकामना की ओर चर्वणा करने के लिए भी वह उसे न जाने दे । प्रत्येक दशा में कर्म्मानन्यता पर ही दृष्टि रहे । स्वयं कामना कर प्रवृत्तिनिमित्त कभी न बने । कामनाओं को कामनाओं के लिए छोड दे । जो काम प्रकृति कर रही है, उसकी चर्वणा करना, स्तुति करना भी अनधिकारचेष्टालक्षण एक प्रकार का अकर्म्म ही है । **"मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि"** । अकर्म्म का संग प्रत्येक दशा में हानिकर ही है । यदि इस प्रकार तुम उत्थितकामनाओं की ओर से भी उदासीन रहे तो एक दिन वे कामनाएँ भी विशुद्ध आत्मरूप में परिणत हो जाएँगी । **"अमुक कामना आत्मा की है"**- यह समझना भी तो आत्मव्यापकता से वञ्चित होना है । जब तक यह द्वैत है, तब तक प्रज्ञा कभी स्थिर नहीं है । **"यदुदरमन्तरं कुरुते अथ भयं भवति"** । **"आत्मा की कामना"**- इस वाक्य के साम्राज्य में अभी तक आत्मा अपूर्ण है, अतएव अचल-प्रतिष्ठा से शून्य है, अतएव च कामनायुक्त बन कर अशान्त है । पराशान्तिलक्षणा पूर्णा स्थितप्रज्ञतारूपा ब्राह्मी स्थिति तुम्हें तभी प्राप्त होगी, जब कि तुम काम और आत्मा का पार्थक्य हटा दोगे । ईश्वर ने कब क्या कामना की, क्या किसी ने यह प्रत्यक्ष देखा है ? कोई उसकी कामना को नहीं देख सकता । कभी वह अपनी कामना का एडवरटाइजिंग नहीं करता । उसका विश्वकर्म्म ही उसकी कामना का सूचक है । कर्म्म ही उसकी कामना है । ईश्वर, उसका काम, उसका कर्म्म तीनों का त्रित्व तिरोहित है । कर्म्म ही काम है, ईश्वर ही कर्म्म है । काम ही ईश्वर है । कर्म्म ही ईश्वर है । ईश्वर ही काम है । प्रत्यक्षदृष्ट कर्म्म को ही आप साक्षात् ईश्वर समझिए, इसे ही साक्षात् काम समझिए । यही उसकी अचल प्रतिष्ठा है । अभी आप यह समझ रहे हैं कि मैं कर्म्म करता हूँ, कामना

ईश्वर की है । यही भेद तो सर्वनाश का कारण है । वस्तुतः न आप कुछ करते, न ईश्वर कामना करता, न आप कुछ हैं । **"नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्"**–इस सिद्धान्त को सामने रखते हुए ही कर्म्मभाग में प्रवृत्त रहिए । आपको क्या मालूम भगवान् कब क्या कामना करते हैं ? कब क्या हो जाता है ? फिर उस भगवत्कामना के यशोगान में अनधिकार चेष्टा क्यों ?

समुद्र बनिए, तरंगे मत बनिए, नदियाँ मत बनिए । समुद्र क्या है ? आप जानते हैं ? नहीं । यदि जानते होते तो इतनी गलती न करते । समुद्र किसका नाम है ?–इसका उत्तर आपको यजुर्वेद संहिता के–**"समुद्रं छन्दः"**–इस वाक्य से मिलेगा । इसी समुद्रछन्दपरिज्ञान से आप नद-नदियों का स्वरूप जान सकेंगे । वस्तु के आवपन को ही वैदिक भाषा में "छन्द" कहा जाता है । आवपन सर्वतः आधार है, आधार एकतः आधार है । मेज पर पुस्तक है । यहाँ मेज और पुस्तक का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है । परन्तु वही पुस्तक आकाश में प्रतिष्ठित है । इसी को आवपन कहा जाता है । आवपन बाहर भीतर सब ओर से प्रतिष्ठा बनता है । बस, पदार्थ की चारों ओर से प्रतिष्ठा बनने वाला, वयरूप पदार्थ को चारों ओर से बद्ध रखने के कारण "वयोनाध" नाम से प्रसिद्ध सर्वतः आधाररूप इस आवपन को ही "छन्द" कहा जाता है । प्रत्येक वस्तु छन्द से छन्दित रहती है । छन्दोभेद से ही वस्तुभेद होता है । पानी सर्वत्र है, परन्तु छन्दोभेद से ही समुद्र-नद-नदी-वापी-कूप-तड़ाग-पुष्करिणी आदि अनेक नाम हो जाते हैं । जड़-चेतनरूप सभी पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं । केवल छन्दोभेद से इनमें भेद हो रहा है । छन्द एक प्रकार का आलम्बन है । योगमायारूप छन्द विश्व के अवान्तरपदार्थों का छन्द है एवं इन सब छन्दों को अपने गर्भ में रखने वाला महामायावच्छिन्न अव्ययपुरुष सब का आलम्बन है । अव्ययपुरुष की इसी सर्वालम्बनता का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं–

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥[1]

इसी को महर्षि ऐतरेय ने–**"छन्दःपुरुष इति यमवोचाम"**–इत्यादिरूप से छन्दःपुरुष नाम से सम्बोधित किया है । अव्ययपुरुष विश्वापेक्षया असीम है, अनन्त है । उधर अप्विभागों में समुद्र भी अनन्त है । इसी रहस्य को बतलाने के लिए मन्त्रश्रुति ने अव्यय को–**"समुद्रछन्द"**–नाम से व्यवहृत किया है । समुद्ररूप अव्यय सर्वव्यापक बनता हुआ आपूर्यमाण है, अचलप्रतिष्ठ है । जिस प्रकार अचलप्रतिष्ठ आपूर्यमाण शान्त समुद्र में चारों ओर से आ-आ करके अपने-अपने स्वतन्त्र नाम रूप कर्म्मों का परित्याग करती हुई नदियाँ समुद्ररूप में ही परिणत हो जाती हैं, ठीक इसी प्रकार प्रत्यग्ब्रह्माऽपर-पर्य्यायक अव्ययरूप समुद्र में उस बुद्धियोगी की सारी उत्थित कामनाएँ अपना वैयक्तिक भाव छोडती हुई अव्यय में परिणत हो जाती हैं । जब तक कामना स्वतन्त्र है, तब तक वह कामना है । अव्यय के साथ युक्त होते ही वह कामना उसी प्रकार अव्ययरूप में विलीन है, जैसे कि एक लोटे का पानी समुद्र में जा कर समुद्र में ही विलीन हो जाता है । इसी कामविलयन का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

१ कठोप० १।२।१७ । 'यो यदिच्छति तस्य तत्'–पाठभेद–'ब्रह्मलोके महीयते' ।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥[1]

निष्कर्ष यह हुआ कि उत्थितकामना की जब तक चर्वणा रहती है, तब तक वह भी दुःख का ही मूल बनी रहती है, अतः उसकी भी चर्वणा छोड देनी चाहिए । जिस दिन उस पर से दृष्टि हट जाएगी, उस दिन आत्मा विशुद्धरूप में परिणत हो कर उस पर-अव्यय के साथ अभिन्नभाव को प्राप्त हो जाएगा । उत्थितकामना नहीं रहेंगी, यह बात तो नहीं हैं । क्या समुद्र में तरंगे उत्पन्न नहीं होतीं ? क्या समुद्र में नदीस्रोत आ-आकर नहीं मिलते ? सभी कुछ होता है । परन्तु शान्तसमुद्र अपने रूप से नित्य शान्त है । समुद्र बन जाने पर रहती हुई भी तरंगे (कामनाएँ) क्षोभमूला अशान्ति का कारण नहीं बनती । कामनाएँ होंगी, तदनुसार कर्म्म भी होंगे । परन्तु समुद्र बना हुआ आत्मा कभी विचलित न होगा । यही अवस्था कामविलयनरूपा बनती हुई–"ब्राह्मी स्थितिः"–कहलाएगी । निम्नलिखित उपनिषत् श्रुतियाँ इसी गीतार्थ का स्पष्टीकरण करती हैं—

१–गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥[2]

२–स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते । स एषोऽकलोऽमृतो भवति ॥[3]

३–यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥[4]

—०—

आत्मकामनाओं को आत्मा (प्रत्यग्ब्रह्मलक्षण समुद्रस्थानीय अव्यय) के लिए छोड दो, मन को उस ओर अनुगत न होने दो, यही शान्ति का बीज है । जिस कर्म्मात्मा की उत्थित कामनाएँ उस प्रत्यगात्मा में प्रविष्ट रहती हैं, वही कर्म्मात्मा शान्ति प्राप्त कर सकता है । जो कर्म्मात्मा उन आत्म-कामनाओं को आत्मा में प्रविष्ट न रख कर मन के साथ बद्ध कर देता है, वह कामकामी बनता हुआ शान्तिपथ से वञ्चित हो जाता है । मनोयुक्त कर्म्मात्मा को तो केवल कर्म्मकामी बनना चाहिए ।

१ कठोप० २।४।१५ । २ मुण्डकोप० ३।२।७ ।
३ प्रश्नोप० ६।५ । ४ मुण्डकोप० ३।२।८ ।

कर्म्मप्रेरिका कामना अपने आप आती रहेगी, अपने आप विलीन होती रहेगी। उसकी ओर से आरुरुक्षु को सदा तटस्थ ही रहना चाहिए, यही तात्पर्य्य है।

———७———

८–"विहाय कामान् यः सर्वान्"

उत्थितकामना पर से जब दृष्टि हट जाएगी तो ऐसी अवस्था में बन्धनमूला उत्थाप्यकामना का अपने आप निर्गमन हो जाएगा। सब पूछा जाए तो आत्मकामना का सहारा ले कर, उसी के आधार पर तो मन में उत्थाप्याकांक्षा का उदय होता है। उत्थाप्याकांक्षा की कृपा से सञ्चित एवं प्रारब्ध काम भी उत्तेजित हो पड़ते हैं। परन्तु जब उत्थाप्यकामना को आत्मा के भरोसे छोड़ कर मन केवल कर्म्म का अनुगामी बन जाता है तो उस समय न आगामी कर्म्ममूलक उत्थाप्यकामना रहती, न प्रारब्ध-कामना उत्तेजित होती, न सञ्चित-कामना उत्तेज्ति होती। न उत्थितकामना का ही भान होता। इस प्रकार कामनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

भगवान् उस कर्म्मत्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा की ओर से बडे सतर्क रहते हैं। भगवान् को यह भी आशङ्का रहती है कि कहीं अर्जुन कामनापरित्याग से कर्म्मपरित्याग न समझ बैठे। सचमुच अर्जुन एकबार ऐसा समझ भी बैठेगा। जैसा कि आगे की तीसरी उपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। कामनाओं का जब आत्यन्तिक परित्याग हो गया तो कर्म्म कैसे हो सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। साथ ही में–"**विहाय कामान् यः सर्वान्**"-केवल इसी वाक्य पर निर्भर रहने से सहसा हम यह भी समझ बैठते हैं कि भगवान् सभी कामनाओं का परित्याग बतलाते हुए कर्म्मत्याग का आदेश दे रहे हैं। इसी भ्रान्ति को सम्भालते हुए अव्यवहितोत्तरकाल में ही भगवान् को–"**पुमांश्चरति निःस्पृहः**"–यह कहना पड़ा है। कामनाओं का सर्वात्मना परित्याग, परन्तु कर्म्म में प्रवृत्ति, यही तो बुद्धियोग की विलक्षणता है। यह वृत्ति कब पैदा होगी? रहती हुई भी आत्मकामना कैसे निष्कामभाव में परिणत रहेगी? **निःस्पृहः, निर्म्ममः, निरंहकारः**–यही इन प्रश्नों का समाधान है। कामना से कर्म्मफल की इच्छा होती है। कर्म्मफल की ओर मन आकुलता से झुक जाता है, यही "**स्पृहा**" है। यह बन्धन का पहला मूल है। काममूलिका इस स्पृहा से स्पृहणीयविषय के साथ ममता हो जाती है। "**यह मेरा पुत्र है, मेरा वित्त-है**"–इत्यादिरूप से विषयसंस्कारों का मन के आशय में बद्ध हो जाना ही ममता ममेदंलक्षणा ममता, किं वा महत्त्व है। मन अहंलक्षण चिदात्मा से अनुगृहीत है। फलतः यह ममता, किं वा मन के गर्भ में प्रविष्ट वह विषयसंस्कार आगे जा कर उस अहं पर भी अपना प्रभाव जमा लेता है। अहंपदार्थ (आत्मा) उस विषयाकार से आकारित हो जाता है। फलतः "**ममेदं**" लक्षणा ममता टूट जाती है, एवं–"**अहमेवेदं**" –लक्षण अहङ्कार का उदय हो जाता है। ममता में आत्मा विषय को अपने से पृथक् समझता हुआ– "**यह मेरा है**"–यह अक्षर बोलता है। परन्तु यही ममता चरम सीमा पर पहुँचती हुई–"**यह मेरा नहीं, किन्तु यह मैं ही हूँ**"–इस अहंकार का कारण बन जाती है। विषय एवं आत्मा का भेद-सम्बन्ध ममता है। **विषय एवं आत्मा का अभेद सम्बन्ध अहंकार है। विषय एवं आत्मा का भेदाभेदसम्बन्ध स्पृहा है। स्पृहा में**

विषयसंस्कार अभी मन के आशय में प्रविष्ट नहीं हुआ है। यही भेदसम्बन्ध है। साथ ही में मन दूर-स्थित विषय के साथ तन्मय हो रहा है। यही अभेदसम्बन्ध है। स्पृहागर्भित भेदसम्बन्ध ही ममता का कारण बनता है एवं स्पृहागर्भित अभेदसम्बन्ध ही अहंकार का कारण बनता है। इसलिए ममत्व एवं अहंत्व के परित्याग के लिए स्पृहा का परित्याग आवश्यक है। स्पृहा के परित्याग के लिए कामना का (उत्थाप्याकांक्षा का) परित्याग एवं उत्थित का चर्वणालक्षण परित्याग आवश्यक है। कामपरित्याग से स्पृहा हटेगी, निःस्पृह बनोगे, निःस्पृहा से ममता हटेगी, निर्म्मम बनोगे। ममता के हटने से अहंत्व हटेगा, निरहंकार बनोगे। निरहंकार से सर्वत्र आत्मबुद्धि का उदय होगा, उदरभाव जाता रहेगा, शान्तानन्द का उदय होगा। ध्यान रखिए, जहाँ समृद्धानन्द इन्द्रियसापेक्ष, क्षणिक, कषायजनक, परिणाम में दुःखहेतु, अनुभव में क्षोभमय बनता हुआ सर्वथा प्रेयस्कर है, वहाँ शान्तानन्द इन्द्रियानपेक्ष, नित्य, आवरणभंगकर्त्ता, परिणाम में शान्तिकर, क्षोभरहित बनता हुआ सर्वश्रेष्ठ है। इसी शान्ति से ब्राह्मी स्थिति का उदय होगा। इस ब्राह्मी स्थिति से निर्वाणपद प्राप्त होगा। इसी निर्वाणभाव का दिग्दर्शन कराते हुए, ब्राह्मी स्थिति पर उपनिषत् समाप्त करते हुए भगवान् कहते हैं—

——८——

९–"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"—

ब्रह्म का अपने स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहना ही–"ब्राह्मी स्थिति"–है। कर्म्मात्मा की विधेय-अकृत भेद से दो स्थितियाँ हो सकती हैं। विधेयस्थिति ब्राह्मी स्थिति का मूल है, अकृतस्थिति वैषयिकीस्थिति का मूल है। **"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया"**–इस पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार आत्मा बुद्धि पर प्रकाश डालता है। बौद्ध प्रकाश को ले कर उत्थाप्यकामना से कामी बना हुआ मन बहिर्विषयों के साथ युक्त होता है। विषयसंयोग द्वारा वासनासंस्कार का उदय होता है। वासनासंस्कार से मन मलिन हो जाता है। मन की मलिनता से बुद्धि में कलिलभाव का समावेश हो जाता है, जैसा कि–**यदा ते मोह कलिलं**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। विषयरता, अतएव मोहकलिलाबुद्धि (अविद्याबुद्धि) ही आत्मवैषम्य का कारण है। आत्मब्रह्म की इस वैषम्यभाव में स्थिति होना ही–**"वैषयिकी स्थिति"** है। **"नात्र ब्रह्म समश्नुते"**–के अनुसार विषयों में स्थित यह कर्म्मात्मा कभी उस प्रत्यग्-ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

काम-परित्याग से निःस्पृह, निःस्पृहता से निर्म्मम, निर्म्ममता से निरहंकार बनता हुआ मन संगरूप संस्कारबन्धन से असंस्पृष्ट रहता हुआ अपने प्रज्ञा-भाग से सर्वथा स्थिर बन जाता है। स्थितप्रज्ञता से बुद्धि में समत्व का उदय हो जाता है। बुद्धि के सम बनते ही कर्म्मात्मा उस सम प्रत्यग्ब्रह्म की समता में प्रतिष्ठित हो जाता है। **"निर्दोषं हि समं ब्रह्म"**-के अनुसार प्रत्यग्ब्रह्म सर्वथा सम है। समत्व ही इस ब्रह्म की वास्तविक स्थिति है। निष्काम कर्म्मात्मा का इस समब्रह्मस्थिति में प्रतिष्ठित हो जाना ही ब्राह्मी स्थिति है। अष्टम श्लोक में प्रतिपादित भावों के समाश्रय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाती है, अतएव श्लोक के अव्यवहितोत्तरकाल में ही भगवान् ने–**"एषा ब्राह्मी स्थितिः**

पार्थ"–यह कहा है। जब तक ब्राह्मी स्थिति का उदय नहीं होता, तभी तक युञ्जानयोगी को योगभ्रष्ट बनने का डर रहता है। अभ्यासद्वारा जब युञ्जानयोगी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित होता हुआ युक्तयोगी बन जाता है, सिद्धयोगी बन जाता है, कृतात्मा बन जाता है तो फिर मोह का अवसर नहीं रहता। अश्माखणरूप अचलप्रतिष्ठायुक्त ब्राह्मी स्थिति को कोई भी पाप्मा विचाली नहीं बना सकता। इस अवस्था में पहुँचे बाद–**"तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि"**–को अवसर नहीं मिलता। इसी अभिप्राय से आगे जा कर भगवान् ने–**"नैनां प्राप्य विमुह्यति"**–यह कहा है।

ब्राह्मी स्थिति से सम्बन्ध रखने वाला–**"ब्रह्म"**–क्या पदार्थ है? इस प्रश्न का यद्यपि आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होने वाला है, फिर भी प्रकरणसंगति के लिए संक्षेप से गीतासम्बन्धी ब्रह्मतत्त्व की तालिकामात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। **"ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः"**–इस गीतासिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म-पदार्थ **ओम्-तत्-सत्-भेद** से तीन भागों में विभक्त है। **ओम्** ब्रह्म को विज्ञानभाषा में–**उक्थब्रह्म** कहा जाता है। "तत्" ब्रह्म को प्रजापतिब्रह्म कहा जाता है एवं सद्ब्रह्म को विराट् कहा जाता है। तीनों क्रमश त्रिकल-चतुष्कल-त्रिकल हैं। यही दशकलसमष्टिरूप विराट्ब्रह्म है। विश्वातीत, विश्वात्मा, विश्व तीनों की समष्टि उक्थब्रह्म है। विश्वातीत अकार है, विश्वात्मा उकार है, विश्व मकार है। समष्टि ओंकार है। यही अद्वैतसंस्था है। पुरुष-षोडशी-सत्य-यज्ञ भेद से प्रजापति चार भागों विभक्त हैं। यही चतुष्कल **तद्ब्रह्म** है। **क्षुद्रविराट्-महाविराट्-अनन्तविराट्** भेद से विराट्ब्रह्म त्रिकल है। यही **सद्ब्रह्म** है। ये ही ब्रह्म के पृथक्-विभक्त तीन निर्देश हैं, जैसा कि उसी प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहां वक्तव्यांश यही है कि ब्राह्मी स्थिति का सम्बन्ध अद्वैतसंस्थासम्बन्धी उक्थब्रह्म के साथ ही है। **"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"**–**"तस्य वाचकः प्रणवः"**–**तस्योपनिषदोमिति"** **"ओमित्ये०"**–इत्यादि श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्त भी ब्राह्मी स्थिति के सम्बन्ध में ओङ्कार ब्रह्म का ही समर्थन कर रहे हैं[1]—

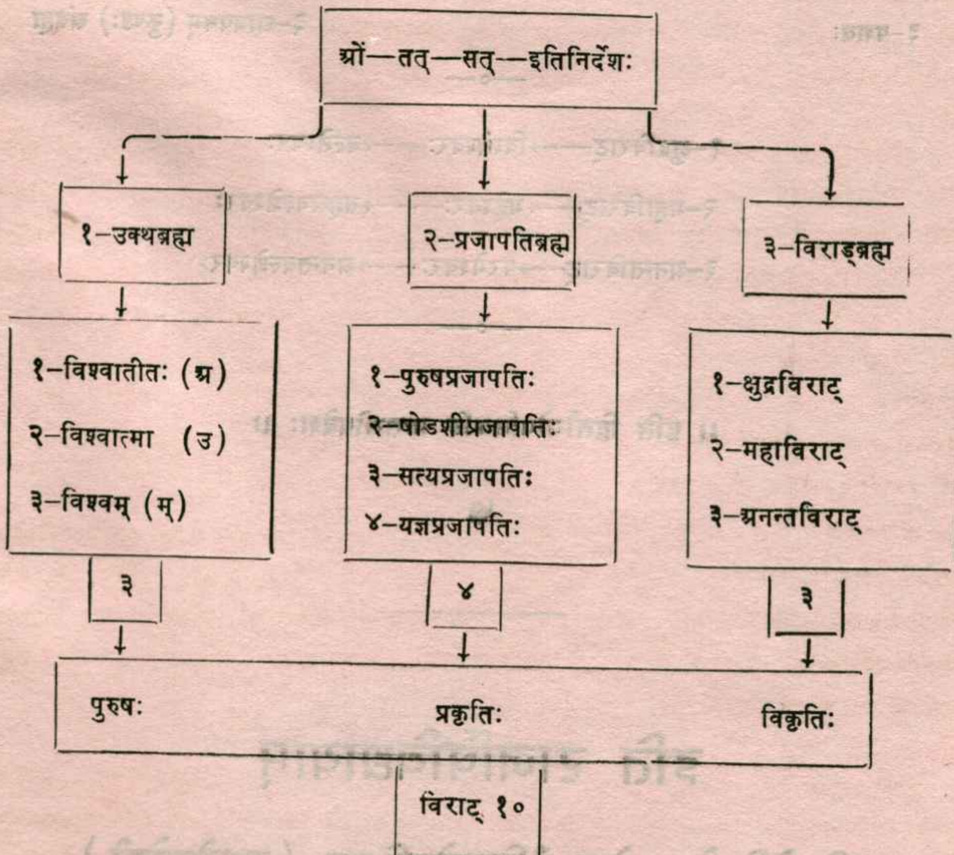
काम्यकर्म्मों की प्रवृत्ति–**"स कामभिर्जायते यत्र तत्र"**–के अनुसार कामानुसार लोकावाप्ति का कारण बनती है। परन्तु निष्कामकर्म्म के प्रभाव से ब्राह्मी-स्थिति में प्रतिष्ठित युक्तयोगी सब कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ भी कर्म्मानुसार लोक में न जा कर अन्तकाल में उसी ब्रह्मनिर्वाणभाव को प्राप्त होता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि–**"अन्ते मतिः सा गतिः"**–इस सिद्धान्त के अनुसार प्रयाणकाल में प्राणी का मन जिस कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, उसे उस कर्म्म के अनुसार ही लोक में जाना पड़ता है। परन्तु ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने वाला अन्तकाल में चाहे जैसा कर्म्म करता रहे, कर्म्मसंस्कार की अनासक्ति के कारण प्राप्त ब्राह्मी स्थिति के प्रभाव से वह अन्तमतिरूप कर्म्म भी इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। यह अन्तकाल में भी निर्वाणभावलक्षण नित्ययुक्ति को प्राप्त हो जाता है–**"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते"**। कारण, यहां ब्रह्म में कर्म्मों का

---

[1] तालिका अगले पृष्ठ सं० २६३ पर देखें।

विलयन हो रहा हैं। ब्रह्म में कर्म्मों का विलीन होना, दूसरे शब्दों में कर्म्मों का ब्रह्म (आत्म) रूप में परिणत रहना ही—"ब्रह्मनिर्वाण" है।

—६—



१–पुरुषप्रजापतिः-त्रिकलः

१–विद्यात्मा

२–कामात्मा

३–कर्म्मात्मा

२–षोडशीप्रजापतिः-त्रिकलः

१–अव्ययः

२–अक्षरः

३–आत्मक्षरः

—•—

३–सत्यप्रजापतिः–त्रिकलः

१–आत्मा

२–प्राणाः

३–पशवः

४–यज्ञप्रजापतिः–त्रिकलः

१–अन्नम् (आहुतिः) रब्रह्म

२–अन्नादः (योनिः) कंब्रह्म

३–आवपनम् (कुण्डः) खंब्रह्म

—०—

१–क्षुद्रविराट्——→विश्वेश्वरः——→बलेशेश्वरः

२–महाविराट्——→महेश्वरः——→सहस्रबलेशेश्वरः

३–अनन्तविराट्——→परमेश्वरः——→अनन्तबलेशेश्वरः

—०—

॥ इति द्वितीयोपनिषदि सप्तमोपदेशः ॥

७

इति राजर्षिविद्यायाम्

बुद्धियोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत् (सप्तोपदेशी)

समाप्ता

२